

## ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन (द्रव्यविशेष-प्रज्ञापन)

प्रवचनसार गाथा १२७

अब, द्रव्यविशेष का प्रज्ञापन करते हैं (अर्थात् द्रव्य विशेषों को ह द्रव्य के भेदों को बतलाते हैं)। उसमें (प्रथम), द्रव्य के जीव-अजीवपनेरूप विशेष को निश्चित करते हैं, अर्थात् द्रव्य के जीव और अजीव-ऐसे दो भेद बतलाते हैं।

द्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।

पोगलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं ॥१२७॥

( हरिगीत )

द्रव्य जीव अजीव हैं जिय चेतना उपयोगमय।

पुद्गलादी अचेतन हैं अतःएव अजीव हैं ॥१२७॥

अन्वयार्थः ह [ द्रव्यं ] द्रव्य [ जीवः अजीवः ] जीव और अजीव है। [ पुनः ] उसमें [ चेतनोपयोगमयः ] चेतनामय तथा उपयोगमय सो [ जीवः ] जीव है, [ च ] और [ पुद्गलद्रव्यप्रमुखः अचेतनः ] पुद्गल-द्रव्यादिक अचेतन द्रव्य के [ अजीवः भवति ] अजीव हैं।

टीका : ह यहाँ ( इस विश्व में ) द्रव्य, एकत्व के कारणभूत द्रव्यत्वसामान्य को छोड़े बिना ही, उसमें रहे हुए विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण एक-दूसरे से पृथक् किये जाने पर जीवत्वरूप और अजीवत्वरूप विशेष को प्राप्त होता है। उसमें जीव का आत्मद्रव्य ही एक भेद है; और अजीव के पुद्गल द्रव्य; धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य ह यह पाँच भेद हैं। जीव का विशेष लक्षण चेतना-उपयोगमयत्व (चेतनामयपना और उपयोगमयपना) है; और अजीव का, (विशेष लक्षण) अचेतनपना है। वहाँ (जीव के) स्वधर्मों में व्यापने वाली होने से (जीव के) स्वरूप रूप से प्रकाशित होती हुई अविनाशिनी;

भगवती, संवेदनरूप चेतना के द्वारा तथा चेतनापरिणाम लक्षण, 'द्रव्यपरिणतिरूप उपयोग के द्वारा जिसमें निष्पन्नपना (रचनारूपपना) अवतरित प्रतिभासित होता है, वह जीव है और जिसमें उपयोग के साथ रहनेवाली यथोक्त लक्षणवाली चेतना का अभाव होने से बाहर तथा भीतर अचेतनपना अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है।

**भावार्थ :** ह्य द्रव्यत्वरूप सामान्य की अपेक्षा से द्रव्यों में एकत्व है तथापि विशेष लक्षणों की अपेक्षा से उनके जीव और अजीव ऐसे दो भेद हैं। जो (द्रव्य) भगवती चेतना के द्वारा और चेतना के परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा रचित है वह जीव है, और जो (द्रव्य) चेतनारहित होने से अचेतन है वह अजीव है। जीव का एक ही भेद है; अजीव के पाँच भेद हैं। इन सबका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

### गाथा १२७ पर प्रवचन

अब, द्रव्य विशेष का प्रज्ञापन करते हैं। द्रव्य विशेष अर्थात् द्रव्य के भेद बतलाते हैं। सर्वज्ञ भगवान द्वारा अपने केवलज्ञान में जाने हुए और दिव्यध्वनि में प्रतिपादित किए हुए छह द्रव्यों का वास्तविक स्वरूप कहते हैं। उनमें सर्वप्रथम द्रव्यों के दो भेद ह्य जीव और अजीव कहते हैं। इस जगत में न तो अकेला जीव ही है और न अकेला अजीव ही; अपितु जीव और अजीव दोनों हैं।

आगामी गाथाओं में दो-दो भेद करके अथवा द्वैत से वस्तु का स्वरूप कहेंगे। द्रव्य अपेक्षा से तो सभी द्रव्य हैं; परन्तु उनके लक्षण से द्रव्य दो प्रकार के हैं।

'द्रव्य जीव और अजीव हैं। उनमें चेतनामय तथा उपयोगमय जीव है और पुद्गलादिक अचेतन द्रव्य अजीव हैं।'

१. चेतना का परिणामस्वरूप उपयोग जीवद्रव्य की परिणति है।

२. यथोक्त लक्षणवाली ऊपर कहे अनुसार लक्षणवाली (चेतना का लक्षण ऊपर ही कहने में आया है।)

आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है और वह उपयोगमय है। आत्मा विकारमय है ह्य ऐसा यहाँ नहीं कहा है। पुद्गलादि पाँच पदार्थ अचेतन हैं।

इस जगत में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्य ऐसे छह द्रव्य हैं। वे नित्य हैं। जो नित्य होता है, वह किसी का किया हुआ नहीं होता और जो किसी का किया हुआ हो, वह नित्य नहीं हो सकता। कोई कहता है कि यह सृष्टि किसी ने बनाई है। क्योंकि सृष्टि तो पर्याय है और पर्याय तो उत्पन्न की जाती है न?

उसका समाधान यह है कि भाई! परन्तु वह पर से उत्पन्न नहीं की जाती, अपितु स्वयं से ही उत्पन्न की जाती है। और द्रव्य उत्पन्न नहीं होते, वे तो अनादि-अनंत हैं।

द्रव्यों को द्रव्यरूप से देखने पर उनमें भेद नहीं पड़ता। द्रव्यपना सबमें एकसा होने पर भी प्रत्येक द्रव्य विशेष लक्षण के अस्तित्व के कारण भेद पड़ता है। 'द्रव्य' ह्य इतना ही कहने से जीव-अजीव भिन्न नहीं पड़ते; परन्तु विशेष लक्षण से भिन्न पड़ते हैं। इसकारण जीव और अजीव ऐसे दो भेद पड़ते हैं।

जीव का आत्मद्रव्य का एक ही भेद है। जीव का लक्षण चेतना उपयोगमय है और सम्पूर्ण लोक में जीव अनंत हैं। अजीव के पाँच भेद ह्य पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य हैं।

जीव का विशेष लक्षण चेतनामयपना और उपयोगमयपना है। जीव का स्वभाव समस्त ज्ञेयों को एकसमय में जानने का है। एक ज्ञेय को जानने का अस्वीकार करने से ज्ञान-स्वभाव का अस्वीकार होता है; और तब तो चेतना उपयोग ही सिद्ध नहीं होता।

- चेतना जीव के अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनंत धर्मों में व्यापक है, इसलिए जीव के स्वरूप को प्रकाशित करती है।
- चेतना का कभी नाश नहीं होता। जीव की कोई भी अवस्था हो; भले ही निगोद की अवस्था हो तो भी वहाँ भी चेतना अविनाशिनी है।
- चेतना महिमावान है, अन्य कोई पदार्थ महिमावान नहीं है।

- चेतना संवेदनरूप है, इसलिए अनुभव में आनेयोग्य है।
- चेतना का परिणामस्वरूप उपयोग जीवद्रव्य की परिणति है।  
उपरोक्त लक्षणवाली चेतना द्वारा तथा उपयोग द्वारा जो द्रव्य रचित है, वह जीवद्रव्य है। जीवद्रव्य में देखो तो चेतना भरी पड़ी है और पर्याय में देखो तो चेतना का उपयोग ही बसता है। चेतना जीवद्रव्य के प्रत्येक गुण और प्रत्येक पर्याय से बस रही है। ह्व उसको जीवद्रव्य कहते हैं। शरीर, वाणी अथवा अन्य जड़द्रव्यों में ऐसा चेतनपन भासित नहीं होता है। अजीव के गुण भी अचेतन हैं और पर्याय भी अचेतन है। अजीवद्रव्य बाह्य-अभ्यंतर अजीवरूप से ही बसा है। शरीर, वाणी, इन्द्रियाँ आदि सब अचेतनरूप से ही भरी है; इसलिए वे पदार्थ अजीव हैं।  
एकांत मत वालों अर्थात् एकांत अद्वैतवादी अथवा आत्मा को एकांत नित्य या अनित्य माननेवालों के साथ वस्तुस्वरूप का मेल नहीं खा सकता। 'ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या' अथवा 'सब होकर एक आत्मा ही है' ह्व ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है।
- 'जीव है' ह्व ऐसा कहते ही अन्य अजीव पदार्थ है ह्व यह सिद्ध होता है। 'तू है' ह्व ऐसा कहते ही तेरे अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं ह्व यह सिद्ध होता है। तू समझा नहीं है और समझना चाहता है; तो तुझेको समझानेवाला अन्य जीव भी सिद्ध होता है। इसलिए सब होकर अद्वैत नहीं है तथा जीवों में भी सब होकर एक जीव नहीं है।
- जिसमें चेतना है वह जीव है, तो जिसमें चेतना का अभाव है वह अजीव है। सामान्य अपेक्षा से सभी द्रव्य है और विशेष अपेक्षा से जीव और अजीव हैं। तथा जीवों में तू तेरे जीवरूप हैं; किन्तु अन्य जीवरूप या अजीवरूप नहीं है। यदि सभी होकर एक जीव होवे तो एक जीव के विकार करने पर दूसरे को भी उतना ही विकार करना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए प्रत्येक जीव स्वतंत्र है।
- तू समझना चाहता है ह्व इससे निश्चित होता है कि तू समझा नहीं है; तुझे ऐसा ज्ञान भी हुआ, इसलिए तू जीव है। तथा तेरी नासमझरूप

- अज्ञान तेरी वर्तमानदशा में अस्तित्व धराता है। इससे यह बात मिथ्या सिद्ध होती है कि वर्तमान अज्ञान, राग-द्वेष सर्वथा भ्रम है। पर्याय अपेक्षा से संसारदशा सत् है।
- तू संसारदशा में अज्ञान में हैं; तो उस दशा के समय अपने अज्ञान के कारण पर में सुख-दुःख की कल्पना करता होगा, क्योंकि तुझेको स्व का भान तो है नहीं। इससे परपदार्थ, कर्म आदि वस्तुएँ भी सिद्ध होती है; जिनके लक्ष्य से तू राग-द्वेष करता है।
  - तू अभी समझा नहीं है; परन्तु बाद में (आगामी काल में) समझ सकेगा ह्व ऐसा तुझे लगता है; इसलिए तू यहाँ समझने आया है। इसकारण यह सिद्ध होता है कि तेरी अवस्था में परिवर्तन होता है।
  - अब असमझ में से समझ हो सकती है ह्व ऐसा निश्चित किया; परन्तु कर्म अथवा परपदार्थ हटें तो समझ हो ह्व ऐसी मान्यता हो तो तुझे समझ कभी नहीं हो सकेगी; क्योंकि कर्म और परपदार्थ तो अनादि-अनंत रहनेवाले ही हैं।
  - तो समझ कहाँ से आएगी? बाह्य पदार्थों अथवा देव-शास्त्र-गुरु में से आएगी? नहीं; क्योंकि वे तो तुझेसे नास्तिरूप है। तब वर्तमान असमझ में से समझ आएगी? नहीं। तू शुद्धज्ञान-दर्शन का पिण्ड द्रव्य है, उस ओर लक्ष्य करने से समझरूप (ज्ञानरूप) दशा का उत्पाद होगा।
  - असमझ (अज्ञान) के समय भी तू था और अब समझ के समय भी तू का तू ही है। तेरी अवस्था में परिवर्तन हुआ है; परन्तु दोनों में कायम रहनेवाला तू तो टिका रहा है। इसलिए तेरा आत्मा ध्रुव, नित्य शुद्ध सिद्ध होता है।
  - तू द्रव्य से एक है; परन्तु असमझ और समझ की पर्याय अपेक्षा से अनेक है ह्व ऐसा निर्णय होता है।
  - तू समझता नहीं था और अब समझने लगा अर्थात् विश्वास आया; परन्तु तू उस बात को तुरंत ही आचरण में नहीं ला सकता ह्व ऐसा तुझे

लगता है; इससे द्रव्य एक होने पर भी तुझमें गुण के भेद मालूम पड़ते हैं। यदि तुझमें गुणभेद न होवे तब तो समझने के साथ ही केवलज्ञान होना चाहिए; परन्तु ऐसा होता नहीं दिखता। इसलिए श्रद्धागुण, ज्ञानगुण, चारित्रगुण, वीर्यगुण हूँ ऐसे गुणभेद से तुझमें भेद है। तेरा होनापना अर्थात् अस्तित्व; अन्यरूप नहीं होनापना अर्थात् नास्तित्व इत्यादि अनंतगुण तुझमें हैं; तथापि तू उन गुणों से सर्वथा भिन्न नहीं है; इसलिए कथंचित् गुण-गुणी भेद है।

- तू थोड़ा समझा और तुझे ज्ञान हुआ, तो अब वह ज्ञान विकास पाकर सम्पूर्ण (केवलज्ञान) हो सकता है।
- इससे निश्चित होता है कि तुझसे पूर्व भी कोई पुरुष सर्वज्ञदशा के धारक हो गये होना चाहिए और वैसी सर्वज्ञदशा की इच्छावाले साधकजीव भी सिद्ध होते हैं।
- सर्वज्ञ ने जाना है; परन्तु वह वाणी में नहीं आ सकता हूँ ऐसा तेरा कहना है; परन्तु 'वाणी में नहीं आ सकता' हूँ इतना भी वाणी में आया है। इससे निश्चित होता है कि वस्तुस्वरूप कथंचित् वाणीगोचर है।
- यदि सर्वज्ञ होने के पश्चात् सभी तुरंत ही सिद्ध हो जाते हों तो वस्तुस्वरूप किसकी वाणी से जाना जा सकेगा? क्योंकि वीतराग-सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई परिपूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए वाणी का योग वाले सर्वज्ञ भी सिद्ध होते हैं।
- यदि सिद्धदशा होने के बाद सभी जीव ज्योति मिल जाने की तरह एकमेक हो जाते हों, तब तो अपना अस्तित्व ही नहीं रहता। तथा स्वयं ने पुरुषार्थ करके प्रगट की हुई सिद्धदशा का/निराकुल सुख का स्वतंत्र भोग भी तेरी मान्यतानुसार नहीं रहता। इसलिए तेरी यह बात भी मिथ्या है। वहाँ भी सभी सिद्धजीव प्रथक् हैं और अपने सुख का स्वतंत्र भोग कर रहे हैं।

इसप्रकार की वस्तुस्थिति है और सर्वज्ञ के ज्ञान तथा वाणी में भी ऐसा ही आया है। इसकारण वस्तुस्वरूप से अन्यथा एकांत मान्यतावाले जीव का वस्तुस्वरूप से मेल नहीं हो सकता।

(आशय यह है कि द्रव्यपनेरूप सामान्य की अपेक्षा से द्रव्यों में एकपना होने पर भी, विशेष लक्षणों की अपेक्षा से द्रव्यों के जीव और अजीव हूँ ऐसे दो भेद हैं। जो द्रव्य महिमावंत चेतनासहित और चेतना के उपयोग सहित हैं, वे जीव हैं और जो चेतनारहित होने से अचेतन हैं, वे अजीव हैं।)

जीव का एक ही भेद है। कोई एक ही अनादि-अनंत अल्पज्ञ सदा रहे और सर्वज्ञ सदा रहे हूँ ऐसे भेद नहीं है। जीव पुरुषार्थ द्वारा पर्याय में सर्वज्ञपना प्रगट कर सकता है और पर्याय में अल्पज्ञता के समय भी, अपनी सर्वज्ञशक्ति रखकर रहता है; भगवान का भक्त होकर सदा अल्पज्ञ रहे हूँ ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। सर्वज्ञशक्ति को व्यक्त करके सर्वज्ञ हुआ जा सकता है। (इसप्रकार जीव का एक भेद है और अजीव के पाँच भेद हैं।)

इन सबका विस्तार आगे आएगा। ●

हे योगी! देह में परमात्मा का निवास होने पर भी इस देह में स्थित परमात्मा को तू क्यों नहीं देखता? उस परमात्मा के दर्शन से तेरे पूर्वोपार्जित कर्म चूर-चूर हो जायेंगे और तू निर्वाण को प्राप्त होगा। महान पुरुष मिलने आये हों और सामान्य बालक आदि के साथ बातें करने में लग जाय तो वह महापुरुष का अपमान है। उसी प्रकार तीनलोक का उत्कृष्ट तत्त्व ऐसा निज परमात्मा देह में विद्यमान होने पर भी उसे तू देखता नहीं है और पर-प्रपंच की जानकारी में पड़कर निज परमात्मा का अपमान कर रहा है।

हूँ द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-११

### प्रवचनसार गाथा १२८

अब, (द्रव्य के) लोकालोकत्वरूप विशेष (भेद) निश्चित करते हैं: ह  
 पोगलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालइढो ।  
 वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥  
 ( हरिगीत )

आकाश में जो भाग पुद्गल जीव धर्म अधर्म से ।

अर काल से समृद्ध है वह लोक शेष अलोक है ॥१२८॥

अन्वयार्थ : ह [ आकाशे ] आकाश में [ यः ] जो भाग  
 [ पुद्गलजीवनिबद्धः ] जीव और पुद्गल से संयुक्त [ धर्माधर्मास्ति-  
 कायकालाढ्यः वर्तते ] तथा धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और काल  
 से समृद्ध है, [ सः ] वह [ सर्वकाले तु ] सर्वकाल में [ लोकः ]  
 लोक है । ( शेष केवल आकाश वह अलोक है । )

टीका : ह वास्तव में द्रव्य लोकत्व और अलोकत्व के भेद से  
 विशेषवान् है, क्योंकि अपने-अपने लक्षणों का सद्भाव है । लोक का  
 स्वलक्षण षड्द्रव्यसमवायात्मकपना (छह द्रव्यों का समुदायस्वरूपपना)  
 है और अलोक का केवल आकाशात्मकपना (मात्र आकाशस्वरूपपना)  
 है । वहाँ सर्व द्रव्यों में व्याप्त होनेवाले परम महान आकाश में, जहाँ जितने  
 में गति स्थिति धर्मवाले जीव तथा पुद्गल गति-स्थिति को प्राप्त होते हैं,  
 (जहाँ जितने में) उन्हें, गति-स्थिति में निमित्तभूत धर्म तथा अधर्म व्यक्त  
 होकर रहते हैं और (जहाँ जितने में) सर्वद्रव्यों को वर्तना में निमित्तभूत  
 काल सदा वर्तता है, वह उतना आकाश तथा शेष समस्त द्रव्य-उनका  
 समुदाय जिसका स्वपने से स्वलक्षण है, वह लोक है; और जहाँ जितने  
 आकाश में जीव तथा पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती, धर्म तथा  
 अधर्म नहीं रहते और काल नहीं वर्तता, उतना केवल आकाश जिसका  
 स्वपने से स्वलक्षण है, वह अलोक है ।

१. स्वपने से-निजरूपसे (षड्द्रव्यसमुदाय ही लोक है, अर्थात् वही लोक का स्वत्व है ह  
 स्वरूप है । इसलिये लोक के स्वपने से षड्द्रव्यों का समुदाय लोक का स्वलक्षण है ।)

### गाथा १२८ पर प्रवचन

अब, क्षेत्र अपेक्षा से द्रव्य के दो भेद कहते हैं ।

लोक का लक्षण छह द्रव्यों का समुदायस्वरूपपना है । छह द्रव्यों  
 का समुदाय ही लोक है । सर्व द्रव्यों में व्यापक, परम महान आकाश के  
 जितने भाग में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल रहे उतना आकाश व  
 अन्य पाँच द्रव्य ह ऐसे छह द्रव्यों का समुदाय लोक है ।

(१-२) आकाश में सभी द्रव्य रहते हैं । उनमें गति तथा स्थिति के  
 स्वभाववाले जीव और पुद्गल हैं । यहाँ जीव और पुद्गलों का स्वभाव  
 बतलाते हैं कि उनका स्वभाव गति तथा स्थिति करने का है; परन्तु वे  
 धर्मास्तिकाय के कारण गति और अधर्मास्तिकाय के कारण स्थिति  
 करते हैं ह ऐसा नहीं है । जीव और पुद्गल कभी गति करते हैं और कभी  
 स्थिर रहते हैं ह तो ऐसा क्यों? यह प्रश्न नहीं रहता; क्योंकि यह उनका  
 स्वभाव है ।

कोई प्रश्न करे कि सिद्धजीव सर्वशक्तिमान होने पर भी अलोक में  
 क्यों नहीं जाते? अलोक में धर्मास्तिकाय न होने से ही नहीं जाते न?  
 तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है कि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण सिद्ध  
 जीव अलोक में नहीं जाते ।

उसका समाधान यह है कि भाई! लोक का द्रव्य अलोक में नहीं  
 जाए ह ऐसा उसका स्वभाव है । सिद्धजीव भी लोक का द्रव्य है; इसलिए  
 अलोक में नहीं जाने का सिद्धजीवों का अपना स्वभाव है । धर्मास्तिकाय  
 का अभाव होने से वे अलोक में नहीं जाते ह तत्त्वार्थसूत्र का यह कथन तो  
 निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है । यहाँ लोक में भी जो जीव या पुद्गल  
 स्वयं गति करते हैं, उनको धर्मास्तिकाय निमित्त है । धर्मास्तिकाय गति  
 करा नहीं देता है । भाई! प्रत्येक वस्तु को स्वभाव से देखो । निश्चय होवे  
 तो व्यवहार नाम पाता है । जहाँ उपादान हो वहाँ निमित्त होता है; परन्तु  
 निमित्त के कारण उपादान नहीं है ।

(३) जब जीव और पुद्गल अपनी योग्यता के कारण स्वयं गति करते हैं, तब धर्मास्तिकाय नामक अखण्ड अरूपी द्रव्य निमित्त होता है और वह लोकाकाश में व्याप्त है।

(४) जब जीव और पुद्गल अपनी योग्यता के कारण स्वयं स्थिति करते हैं, तब अधर्मास्तिकाय नामक अरूपी द्रव्य निमित्त होता है और वह लोकाकाश में व्याप्त है।

(५) छहों द्रव्य अपने वर्तनास्वभाव के कारण परिणमन करते हैं। उसमें कालाणु नामक अरूपी पदार्थ निमित्त होता है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु ह्व इसप्रकार असंख्य कालाणु हैं।

प्रश्न ह्व सिद्ध को भी कालद्रव्य के कारण परिणमन करना पड़ता है न? कालद्रव्य न हो तो परिणाम रुक जाएँगे या नहीं?

उत्तर ह्व सिद्ध सहित समस्त जीवों का परिणमना-पलटना ह्व ऐसा स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव होता है, क्या वह कभी छूटता होगा? यह नहीं होता तो? यह प्रश्न ही अस्थान पर है। स्वभाव में प्रश्न नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं के कारण परिणमन करता है, उसमें काल निमित्त होता है ह्व ऐसा ज्ञान कराया है। इन कथनों में पराधीन दृष्टिवाला पराधीनपना ही खोजता है और स्वभाव दृष्टिवाला स्वभाव खोजता है।

अब अलोक का लक्षण कहा जाता है।

आकाश के जितने भाग में जीव तथा पुद्गल स्वयं के कारण गति तथा स्थिति नहीं करते, धर्म-अधर्म द्रव्य स्वयं के कारण नहीं हैं और जहाँ कालाणु नहीं है; उतना केवल आकाश जिसका स्वलक्षण है उसको अलोक कहते हैं। अलोक में लोकाकाश के अतिरिक्त अवशेष आकाश मात्र है, अन्य कोई द्रव्य नहीं है। इसप्रकार अलोक का स्वरूप कहा गया।

लोक मर्यादित है और अलोक अमर्यादित है। इस प्रकार ज्ञेय जैसे हैं वैसे न जाने तो ज्ञान विपरीत होता है और जिसका ज्ञान विपरीत होता है, उसको धर्म नहीं होता। इस जगत में एक ही ब्रह्म है, अन्य कोई वस्तु है ही नहीं ह्व ऐसा मानने से अपना ज्ञान विपरीत होता है। ज्ञान की विशालता के लिए ज्ञेयों के विशेष जैसे हैं वैसे समझना चाहिए। ●

## प्रवचनसार गाथा १२९

अब, 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप ऐसे जो द्रव्य के भाव हैं उनकी अपेक्षा से द्रव्य का विशेष (भेद) निश्चित करते हैं :ह

उत्पादद्विदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।

परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो ॥१२९॥

( हरिगीत )

जीव अर पुद्गलमयी इस लोक में परिणमन से ।

भेद से संघात से उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव हों ॥१२९॥

अन्वयार्थ :ह्व [ पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य ] पुद्गल-जीवात्मक लोक के [ परिणामात् ] परिणमन से और [ संघातात् वा भेदात् ] संघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से [ उत्पादस्थितिभंगाः ] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [ जायन्ते ] होते हैं।

टीका :ह्व कोई द्रव्य 'भाव' तथा 'क्रिया वाले' होने से और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होने से, ह्व इस अपेक्षा से द्रव्य का विशेष भेद है। वहाँ पुद्गल तथा जीव (१) भाववाले तथा (२) क्रियावाले हैं, क्योंकि (१) परिणाम द्वारा तथा (२) संघात और भेद के द्वारा वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। शेष द्रव्य तो भाववाले ही हैं, क्योंकि वे परिणाम के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं ह्व ऐसा निश्चय है।

उसमें, 'भाव' का लक्षण परिणाममात्र है; 'क्रिया' का लक्षण परिस्पंद (कम्पन) है। वहाँ समस्त ही द्रव्य भाववाले हैं, क्योंकि परिणामस्वभाववाले होने से परिणाम के द्वारा 'अन्वय और व्यतिरेकों को प्राप्त होते हुए वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। पुद्गल तो (भाववाले होने के अतिरिक्त) क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि

१. अन्वय, स्थायीपने को और व्यतिरेक, उत्पाद तथा व्ययपने को बतलाते हैं।

परिस्पंदस्वभाववाले होने से परिस्पंद के द्वारा पृथक् पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं इसलिये, और एकत्रित हूँ मिले हुए पुद्गल पुनः पृथक् हो जाते हैं, इसलिये (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। तथा जीव भी (भाववाले होने के अतिरिक्त) क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्दस्वभाववाले होने से परिस्पंद के द्वारा नवीन कर्म हनोकर्मरूप पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होने से और 'कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकत्रित हुए जीव बाद में पृथक् होने के (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं।

### गाथा १२९ पर प्रवचन

अब 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप ऐसे जो द्रव्य के भाव हैं उनकी अपेक्षा से द्रव्य का विशेष (-भेद) निश्चित करते हैं।

कोई द्रव्य भाव तथा क्रियावाले होने से और कोई द्रव्य केवल भाववाले होने से हूँ इस अपेक्षा से द्रव्यों के दो भेद हैं। वहाँ पुद्गल तथा जीव भाववाले तथा क्रियावाले हैं; क्योंकि हूँ

(१) पलटन (परिवर्तन) द्वारा तथा

(२) प्रथक् होना और इकट्ठा होना हूँ इस द्वारा वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं।

अवशेष धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य मात्र परिणामनरूप क्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नाश होते हैं। हूँ ऐसा निश्चित है।

वहाँ भाव का लक्षण परिवर्तन इतना मात्र ही है और क्रिया का लक्षण इकट्ठा होना व प्रथक् होना है।

सभी द्रव्य भाववाले हैं। क्योंकि सबका स्वभाव पलटना (परिणमन) है। ऐसे पलटने के स्वभाव के परिणाम के कारण अन्वय और व्यतिरेकों

१. पृथक् पुद्गल कंपन के द्वारा एकत्रित होते हैं। वहाँ वे भिन्नपने से नष्ट हुए, पुद्गलपने से टिके और एकत्रपने से उत्पन्न हुए।
२. ज्ञानावरणादि कर्मरूप और शरीरादि नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ मिला हुआ जीव कंपन से पुनः पृथक् हो जाता है। वहाँ (उन पुद्गलों के साथ) एकत्ररूप से वह नष्ट हुआ, जीवरूप से स्थिर हुआ और (उनसे) पृथक् रूप से उत्पन्न हुआ।

को पाते हुए वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। अन्वय ध्रौव्यपना और व्यतिरेक उत्पाद-व्ययपने को बताता है।

यदि कोई जीव कहे कि चैत्यालय के कारण शुभभाव हुआ, नरक की भूमि के कारण दुःख हुआ, भोगभूमि के कारण जुगलियों को व्रत के परिणाम नहीं होते, आत्मा के कारण शरीर गमन करता है, शरीर की क्रिया से धर्म होता है हूँ तो ऐसी मान्यतावाला जीव अज्ञानी है। क्योंकि वास्तव में जीव अपने परिणामस्वभाव के कारण शुभ-अशुभरूप परिणामित होता है; परन्तु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव के कारण परिणामों का परिवर्तन मानना अज्ञान है। सभी द्रव्य भाववाले हैं; इसलिए यह द्रव्य था तो आत्मा का भाव हुआ हूँ यह प्रश्न ही नहीं रहता। यहाँ प्रत्येक समय के परिणाम की बात है, दो समय के परिणाम की बात ही नहीं है।

जीव है, इसलिए लकड़ी ऊपर होती है, पेट्रोल नहीं होने से मोटर रुक गई, भगवान के कारण हिरण-सिंह शान्त हो जाते हैं, पंचमकाल के कारण केवलज्ञान नहीं होता, प्रातः-सायं अमुक समय के कारण सामायिक का भाव होता है हूँ ये सब पराधीन भाव अज्ञानदशा को सूचित करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामस्वभाव के कारण उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप होता है। यदि अन्य से इसका भाव हो तो इस वस्तु का भाव, जो कि इसका स्वभाव है, वह कहाँ जाएगा? इसलिए प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव के कारण परिणामित हो रहा है हूँ ज्ञेय का ऐसा स्वभाव नक्की करना चाहिए।

जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य क्रियावाले हैं।

पुद्गलद्रव्य परिणाम स्वभाव के उपरांत क्षेत्रांतर होने की क्रियावाले हैं। उनके क्षेत्रांतर होने की योग्यता के कारण प्रथक् परमाणु इकट्ठे होते हैं और इकट्ठे परमाणु प्रथक् होते हैं। इसप्रकार प्रथक् होते होने से और इकट्ठे मिलते होने से पुद्गलद्रव्य उत्पन्न होता है, टिकता है और विनष्ट होता है।

पहले लड्डू के परमाणु आटारूप प्रथक् थे, फिर लड्डूरूप से इकट्ठे हुए

और फिर खाते समय प्रथक् हो गये। यह प्रथक्ता या इकट्ठापन परमाणु की क्रियावतीशक्ति के कारण होता है, जीव के कारण नहीं। पहले परमाणु प्रथक् थे, बाद में कर्मरूप-स्कंधरूप हुए और फिर प्रथक् हो गये। यह प्रथक्ता-इकट्ठापन क्रियावतीशक्ति के कारण होता है, जीव के कारण नहीं।

इसप्रकार प्रथक् होना, इकट्ठा होना, टिकना हुआ ही करता है वह ऐसी क्रियावतीशक्ति पुद्गल में विद्यमान है और उस कारण क्षेत्रांतर होना हुआ ही करता है। परन्तु अज्ञानी जीव पुद्गल के इस स्वभाव को न देखकर, संयोग को देखता है और मानता है कि अमुक निमित्त था तो यह क्रिया हुई है।

आत्मा के भाव के कारण जड़कर्म बँधा और शुद्धभाव के कारण कर्म का अभाव हुआ वह ऐसा नहीं है। जड़कर्म उसके परिणामस्वभाव के कारण बँधता या छूटता है, आत्मा के कारण नहीं। चाकू से सब्जी के टुकड़े हुए, तो वास्तव में वे चाकू से नहीं, अपितु सब्जी की क्रियावती शक्ति के कारण से हुए हैं।

आत्मा के कारण शरीर में कंपन नहीं होता; अपितु पुद्गल की कंपन शक्ति के कारण होता है। पुस्तक का ऊपर-नीचे होना आत्मा की इच्छा के कारण अथवा हाथ के कारण नहीं होता; अपितु पुस्तक के कंपन स्वभाव के कारण वह ऊपर-नीचे होते हैं।

यहाँ कंपन का अर्थ क्षेत्रांतर समझना चाहिए।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि 'एक तिनके के दो टुकड़े करने की हमारी ताकत नहीं है।' यहाँ पुद्गल का स्वभाव बतलाकर यह बतलाना है कि जीव पर में कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। इसप्रकार सबका स्वतंत्र स्वभाव बतलाना है।

जीव का प्रतिसमय परिणमन स्वभाव तो है ही, तदुपरांत जीव में क्रियावतीशक्ति भी है। अपने कंपन स्वभाव के कारण वह उत्पन्न होता है, टिकता है और बदलता है। ज्ञानावरणादि कर्मरूप और शरीरादि

नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप हुआ जीव कंपन द्वारा वापस भिन्न पड़ जाता है। वहाँ उन पुद्गलों के साथ एकत्रितपना नष्ट हुआ, जीवरूप से टिका रहा और उनसे प्रथक् पड़नेरूप उत्पन्न हुआ।

कर्म का अभाव होने से जीव छूट गया और कर्म बंधने से बँध गया वह ऐसा नहीं है। जीव अपने में क्षेत्रांतर होने की योग्यता से क्षेत्रांतर करता है, तब कर्म उनकी क्रियावती शक्ति के कारण भिन्न पड़ते हैं; इसलिए कर्म से प्रथक्पने उत्पन्न हुआ कहलाता है। इसी तरह कर्म उनकी क्रियावतीशक्ति के कारण एकक्षेत्रावगाह बंधनरूप होते हैं और जीव स्वयं के कारण से वहाँ होता है; इसलिए कर्मों से एकत्रित कहा जाता है।

शरीर के संकुचित/कृश होने से आत्मा संकुचित होता दिखता है और शरीर स्थूल होने से आत्मा स्थूलरूप दिखता है। दोनों में स्थूल अथवा सूक्ष्मरूप होकर क्षेत्रांतर होना, एक-दूसरे के आधीन नहीं है; अपितु शरीर शरीर के कारण संकोच-विस्तार होकर क्षेत्रांतर करता है (और आत्मा आत्मा के कारण।) चौदहवें गुणस्थान में योग कंपन नहीं होने पर भी आत्मा को प्रथक् पड़नेरूप परिस्पंद है और कर्म उनके कारण से प्रथक् पड़ जाते हैं।

शरीर और आत्मा की क्रियावती शक्ति को भलीभाँति ज्ञान में लेने से इस विपरीत मान्यता का अभाव हो जाता है कि एक पदार्थ दूसरे के कारण चलता है अथवा जीव नहीं होने से मुर्दा नहीं चलता। वस्तुतः दोनों द्रव्य क्रियावतीशक्ति की गमनरूप अथवा स्थिररूप रहने की योग्यता स्वयं के कारण ही धारण करते हैं। ज्ञेयों का ऐसा स्वतंत्र स्वभाव है। ज्ञेय का ऐसा यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान का कारण है। परिणमनशक्ति और क्रियावतीशक्ति ज्ञेयों का स्वभाव ही है वह ऐसा निर्णय करने से अनादिकाल से परपदार्थों को हिलाने-चलाने-परिणमन कराने और परपदार्थ हो तो अपने में परिणाम हो वह इत्यादि विपरीत मान्यताएँ नष्ट हो जाती हैं और इस सच्चे ज्ञान से अपने धर्मदशा उत्पन्न होती है। ●



### प्रवचनसार गाथा १३०

अब, यह बतलाते हैं कि ह्र गुण विशेष से (गुणों के भेद से) द्रव्य विशेष (द्रव्यों का भेद) होता है :ह्र

लिंगेहिं जेहिं द्रव्यं जीवमजीवं च ह्रवदि विण्णादं ।

तेऽतद्भावविसिद्धा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥१३०॥

( हरिगीत )

जिन चिह्नों से द्रव्य ज्ञात हों रे जीव और अजीव में ।

वे मूर्त और अमूर्त गुण हैं अतद्भावी द्रव्य से ॥१३०॥

अन्वयार्थ :ह्र [ यैः लिंगैः ] जिन लिंगों से [ द्रव्यं ] द्रव्य [ जीवः अजीवः च ] जीव और अजीव के रूप में [ विज्ञातं भवति ] ज्ञात होता है, [ ते ] वे [ अतद्भावविशिष्टाः ] अतद्भाव विशिष्ट (द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा भिन्न ऐसे) [ मूर्तामूर्ताः ] मूर्त-अमूर्त [ गुणाः ] गुण [ ज्ञेयाः ] जानने चाहिये ।

टीका :ह्र द्रव्य का आश्रय लेकर और पर के आश्रय के बिना प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य 'लिंगित' (प्राप्त) होता है ह्र पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण हैं । वे (गुण), 'जो द्रव्य हैं वे गुण नहीं हैं, जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं हैं' ह्र इस अपेक्षा से द्रव्य से 'अतद्भाव के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) वर्तते हुए, लिंग और 'लिंगी के रूप में प्रसिद्धि (ख्याति) के समय द्रव्य के लिंगत्व को प्राप्त होते हैं । अब, वे द्रव्य में 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा विशेष (भेद) उत्पन्न करते हैं, क्योंकि स्वयं भी 'अतद्भाव के द्वारा विशिष्ट होने से विशेष को प्राप्त हैं । जिस-जिस द्रव्य का जो-जो स्वभाव हो उस-उसका उस-उसके द्वारा विशिष्टत्व होने से उनमें विशेष

(भेद) हैं; और इसीलिये मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यों का मूर्तत्व-अमूर्तत्वरूप तद्भाव के द्वारा विशिष्टत्व होने से उनमें इसप्रकार के भेद निश्चित करना चाहिये कि 'यह मूर्त गुण हैं और यह अमूर्तगुण हैं ।

### गाथा १३० पर प्रवचन

जिन लिंगों से द्रव्य जीव और अजीव के रूप से ज्ञात होता है, वे अतद्भाव विशिष्ट (द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा भिन्न ऐसे) मूर्त-अमूर्त गुण जानने चाहिए । लिंग अर्थात् गुण, चिह्न ह्र एक ही अर्थ है ।

गुण अपने द्रव्य का आश्रय करते हैं, पर का आश्रय नहीं करते । आत्मा के गुण आत्मा का और पुद्गल के गुण पुद्गल का आश्रय करते हैं । पुद्गल के गुण आत्मा का आश्रय किये बिना रहते हैं और आत्मा के गुण पुद्गल का आश्रय किये बिना रहते हैं । जिनसे द्रव्य पहचाना जा सके ह्र ऐसे लिंग वह गुण है ।

द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण हैं वह द्रव्य नहीं है । यद्यपि द्रव्य और गुणों के प्रदेशभेद नहीं है; तथापि संज्ञा, संख्या, लक्षणभेद से भेद है ।

१. दोनों का नाम अलग है ह्र एक का नाम द्रव्य है, दूसरे का नाम गुण है । इससे संज्ञाभेद से भेद है ।
२. द्रव्य संख्या से एक है और गुण संख्या से अनेक हैं । इससे संख्याभेद से भेद है ।
३. द्रव्य सामान्य है, गुण विशेष है ।
  - द्रव्य आश्रय देनेवाला है और गुण आश्रय लेनेवाले हैं ।
  - द्रव्य में गुण हो सकते हैं; परन्तु एक ही गुण में द्रव्य नहीं हो सकता ।
  - द्रव्य अनंत गुणों का पिण्ड है, गुण में एक गुण है ।

इससे लक्षण भेद से भेद है । इसप्रकार द्रव्य और गुण के अतद्भाव-कथंचित् उसरूप नहीं होनापना है, इसकारण कथंचित् प्रथक् वर्तते हैं । इससे गुण, वह लिंग

१. अतद्भाव = (कथंचित्) उसरूप नहीं होना वह;

२. लिंगी = लिंगवाला, (विशेषगुण वह लिंग चिह्न ह्र लक्षण है और लिंगी वह द्रव्य है)

३. तद्भाव = उसरूप, उसपना; उसपने से होना; स्वरूप ।

४. विशिष्ट = विशेषतावाला; खास; भिन्न ।

अर्थात् चिह्न है और द्रव्य लिंगी अर्थात् लक्षण से (चिह्न से) पहिचानने योग्य है। इसलिए गुण द्रव्य का लक्षण है।

गुण 'यह जीवद्रव्य है' और 'यह अजीव द्रव्य है' ह द्रव्यों में ऐसा भेद उत्पन्न करते हैं। कारण कि गुण स्वपने होने से/विशेषतावाले होने से विशेष को प्राप्त है। जैसे कि चेतनापना, यह जीवद्रव्य की विशेषता है और अचेतनपना, यह अजीवद्रव्य की विशेषता है। जिससे चेतन और अचेतन द्रव्यों का भेद पड़ता है। दोनों की प्रथक्ता ज्ञात होती है। उसीप्रकार मूर्तद्रव्य अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि वाले पुद्गलद्रव्य है और अमूर्तद्रव्य जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं। मूर्त द्रव्य में मूर्त गुण है और अमूर्तद्रव्यों में अमूर्तत्व/अरूपीपना है। उन गुणों में रूपीपना और अरूपीपना ह ऐसी विशेषता होने से, भिन्नता होने से, पुद्गलद्रव्य में रूपीपना है और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल में अरूपीपना है ह ऐसा निर्णय करना ज्ञान की निर्मलता का कारण है। ●

हे भव्य! तू शरीर को न देख! राग को न देख! एक समय की पर्याय को न देख! तेरे पास तो अपना पूर्णानन्द प्रभु विद्यमान है उसे देख! अरे भगवान! तेरा पूर्णानन्द स्वरूप समीप ही होने पर वह दूर कैसे रह सकता है? इसप्रकार दिग्म्बर संतों की वाणी गर्जना करती-चमकती हुई आ रही है कि तेरे समीप ही तेरा प्रभु विद्यमान है, उसे तू आज ही देख! आज ही स्वीकार करके हाँ कह! हाँ कहते ही हालत बदल जाय ह ऐसा तू पूर्णानन्द का स्वामी है।

ह द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१४

### प्रवचनसार गाथा १३१

अब, मूर्त और अमूर्त गुणों के लक्षण तथा संबंध (अर्थात् उनका किन द्रव्यों के साथ संबंध है यह) कहते हैं :ह

मुत्ता इन्द्रियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।

दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥१३१॥

( हरिगीत )

इन्द्रियों से ग्राह्य बहुविधि मूर्त गुण पुद्गलमयी।

अमूर्त हैं जो द्रव्य उनके गुण अमूर्तिक जानना ॥१३१॥

अन्वयार्थ :ह [ इन्द्रियग्राह्याः मूर्ताः ] इन्द्रियग्राह्य ऐसे मूर्तगुण [ पुद्गलद्रव्यात्मकाः ] पुद्गलद्रव्यात्मक [ अनेकविधाः ] अनेक प्रकार के हैं; [ अमूर्तानां द्रव्याणां ] अमूर्त द्रव्यों के [ गुणाः ] गुण [ अमूर्ताः ज्ञातव्याः ] अमूर्त जानना चाहिये।

टीका :ह मूर्त गुणों का लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व है; और अमूर्तगुणों का उससे विपरीत है; (अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते।) और मूर्त गुण पुद्गलद्रव्य के हैं, क्योंकि वही (पुद्गल ही) एक मूर्त है; और अमूर्त गुण शेष द्रव्यों के हैं, क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अमूर्त हैं।

### गाथा १३१ पर प्रवचन

अब, मूर्त तथा अमूर्त गुणों के लक्षण तथा सम्बन्ध अर्थात् उनका किन द्रव्यों के साथ संबंध है ह यह कहते हैं।

इन्द्रियग्राह्य ऐसे मूर्तगुण पुद्गल द्रव्यात्मक अनेक प्रकार के हैं; अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानना चाहिए।

मूर्त गुणों का लक्षण इन्द्रियों से ज्ञात होता है; जैसे कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि पाँच इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं; इसलिए वे मूर्तगुण हैं अथवा रूपी हैं।

अमूर्तगुण इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते, अपितु आत्मा से ज्ञात होते हैं।

जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है वह ऐसा अरूपीपना इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता।

मूर्तगुण पुद्गल द्रव्य के हैं; क्योंकि एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्त है और अमूर्तगुण अन्य पाँच द्रव्यों अर्थात् जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के हैं; क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त अन्य पाँच द्रव्य अमूर्त हैं।

इसप्रकार आत्मा में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है वह ऐसे ही अन्य चार द्रव्यों में भी नहीं है। इसप्रकार ज्ञेयों को मूर्त-अमूर्त के भेद से यथार्थ जानना ज्ञान की विशेषता का कारण है।

### ज्ञान तो ज्ञाता ही है

भाई! तू ज्ञायक ही है ऐसा निर्णय ला! ज्ञायक ही है परन्तु उस ज्ञायक का निर्णय करना है। पुरुषार्थ करूँ... करूँ परन्तु वह पुरुषार्थ तो द्रव्य में भरा है, तो उस द्रव्य पर लक्ष जाये वहाँ पुरुषार्थ प्रगट होता है, परन्तु उसे करूँ ...करूँ... करके कुछ नवीन कार्य करना है। किन्तु जब द्रव्य पर दृष्टि जाती है तब सब जैसा है वैसा जानता है। पर का तो कुछ बदलना नहीं है और स्व का भी कुछ फेरफार नहीं करना है। स्व का निर्णय करने पर दिशा ही पलट जाती है। वास्तव में तो जो परोक्षज्ञान है, वह भी ज्ञाता ही है।

हृदयद्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२०

### प्रवचनसार गाथा १३२

अब, मूर्त पुद्गल द्रव्य के गुण कहते हैं :ह

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।

पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥१३२॥

( हरिगीत )

सूक्ष्म से पृथ्वी तलक सब पुद्गलों में जो रहें।

स्पर्श रस गंध वर्ण गुण अर शब्द सब पर्याय हैं ॥१३२॥

अन्वयार्थ :ह [ वर्णरसगंधस्पर्शाः ] वर्ण, रस, गंध और स्पर्श (गुण)

[ सूक्ष्मात् ] सूक्ष्म से लेकर [ पृथिवीपर्यंतस्य च ] पृथ्वी पर्यन्त के [ पुद्गलस्य ] (सर्व) पुद्गल के [ विद्यन्ते ] होते हैं; [ चित्रः शब्दः ] जो विविध प्रकार का शब्द है [ सः ] वह [ पुद्गल ] पुद्गल अर्थात् पौद्गलिक पर्याय है।

टीका :ह स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं; क्योंकि वे इन्द्रियों के विषय हैं। वे इन्द्रियग्राह्यता की<sup>१</sup> व्यक्ति और शक्ति के वश से भले ही इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हों या न किये जाते हों तथापि वे एकद्रव्यात्मक सूक्ष्मपर्यायरूप परमाणु से लेकर अनेकद्रव्यात्मक स्थूलपर्यायरूप पृथ्वीस्कंध तक के समस्त पुद्गल के, अविशेषतया विशेष गुणों के रूप में होते हैं, और उनके मूर्त होने के कारण ही, (पुद्गल के अतिरिक्त) शेष द्रव्यों के न होने से वे पुद्गल को बतलाते हैं।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होने से गुण होगा; क्योंकि वह (शब्द) विचित्रता के द्वारा विश्वरूपपना (अनेकानेक-

१. परमाणु, कार्माणवर्गणा इत्यादि में इन्द्रियग्राह्यता व्यक्त नहीं है तथापि शक्तिरूप से अवश्य होती है; इसीलिये बहुत से परमाणु स्कंधरूप होकर स्थूलता धारण करके इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं।

२. विचित्रता = विविधता (शब्द भाषात्मक, अभाषात्मक, प्रायोगिक, वैश्रसिक हृ ऐसे अनेक प्रकार के हैं।)

प्रकारपना) दरशाता होने पर भी उसे अनेकद्रव्यात्मक पुद्गलपर्याय के रूप में स्वीकार किया जाता है।

यदि शब्द को (पर्याय न मानकर) गुण माना जाय तो वह क्यों योग्य नहीं है उसका समाधान :ह

प्रथम तो, शब्द अमूर्त द्रव्य का गुण नहीं है क्योंकि गुण-गुणी में अभिन्न प्रदेशपना होने से वे (गुण-गुणी) एक वेदन से वेद्य होने से अमूर्त द्रव्य के भी श्रवणेन्द्रिय की विषय-भूतपना आ जायगा।

(दूसरे, शब्दों में) पर्याय के लक्षण द्वारा गुण का लक्षण उत्थापित होने से शब्द मूर्त द्रव्य का गुण भी नहीं है। पर्याय का लक्षण कादाचित्कपना (अनित्यपना) है, और गुण का लक्षण नित्यपना है, इसलिये (शब्द में) अनित्यपने से नित्यपने के उत्थापित होने से (अर्थात् शब्द कभी-कभी ही होता है, और नित्य नहीं है, इसलिये) शब्द वह गुण नहीं है। जो वहाँ नित्यपना है वह उसे (शब्द को) उत्पन्न करनेवाले पुद्गलों का और उनके स्पर्शादिक गुणों का ही है, शब्दपर्याय का नहीं ह इसप्रकार अति दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

और “यदि शब्द पुद्गल की पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कंध की भाँति स्पर्शनादिक इन्द्रियों का विषय होना चाहिये, अर्थात् जैसे पृथ्वीस्कंधरूप पुद्गलपर्याय सर्व इन्द्रियों से ज्ञात होती है उसीप्रकार शब्दरूप पुद्गलपर्याय भी सभी इन्द्रियों से ज्ञात होनी चाहिये” (ऐसा तर्क किया जाय तो) ऐसा भी नहीं है; क्योंकि पानी (पुद्गल की पर्याय होने पर भी) घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है; अग्नि (पुद्गल की पर्याय होने पर भी) घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय का विषय नहीं है और वायु (पुद्गल की पर्याय होने पर भी) घ्राण, रसना, तथा चक्षुइन्द्रिय का विषय नहीं है। और ऐसा

१. एक वेदन से वेद्य = एक ज्ञान से ज्ञात होने योग्य (नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं किन्तु यह मान्यता अप्रमाण है। गुण-गुणी के प्रदेश अभिन्न होते हैं, इसलिये जिस इन्द्रिय से गुण ज्ञात होता है उसी से गुणी भी ज्ञात होना चाहिए। शब्द कर्णेन्द्रिय से जाना जाता है, इसलिये आकाश भी कर्णेन्द्रिय से ज्ञात होना चाहिये। किन्तु वह तो किसी भी इन्द्रिय से ज्ञात होता नहीं है। इसलिये शब्द आकाशादि अमूर्तिक द्रव्यों का गुण नहीं है।)

भी नहीं है कि पानी गंध रहित है (इसलिये नाक से अग्राह्य है), अग्नि गंध तथा रस रहित है (इसलिये नाक तथा जीभ से अग्राह्य है) और वायु गंध, रस तथा वर्ण रहित है (इसलिये नाक, जीभ तथा आँखों से अग्राह्य है); क्योंकि सभी पुद्गल स्पर्शादि चतुष्कयुक्त स्वीकार किये गये हैं क्योंकि जिनके स्पर्शादि चतुष्क व्यक्त हैं ऐसे (१) चन्द्रकान्तमणि को, (२) अरणि को और (३) जौ को जो पुद्गल उत्पन्न करते हैं उन्हीं के द्वारा (१) जिसकी गंध अव्यक्त है ऐसे पानी की, (२) जिसकी गंध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्नि की और (३) जिसकी गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है ऐसी उदरवायु की उत्पत्ति होती देखी जाती है।

और कहीं (किसी पर्याय में) किसी गुण की कादाचित्क परिणाम की विचित्रता के कारण होनेवाला व्यक्तपना या अव्यक्तपना नित्य द्रव्यस्वभाव का प्रतिघात नहीं करता। (अर्थात् अनित्यपरिणाम के कारण होनेवाली गुण की प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्यस्वभाव के साथ कहीं विरोध को प्राप्त नहीं होती।) इसलिये शब्द पुद्गल की पर्याय ही हो।

### गाथा १३२ पर प्रवचन

वर्ण, रस, गंध और स्पर्श (गुण) सूक्ष्म से लेकर पृथ्वी पर्यंत के (सर्व) पुद्गल के होते हैं; जो विशिष्ट प्रकार का शब्द है वह पुद्गल अर्थात् पौद्गलिक पर्याय है।

१. चतुष्क-चतुष्टय, चार का समूह। (समस्त पुद्गलों में ह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन सबही में ह स्पर्शादि चारों गुण होते हैं। मात्र अन्तर इतना ही है कि पृथ्वी में चारों गुण व्यक्त हैं, पानी में गंध अव्यक्त है, अग्नि में गंध तथा रस अव्यक्त है, और वायु में गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है। इस बात की सिद्धि के लिये युक्ति इसप्रकार है :ह चन्द्रकान्तमणिरूप पृथ्वी में से पानी झरता है; अरणि की लकड़ी में से अग्नि प्रगट होती है और जौ खाने से पेट में वायु उत्पन्न होती है; इसलिये (१) चंद्रकान्तमणि में, (२) अरणि-लकड़ी में और (३) जौ में रहनेवाले चारों गुण (१) पानी में, (२) अग्नि में और (३) वायु में होने चाहिये। मात्र अन्तर इतना ही है कि उन गुणों में से कुछ अप्रगटरूप से परिणमित हुये हैं। और फिर, पानी में से मोतीरूप पृथ्वीकाय अथवा अग्नि में से काजल रूप पृथ्वीकाय के उत्पन्न होने पर चारों गुण प्रगट होते हुये देखे जाते हैं।)

शीत-उष्ण आदि स्पर्श, खट्टा-मीठा आदि रस, सुगंध-दुर्गंध, सफेद-लाल-पीला इत्यादि वर्ण इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं; क्योंकि वे इन्द्रियों के विषय हैं।

एक परमाणु तथा कार्मणवर्गणा आदि जो सूक्ष्म स्कंध हैं वे वर्तमान इन्द्रियग्राह्य नहीं होने पर भी, उन परमाणु और सूक्ष्म स्कंधों में भी इन्द्रियों से ज्ञात होने की योग्यता है। वर्तमान में प्रगट योग्यता नहीं, किन्तु उनमें इन्द्रियों से ज्ञात होने शक्तिरूप योग्यता पड़ी है। क्योंकि जो परमाणु प्रथक् हुआ है, वह स्थूल स्कंधरूप होता है तब तथा सूक्ष्म स्कंध परिवर्तित होकर स्थूलरूप धारण करते हैं तब वे इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं। यदि उनमें इन्द्रियों से ज्ञात होने की ताकत नहीं होती तो स्थूलरूप धारण करने पर भी इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होने चाहिए; परन्तु स्थूल होने पर इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं, इसलिए उनमें सूक्ष्म अवस्था के समय भी इन्द्रियों से ज्ञात होने की ताकत विद्यमान है वह ऐसा निश्चित होता है।

इसलिए एक पुद्गल द्रव्य की सूक्ष्म पर्यायरूप परमाणु से लेकर अनेक द्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वी स्कंध तक के समस्त पुद्गलों में सामान्यरूप से अर्थात् किसी पुद्गल को शेष रखे बिना सबमें स्पर्श, रस गंध, वर्ण विशेषगुण होते हैं; और वे गुण इन्द्रियग्राह्य होने के कारण, अन्य पाँच द्रव्यों में नहीं वर्तते। तात्पर्य यह है कि स्पर्शादि गुण पुद्गल के ही विशेष गुण हैं; इसकारण वे गुण पुद्गल को बतलाते हैं।

प्रश्न ह्व जीव और अजीव सब होकर एक ही है। सच्चिदानंद स्वरूप सब अद्वैत ही है ह्व ऐसा कहो न? ये सब भेद जानने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर ह्व भाई! ज्ञेयों का स्वभाव जैसा है वैसा जानना चाहिए। जैसा है वैसा जानने पर ही ज्ञान यथार्थ होता है। 'सब होकर एक है' ह्व ऐसा जाननेवाला ज्ञान यथार्थ नहीं होता और यथार्थ ज्ञान के बिना धर्म नहीं होता। सब होकर एक द्रव्य नहीं है और न सब आत्मा मिलकर एक आत्मा है। इस जगत में छह द्रव्य हैं। सब मिलकर एक द्रव्य नहीं है।

- द्रव्य की अपेक्षा से वह सामान्य है; परन्तु चेतना उपयोग वाला सो जीव है और चेतनारहित सो अजीव है ह्व ऐसे द्रव्य में भेद है।
- लोक और अलोक ह्व ऐसा क्षेत्र अपेक्षा से भेद है।
- भाववती और क्रियावती शक्ति की अपेक्षा से द्रव्यों में भेद है।
- मूर्तगुणों और अमूर्तगुणों की अपेक्षा से द्रव्य अलग-अलग हैं ह्व ऐसे गुण की अपेक्षा से द्रव्य में भेद है। तथा
- द्रव्य, वह गुण नहीं है और गुण, वह द्रव्य नहीं है। दोनों में कथंचित् अतद्भाव है।

इसप्रकार एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य में क्या भेद है तथा अपने द्रव्य में भेदाभेदस्वरूप कैसा है ह्व यह जानना चाहिए।

शब्द गुण नहीं, किन्तु अनेक द्रव्यात्मक पुद्गलपर्याय है। शब्द इन्द्रियों से ज्ञात होता है, इसलिए गुण होगा ह्व ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। शब्द की विविधता अनेक प्रकार की है।

- (१) भाषात्मक शब्द ह्व मनुष्यादि जो शब्द बोलते हैं, उन्हें भाषात्मक शब्द कहते हैं। उसमें मनुष्य की भाषा अक्षरी है और दो इन्द्रिय से चार इन्द्रियवाले तथा तिर्यच की भाषा अनक्षरी है और वे दोनों प्रायोगिक हैं।
- (२) अभाषात्मक शब्द ह्व दो वस्तुओं के आघात से उत्पन्न हो वह अभाषात्मक शब्द है। उसके प्रायोगिक और वैस्रसिक दो भेद हैं।
- (३) प्रायोगिक ह्व जिस शब्द के उत्पन्न होने में पुरुष निमित्त हो, उसे प्रायोगिक कहते हैं। जैसे कि नगाड़े अथवा घंटे की आवाज।
- (४) वैस्रसिक ह्व जो शब्द पुरुष की अपेक्षा रहित स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है, उसे वैस्रसिक कहते हैं। जैसे कि मेघ गर्जना।

इसप्रकार शब्द अनेक प्रकार की विविधता को बताते होने पर भी शब्द को अनेक पुद्गलों की बनी हुई अवस्था के रूप में माना गया है। शब्द न तो गुण है और न एक ही गुण की पर्याय है। शब्द अनेक पुद्गल द्रव्यों और स्पर्शादि समस्त गुणों की सम्मिलित अवस्था है।

यदि शब्द को पुद्गल की अवस्था नहीं मानकर गुण माना जाए तो क्या दोष आयेगा?

**समाधान** ह्व शब्द अमूर्तद्रव्य का गुण नहीं है। कितने ही लोग शब्द को आकाश द्रव्य का गुण मानते हैं; परन्तु यह मान्यता मिथ्या है। कारण कि गुण और गुणी के प्रदेश भिन्न नहीं है, एक ही प्रदेश है। गुण-गुणी एक ही प्रदेश में होने के कारण, गुण जिस इन्द्रिय से ज्ञात होता है उसी इन्द्रिय से गुणी भी ज्ञात होना चाहिए। शब्द तो कान से सुना जा सकता है अर्थात् इन्द्रिय से ज्ञात होता है; इसलिए शब्द को आकाश का गुण मानो तो आकाश जो कि गुणी हुआ, वह भी कान से सुना जा सकता चाहिए; परन्तु आकाश कान से नहीं सुना जा सकता तथा किसी भी इन्द्रिय से आकाश ज्ञात नहीं होता।

यदि शब्द को आकाश का गुण माना जाए तो शब्द जैसे फोनोग्राम (टेप कैसट्स), रेडियो आदि में उतरता है, वैसे आकाश भी फोनोग्राम में उतरना चाहिए।

कान और शब्द को निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, फोनोग्राम और शब्द को निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; परन्तु आकाश को कान के साथ अथवा फोनोग्राम के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं है। इसलिए निश्चित होता है कि शब्द पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, आकाशादि अमूर्तिक द्रव्यों का गुण नहीं है।

**प्रश्न** ह्व शब्द को मूर्तद्रव्य का गुण मानें तो?

**उत्तर** ह्व शब्द स्पर्श-रस-गंध-वर्ण आदि गुणों की पर्याय है। शब्द, जोकि पर्याय है, उस पर्याय के लक्षण से गुण का लक्षण उत्थापित होता है; इसलिए शब्द गुण नहीं; किन्तु पर्याय है। वह निम्नानुसार है ह्व

अवस्था का लक्षण अनित्यपना अर्थात् क्षणिकपना है। अवस्था सदा नहीं रहती। गुण का लक्षण नित्यपना अर्थात् त्रिकाल रहना है। इसप्रकार गुण तथा अवस्था में लक्षण भेद से भेद है।

किसी समय शब्द सुना जाता है और किसी समय नहीं अर्थात्

उसकी अवस्था सदा नहीं होती, इसलिए शब्द अनित्य है। जबकि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि जो पुद्गल के गुण हैं, वे तो सदा होते ही हैं। किसी समय किसी भी पुद्गल में ये गुण नहीं हों ह्व ऐसा होता ही नहीं।

अब, यदि शब्द को गुण माना जाए, तो गुण का लक्षण तो नित्यपना है; अतः शब्द भी नित्य रहना चाहिए; परन्तु शब्द नित्य तो दिखता नहीं। भाषा अथवा खड़खड़ाहरूपी शब्द कभी होता है, कभी नहीं होता। इसलिए उसे नित्य नहीं कहा जा सकता। अतः शब्द अनित्य है ह्व ऐसा निश्चित होता है और अनित्य तो पर्याय का लक्षण है। अनित्यपना गुण का लक्षण नहीं है। इसलिए शब्द अनित्य होने के कारण पुद्गल की पर्याय है, गुण नहीं।

वहाँ जो नित्यपना है, वह शब्द के उत्पादक पुद्गलद्रव्य और उसके स्पर्शादिक गुणों का ही है। क्योंकि पुद्गलद्रव्य और उसके गुण तो त्रिकाल रहते हैं, नष्ट नहीं होते। जबकि शब्द तो नष्ट होता है और उत्पन्न होता है ह्व इसकारण क्षणिक है। इसलिए शब्दपर्याय का नित्यपना नहीं है।

(३) शब्द पुद्गल की पर्याय है तो समस्त इन्द्रियों से ज्ञात होनी चाहिए ह्व ऐसी शंका का समाधान इस प्रकार है ह्व

**आशंका** ह्व यदि शब्द पुद्गल की अवस्था होवे तो पृथ्वी के स्कंध की भाँति सभी इन्द्रियों से ज्ञात होनी चाहिए। जिसप्रकार पृथ्वी का स्कंध स्पर्श से ठण्डा-ठण्डा ज्ञात होता है, जीभ से उसका स्वाद मालूम पड़ता है, उसकी सुगंध अथवा दुर्गंध नाक से मालूम पड़ती है, उसका श्वेत अथवा काला रंग आँख से ज्ञात होता है। इसलिए पृथ्वी जो पुद्गल की पर्याय है, वह समस्त इन्द्रियों से ज्ञात होती है; उसीप्रकार शब्द भी यदि पुद्गल की पर्याय हो, तो वह भी समस्त इन्द्रियों से ज्ञात होना चाहिए?

**समाधान** ह्व भाई! तेरी बात सत्य नहीं है। पुद्गल को व्यक्तरूप से ज्ञात होना ही चाहिए ह्व ऐसा नियम नहीं है। इसके दृष्टान्त इसप्रकार हैं ह्व

- पानी पुद्गल की अवस्था होने पर भी नाक द्वारा सूंघने में नहीं आता। पानी में जो सुगंध अथवा दुर्गंध है, वह तो उसके साथ मिश्रितरूप रहे

हुए अन्य पदार्थ की है। पानी की गंध व्यक्त नहीं है। पानी में स्पर्श, रस और वर्ण व्यक्त है; परन्तु गंध व्यक्तरूप नहीं है। इसलिए पानी घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है; तथापि पुद्गल की अवस्था है।

- अग्नि पुद्गलद्रव्य की अवस्था होने पर भी नाक से सूँधी अथवा जीभ से चखी नहीं जाती। (कई बार नाक में जलन होती है वह वहाँ स्पर्श से ज्ञात होती है, तथा अग्नि से जीभ जल जाती है, परन्तु अग्नि का रस चखा नहीं जाता।) अग्नि में स्पर्श तथा वर्ण व्यक्तरूप है; परन्तु रस और गंध व्यक्तरूप नहीं है। इससे अग्नि घ्राणेन्द्रिय तथा रसना इन्द्रिय का विषय नहीं होने पर भी पुद्गल की अवस्था है।
- वायु पुद्गल की अवस्था होने पर भी जीभ से नहीं चखी जा सकती; नाक से सूँधी नहीं जा सकती तथा आँख से देखी नहीं जा सकती। वायु में शीत-उष्ण यह एक स्पर्श ही व्यक्तरूप है; परन्तु वर्ण, रस, गंध व्यक्तरूप नहीं है। इससे पवन रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं होने पर भी पुद्गल की पर्याय है।

ऐसा नहीं है कि पानी गंध रहित है, इसलिए नाक से ज्ञात नहीं होता; अग्नि गंध तथा रस रहित है, इसलिए नाक और जीभ से ज्ञात नहीं होती और वायु गंध, रस तथा वर्णरहित है, इसलिए नाक, जीभ और आँख से ज्ञात नहीं होती।

पानी में गंध अव्यक्त कही है तथा अन्य अव्यक्त के दृष्टान्तों का स्पष्टीकरण यह है कि वे गुण तो सदा अस्तित्व धारण करते हैं; परन्तु इन्द्रियाँ वर्तमान में किसी-किसी गुण की अवस्था को पकड़ नहीं सकती हूँ इस अपेक्षा से अव्यक्त कहा गया है। ऐसा भी नहीं है कि रस-गुण पहले और वर्ण बाद में है। क्योंकि समस्त पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सहित ही स्वीकार किये गये हैं। अन्तर मात्र इतना है कि पृथ्वी में चारों गुण व्यक्त हैं, पानी में गंध अव्यक्त है, अग्नि में गंध तथा रस अव्यक्त है और वायु में गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है।

इस बात की सिद्धि के लिए युक्ति इसप्रकार है हूँ

- जिसको स्पर्श-रस-गंध-वर्ण चारों व्यक्त हैं हूँ ऐसी चन्द्रकांतमणिरूप पृथ्वी में से पानी झरता है, कि जिस पानी में गंध अव्यक्त है।
- अरणि के लकड़ी में से जो पुद्गल अग्नि रूप होते हैं, कि जिस अग्नि में गंध तथा रस अव्यक्त है।
- जौ खाने से पेट में वायु होती है कि जिसमें गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है।

इसलिए निश्चित होता है कि (१) चन्द्रकांतमणि में, (२) अरणि में और (३) जौ में रहे हुए चारों गुण (१) पानी में, (२) अग्नि में और (३) वायु में होना चाहिए। अन्तर मात्र इतना ही है कि उन गुणों में से कितने ही अप्रगटरूप परिणमित हुए हैं। और फिर हूँ

- पानी, जिसमें गंध अव्यक्त है और तीन गुण प्रगट (व्यक्त) है, वही पानी मोतीरूप पृथ्वीकायरूप से उत्पन्न होने पर; अथवा
- अग्नि, जिसमें रस तथा गंध अव्यक्त है और दो ही गुण प्रगट है, वही अग्नि काजलरूप पृथ्वीकाय उत्पन्न होने पर; चारों गुण प्रगट होते देखने में आते हैं।

इसलिए इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि जो पुद्गल की पर्यायें हैं, वे सब इन्द्रियों द्वारा व्यक्त नहीं होने पर भी उसको पुद्गल की पर्याय कहने में आपत्ति नहीं आती। शब्द भले ही कर्ण इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो और अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न हो; तथापि शब्द की पर्याय में अन्दर स्पर्शादि गुण रहे हुए हैं। हूँ इसकारण शब्द पुद्गल की ही पर्याय हैं।

किसी पर्याय में किसी गुण के विचित्र परिणाम के कारण कभी प्रगटपना अथवा कभी अप्रगटपना उसके नित्य द्रव्यस्वभाव का घात नहीं करता। पानी में गंध नहीं दिखती होने से गंध का नित्यपना चला नहीं जाता; किन्तु पानी में गंध का नित्यपना तो होता ही है; इसीप्रकार शब्द में स्पर्श, रसादि व्यक्त नहीं दिखने पर भी स्पर्शादि का नित्यपना चला नहीं जाता; किन्तु शब्द की पर्याय में स्पर्शादि का नित्यपना रहा हुआ ही है।

प्रश्न हूँ जैसे पानी में गंध व्यक्त नहीं होने पर भी गंधगुण है, वैसे ही

जब शब्द व्यक्त नहीं होता तब भी शब्द नामक एक विशेष गुण पुद्गल में रहता है ह्व ऐसा माना जाए तो?

उत्तर ह्व यदि शब्द गुण हो तो वह नित्य रहना चाहिए और एक प्रथक् परमाणु में भी वह होना चाहिए। एक परमाणु प्रथक् होता है तब वह कभी शब्दरूप परिणमित नहीं होता। एक परमाणु में स्पर्शादि चारों गुण होते हैं; परन्तु एक परमाणु में शब्द नाम का प्रथक् गुण नहीं होता। अनेक परमाणु एकत्रित होवें तो, और वह भी कभी-कभी शब्द सुना जाता है; इसलिए सिद्ध होता है कि अन्दर में शब्द नाम का गुण नहीं है; परन्तु बहुत परमाणु मिलकर शब्दरूप परिणमित होते हैं।

इसप्रकार शब्द न अमूर्त द्रव्यों का गुण है और न मूर्त द्रव्यों का गुण है। शब्द तो पुद्गलों की अवस्था है।

प्रश्न ह्व शब्द का इतना अधिक विवेचन करने में धर्म क्या आया?

उत्तर ह्व अनादिकाल से जीव भ्रम से मानता है कि आत्मा बोल सकता है और शब्द को परिणमित करा सकता है। इसप्रकार आत्मा अज्ञान से शब्दों का कर्ता होता है। सत्य ज्ञान करने पर आत्मा पुद्गल की पर्याय का कर्ता नहीं है, अपितु ज्ञाता है ह्व ऐसा निर्णय करने से शब्द के कर्तृत्व का अभिमान मिट जाता है और स्वयं ज्ञाता रहता है।

जीव भ्रमवश निन्दा-प्रशंसा के शब्दों के कारण राग-द्वेष करता था। वह मानता था कि अमुक शब्द आत्मा को सुखकर्ता है और अमुक शब्द आत्मा को दुःखकर्ता है। परन्तु कैसे भी शब्द हो, वह तो पुद्गल की पर्याय है, ज्ञेय है और आत्मा उसका ज्ञाता है ह्व ज्ञेयतत्त्व का ऐसा सच्चा ज्ञान होने पर, एकत्वबुद्धि के राग-द्वेष का अभाव होकर अपने में शान्ति प्रगट होती है और वही धर्म है।

यह तो ज्ञेय अधिकार है। शब्द तो पुद्गल की अवस्था है और वह एक ज्ञेय है। उस अवस्था को करना या उससे सुख-दुःख मानना आत्मा का कर्तव्य नहीं है; परन्तु उसको ज्ञेयरूप से जान लेना ही आत्मा का कर्तव्य है और यही धर्म है। ●

### प्रवचनसार गाथा १३३-१३४

अब, शेष अमूर्त द्रव्यों के गुण कहते हैं :ह्व

आगासस्सवगाहो धम्मद्वस्स गमणहेदुत्तं ।

धम्मेदरद्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥१३३॥

कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।

णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥१३४॥

( हरिगीत )

आकाश का अवगाह धर्माधर्म के गमनागमन ।

स्थानकारणता कहे ये सभी जिनवरदेव ने ॥१३३॥

उपयोग आतमराम का अर वर्तना गुण काल का ।

है अमूर्त द्रव्यों के गुणों का कथन यह संक्षेप में ॥१३४॥

अन्वयार्थ :ह्व [ आकाशस्यावगाहः ] आकाश का अवगाह, [ धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं ] धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व [ तु पुनः ] और [ धर्मेतरद्रव्यस्य गुणः ] अधर्म द्रव्य का गुण [ स्थानकारणता ] स्थानकारणता है। [ कालस्य ] काल का गुण [ वर्तना स्यात् ] वर्तना है, [ आत्मनः गुणः ] आत्मा का गुण [ उपयोगः इति भणितः ] उपयोग कहा है। [ मूर्तिप्रहीणानां गुणाः हि ] इसप्रकार अमूर्त द्रव्यों के गुण [ संक्षेपात् ] संक्षेप से [ ज्ञेयाः ] जानना चाहिये।

टीका :ह्व युगपत् सर्वद्रव्यों के साधारण अवगाह का हेतुपना आकाश का विशेष गुण है। एक ही साथ सर्व गमनपरिणामी (गतिरूप परिणमित) जीव-पुद्गलों के गमन का हेतुपना धर्म का विशेष गुण है। एक ही साथ सर्व स्थानपरिणामी (स्थितिरूप परिणमित) जीव-पुद्गलों के स्थिर होने का हेतुत्व स्थिति का अर्थात् स्थिर होने का निमित्तपना अधर्म का विशेष गुण है। (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों की प्रति-पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना (समय-समय की परिणति का निमित्तत्व) काल का विशेष गुण है। चैतन्यपरिणाम जीव का विशेष गुण है। इसप्रकार



अमूर्त द्रव्यों के विशेष गुणों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर अमूर्त द्रव्यों को जानने के लिंग (चिह्न, लक्षण, साधन) प्राप्त होते हैं, अर्थात् उन-उन विशेष गुणों के द्वारा उन-उन अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है सिद्ध होता है। (इसी को स्पष्टता पूर्वक समझाते हैं ह)

वहाँ एक ही काल में समस्त द्रव्यों को साधारण 'अवगाह का संपादन (अवगाह-हेतुपनेरूप लिंग) आकाश को बतलाता है; क्योंकि शेष द्रव्यों के सर्वगत (सर्वव्यापक न होने से उनके वह संभव नहीं है।

इसीप्रकार एक ही काल में गतिपरिणत (गतिरूप से परिणमित हुए) समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतुपना धर्म को बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं इसलिये उनके वह संभव नहीं है; जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिये उसके वह संभव नहीं है, लोक अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश को वह संभव नहीं है और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से अधर्म को वह संभव नहीं है। (काल और पुद्गल एकप्रदेशी हैं, इसलिये वे लोक तक गमन में निमित्त नहीं हो सकते, जीव समुद्घात को छोड़कर अन्य काल में लोक के असंख्यातवें भाग में ही रहता है, इसलिये वह भी लोक तक गमन में निमित्त नहीं हो सकता; यदि आकाश गति में निमित्त हो तो जीव और पुद्गलों की गति अलोक में भी होने लगे, जिससे लोकालोक की मर्यादा ही न रहेगी; इसलिये गतिहेतुत्व आकाश का भी गुण नहीं है; अधर्म द्रव्य तो गति से विरुद्ध स्थिति कार्य में निमित्तभूत है, इसलिये वह भी गति में निमित्त नहीं हो सकता। इसप्रकार गतिहेतुत्वगुण धर्मनामक द्रव्य का अस्तित्व बतलाता है।

इसीप्रकार एक ही काल में स्थितिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक स्थिति का हेतुपना अधर्म को बतलाता है; क्योंकि काल और

१. अवगाह = लीन होना; मज्जित होना, अवकाश प्राप्त करना। (एक ही काल में सर्व द्रव्यों को सामान्य अवकाश की प्राप्ति में आकाशद्रव्य निमित्तभूत है।)

पुद्गल अप्रदेशी होने से उनके वह संभव नहीं है; जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिये उसके वह संभव नहीं है; लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह संभव नहीं है, और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से धर्म के वह संभव नहीं है।

इसीप्रकार (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों के प्रत्येक पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना काल को बतलाता है, क्योंकि उनके 'समयविशिष्ट वृत्ति कारणान्तर से सधती होने से (अर्थात् उनके समय से विशिष्ट ऐसी परिणति अन्य कारण से होती है, इसलिये) स्वतः उनके वह (समयवृत्तिहेतुपना) संभवित नहीं है।

इसीप्रकार चैतन्य परिणाम जीव को बतलाता है, क्योंकि वह चेतन होने से शेष द्रव्यों के संभव नहीं है।

इसप्रकार गुणविशेष से द्रव्यविशेष जानना चाहिये।

**भावार्थ :** हूँ जैसा कि पहले बताया गया है, हूँ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से पुद्गल द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है। यहाँ अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व उनके विशेष लक्षणों से प्रकट किया गया है। चैतन्यपरिणामरूप लक्षण अनुभव में आता है इसलिए अनन्त जीवद्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है। जीवादि समस्त द्रव्य जिसके निमित्त से अवगाह (अवकाश) को प्राप्त करते हैं ऐसा कोई द्रव्य होना चाहिये; वह द्रव्य लोकालोकव्यापी आकाश है। जीव और पुद्गल गति करते हुए मालूम होते हैं, इसलिये जैसे मछली को गति करने में निमित्तभूत जल है उसीप्रकार जीव और पुद्गलों को गति करने में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिये; वह द्रव्य लोकव्यापी धर्मद्रव्य है। जैसे मनुष्य को स्थिति में निमित्तभूत पृथ्वी है उसीप्रकार जीव और पुद्गलों की स्थिति में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना

१. काल के अतिरिक्त द्रव्यों की परिणति 'एक समय में यह परिणति हुई है' इसप्रकार समय से विशिष्ट है अर्थात् व्यवहार से उसमें समय की अपेक्षा आती है, इसलिये उसमें कोई द्रव्य-कालद्रव्य-निमित्त होना चाहिये।

चाहिये। वह द्रव्य लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है। जैसे कुम्हार के चक्र के चलने में कील निमित्तभूत है। उसी प्रकार (काल के अतिरिक्त) सर्व द्रव्यों के परिणमन में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिये; वह द्रव्य असंख्यात कालाणु हैं, जिनकी पर्यायें समय, घड़ी, दिन, वर्ष इत्यादिरूप से व्यक्त होती हैं।

इसप्रकार गुणभेद से द्रव्यभेद निश्चित हुआ।

### गाथा १३३-१३४ पर प्रवचन

आकाश का अवगाह, धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व, अधर्मद्रव्य का स्थिति कारणता काल का वर्तना और आत्मा का गुण उपयोग कहा है। इसप्रकार अमूर्त द्रव्यों के गुण संक्षेप से जानना चाहिए।

कोई कहे कि मात्र मूर्त द्रव्य ही जाने जा सकते हैं, अमूर्त को नहीं जाना जा सकता हू तो यह मानना मिथ्या है। जड़ में बिलकुल ज्ञान नहीं है और आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है; तो वह किसको नहीं जानेगा? इसलिए आत्मा समस्त मूर्त-अमूर्त द्रव्यों को जान सकता है।

अब, अमूर्त द्रव्यों के गुण कहे जाते हैं।

**आकाश का गुण** हू समस्त द्रव्यों को एकसाथ अवगाह देने का हेतुपना आकाश का विशेषगुण है। हेतुपना अर्थात् निमित्तपना। अन्य द्रव्य स्वयं के कारण अवगाह पाते हैं तो आकाश निमित्त कहलाता है। आकाश व्यापक है। सबको अवगाह में निमित्त होने का उसका गुण है। आकाश अनंतप्रदेशी लोक और अलोक प्रमाण अखण्ड अरूपी द्रव्य है।

**धर्मद्रव्य का गुण** हू जीव और पुद्गल स्वयं के कारण गमन करें तब एकसाथ उन सबके गमन में निमित्त होने का विशेषगुण गतिहेतुत्व धर्मद्रव्य में है। धर्मद्रव्य असंख्यप्रदेशी लोकप्रमाण अरूपी द्रव्य है। धर्मद्रव्य जीवों और पुद्गलों को गति नहीं कराता, परन्तु जीव और पुद्गल गति करें तब निमित्त होता है।

**अधर्मद्रव्य का गुण** हू जीव और पुद्गल स्वयं के कारण गतिपूर्वक स्थिति करते हैं, तब एकसाथ सबको स्थिति में निमित्तरूप होने का विशेषगुण-स्थितिहेतुत्व अधर्मद्रव्य में है और वह अधर्मद्रव्य असंख्यप्रदेशी लोकप्रमाण अरूपी द्रव्य है। अधर्मद्रव्य जीवों और पुद्गलों को स्थिर कर नहीं देता; परन्तु जीव-पुद्गल स्थिर हों तब निमित्त कहलाता है।

**कालद्रव्य का गुण** हू जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश हू इन पाँचों द्रव्यों को प्रत्येक पर्याय के पलटने में निमित्तपना अर्थात् वर्तनाहेतुत्व काल का विशेष गुण है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु है। लोक में ऐसे अरूपी कालाणु असंख्य हैं।

कोई कहे कि सिद्ध भगवंतों को भी कालद्रव्य के आधीन होकर परिणमित होना पड़ता है हू तो यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। कोई द्रव्य पराधीन नहीं है। कालद्रव्य किसी को परिणमित नहीं करा देता; परन्तु द्रव्य अपने परिणमनस्वभाव के कारण परिणमते हैं तो कालद्रव्य को निमित्त कहा जाता है। क्योंकि परिणमन का हेतुपना अर्थात् निमित्तपना कालद्रव्य का विशेष गुण है।

**जीवद्रव्य का गुण** हू चैतन्य परिणाम अर्थात् जानना-देखना जीव का विशेषगुण है। अन्य परपदार्थ हैं, इसलिए जीव जानता है हू ऐसा नहीं है तथा किसी परपदार्थ को नहीं जानता हू ऐसा भी नहीं है। लोक में ऐसे असंख्यप्रदेशी अनंत जीव हैं।

ज्ञान का स्वभाव सामान्य और विशेष सब जानना है। इतने अधिक विशेषों को जानने से राग उत्पन्न होगा हू ऐसा मानकर अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभाव का अस्वीकार करता है। वस्तुतः ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। जीव में एकसाथ सब जानने की ताकत है। विशेष का ज्ञान राग का कारण नहीं; परन्तु अपनी राग की योग्यता ही राग का कारण है।

पर का भला-बुरा करना जीव का स्वभाव नहीं है। परमाणु को

हेरफेर करना भी उसका स्वभाव नहीं है। राग-द्वेष, दया-दानादि भी उसका स्वभाव नहीं है। वह तो कृत्रिम अवस्था में उपाधि है, वास्तविक स्वभाव नहीं है। जीव का वास्तविक स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है।

**प्रश्न** ह्व 'द्रव्यसंग्रह' में जीव को मूर्त कहा है न?

**उत्तर** ह्व जीव में मूर्तपना नहीं है; परन्तु संसारदशा में जीव को कर्म तथा शरीर का संयोग होता है ह्व इसकारण उपचार से मूर्त कहा है। वस्तुतः तो जीव तीनोंकाल अमूर्त चैतन्यगुण से पहिचाना जाता है।

जीव अज्ञानभाव से मित्र में अनुकूलता और शत्रु में प्रतिकूलता की कल्पना करता है। वे तो तुझसे भिन्न जीवद्रव्य हैं। उनको उनके चैतना परिणाम से पहिचानना चाहिए। उनके शरीर तथा भाषा आदि को उनके जीव से भिन्न पहिचानना चाहिए; परन्तु कोई जीव दूसरे को लाभ-हानि करता है ह्व ऐसा नहीं जानना चाहिए।

इसप्रकार अमूर्तद्रव्यों के विशेष गुणों का संक्षेप में ज्ञान होने से अमूर्तद्रव्यों को जानने का लक्षण प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस लक्षण से अमूर्तद्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

इसप्रकार द्रव्यों के लक्षण द्वारा भेदज्ञान करना ह्व निर्णय करना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है।

अब इन्हीं विशेष गुणों को स्पष्टतापूर्वक समझाते हैं।

**आकाश का लक्षण अवगाहनहेतुत्व** ह्व वहाँ एक ही काल में सर्व द्रव्यों को सामान्य अवकाश की प्राप्ति में आकाश निमित्त है। अन्य द्रव्य, जैसे कि जीव-पुद्गल, सर्वव्यापक नहीं है, कालाणु एक प्रदेशी है तथा धर्म और अधर्म लोकाकाश में होने पर भी अलोकाकाश में नहीं है, इससे वे द्रव्य सर्वव्यापक नहीं है। अतः वे द्रव्य सर्व को अवगाहन देने में निमित्त नहीं हो सकते। मात्र आकाश ही क्षेत्र से सबसे बड़ा है और लोक-अलोक में सर्वव्यापक है तथा सबको अवगाह देने में निमित्त हो सके वैसा है। ऐसा उसका स्वभाव है और भगवान के केवलज्ञान में भी ऐसा ही आया है।

**धर्मद्रव्य का लक्षण गतिहेतुत्व** ह्व एक ही साथ गतिरूप परिणमित समस्त जीव और पुद्गल लोक तक गमन करें, तब गमन में निमित्तपना धर्मद्रव्य को बताता है।

काल और पुद्गल एकप्रदेशी हैं, इसलिए उनमें गतिहेतुत्व संभव नहीं है। जीव (समुद्घात के अलावा) लोक के असंख्यातभागमात्र होने से उसमें भी गति-हेतुत्व संभव नहीं है। क्योंकि जो द्रव्य लोकाकाश प्रमाण अखण्ड हो उसी में वह संभव हो सकता है।

लोक और अलोक की मर्यादा निश्चित होने से आकाश को गति हेतुत्व संभव नहीं है। यदि आकाश में गतिहेतुत्व हो तो लोक के जीव-पुद्गलों का अलोक में भी जाने का प्रसंग आ जाए; और यदि वे अलोक में जाएँ तो लोक-अलोक की मर्यादा का सुनिश्चित लक्षण मिथ्या सिद्ध हो; परन्तु ऐसा नहीं होता। लोक का द्रव्य लोक में ही रहता है, अलोक में नहीं जाता। इसलिए आकाश में गतिहेतुत्व संभव नहीं है।

**अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थितिहेतुत्व** ह्व अधर्मद्रव्य तो गति से विरुद्धकार्य अर्थात् स्थिति में निमित्त है। इसलिए वह भी गति में निमित्त नहीं हो सकता।

इसलिए जीव और पुद्गल गमन करें, तब उन सबको एकसाथ गति में निमित्त होने का गुण धर्मद्रव्य में ही है। इससे गतिहेतुत्व धर्मद्रव्य को सिद्ध करता है।

**काल का लक्षण वर्तनाहेतुत्व** ह्व इसीप्रकार (काल के अलावा) शेष समस्त द्रव्यों की प्रत्येक अवस्था के पलटने में निमित्तभूत होनेरूप वर्तनाहेतुत्व नाम का गुण काल को सिद्ध करता है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक ऐसे असंख्य कालाणु हैं।

काल के अतिरिक्त द्रव्यों की अवस्था "एक समय में यह अवस्था हुई है" ह्व इसमें व्यवहार से समय की अपेक्षा आती है, इसलिए उसमें कोई द्रव्य निमित्त होना चाहिए। अब ये पाँचों द्रव्य स्वयं ही प्रतिसमय

परिणामन कर रहे हैं, इसलिए इन पाँचों के परिणामन में स्वयं को निमित्त स्वयं नहीं हो सकते ह्व इसकारण पाँचों द्रव्यों में वर्तनाहेतुत्व नहीं है ह्व ऐसा निश्चित होता है। इसलिए वर्तनाहेतुत्व कालद्रव्य को सिद्ध करता है।

**जीव का लक्षण चैतन्यपरिणाम :** ह्व इसीप्रकार चैतन्यपरिणाम-जानना-देखना, वह मात्र जीवद्रव्य में ही है। निगोद से लेकर सिद्ध तक के समस्त जीव चैतन्यपरिणाम से पहिचाने जाते हैं। अन्य पाँच द्रव्य तो अचेतन हैं। अचेतनपने में चेतनपना नहीं हो सकता; इसलिए उन पाँचों में चेतनपना संभव नहीं है। इससे चेतनपने से जीवद्रव्य सिद्ध होता है।

जीव का लक्षण चैतन्यपना कहा है; परन्तु पैसे की सँभाल रखना जीव का लक्षण नहीं है। क्योंकि पैसादि जड़पदार्थ किसी के रक्षण के भाव से नहीं टिक रहे हैं। यदि ऐसा होवे तो रक्षण का भाव नष्ट होने पर पैसे का भी नाश हो जाना चाहिए; परन्तु ऐसा तो नहीं होता। वे पदार्थ उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुणों से रक्षित और टिके हुए पड़े ही हैं तथा सभी जीव भी उनके चैतन्यगुण से रक्षित ही हैं। एक जीव दूसरे को संरक्षण दे सके ह्व जीव में ऐसा गुण ही नहीं है।

अज्ञानी जीव तर्क करता है कि बहुतों का काम कर दे वह जीव कहलाता है, उद्यम न करे और एक ओर पड़ा रहे, क्या वह जीव कहलाता है? उसका समाधान यह है कि भाई! पर की अवस्था करना अथवा उद्यम के भाव करना वह जीव का लक्षण ही नहीं है। तेरा लक्षण तो पर को तथा राग के परिणाम को जाननेरूप चैतन्यपरिणाम है। तात्पर्य यह है कि चैतन्यपरिणाम जीव द्रव्य को सिद्ध करता है।

इसप्रकार गुण विशेष से द्रव्यों के भेद जानना चाहिए।

इसप्रकार पूर्व गाथा में कहा गया था कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से पुद्गल द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है और इस गाथा में अरूपी द्रव्यों के लक्षण बतलाकर उनको सिद्ध किया है।

(१) जानने-देखने का लक्षण जीव का अनुभव में आता है, इसलिए इस लक्षण से अनंत जीवों का अस्तित्व सिद्ध होता है। शरीर की क्रिया अथवा राग से जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

(२) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल स्वयं के कारण अवगाहन करते हैं, तब कोई द्रव्य उसमें निमित्त होना चाहिए; और वह द्रव्य लोक-अलोक में व्याप्त अनंत प्रदेशी एक अखण्ड अरूपी आकाश है।

(३) जैसे मछली को गति करने में जल निमित्त है; वैसे ही जीव और पुद्गल स्वयं स्वतः गति करें, तब उसमें निमित्त कोई भी द्रव्य होना चाहिए; और वह लोकव्यापक असंख्यप्रदेशी एक अखण्ड अरूपी अधर्मद्रव्य है।

(५) जैसे मनुष्य को स्थिति करने में पृथ्वी निमित्त है; वैसे ही जीव और पुद्गल स्वयं स्वतः स्थिति करें अर्थात् गतिपूर्वक स्थिर हों, तब स्थिति में निमित्त कोई द्रव्य होना चाहिए और वह लोकव्यापक असंख्यप्रदेशी एक अखण्ड अरूपी अधर्मद्रव्य है।

(६) जैसे कुम्भकार के चाक को घूमने में कीली निमित्तभूत है; वैसे ही जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश स्वयं स्वतः अपने-अपने परिणामन स्वभाव के कारण परिवर्तन को प्राप्त होते हैं, तब परिवर्तन में निमित्त कोई द्रव्य होना चाहिए; वह द्रव्य लोक के प्रत्येक प्रदेश में एक ह्व ऐसे असंख्य अरूपी कालाणु हैं। जिनकी अवस्था समय, दिवस, घड़ी, वर्ष इत्यादि रूप से व्यक्त होती है। इससे काल सिद्ध होता है।

कोई प्रश्न करे कि ज्ञेयों के इतने अधिक भेद क्यों? इतना अधिक जानने से ज्ञान उद्धत हो जाए तो? इतनी अधिक आफत क्यों? अकेले आत्मा को जानकर बैठे रहें तो क्या बाधा है? उससे कहते हैं कि अनंत प्रकार के ज्ञेयों को जानने का तेरा स्वभाव है। यदि तू यह कहे कि मुझे भेद को नहीं जानना है; तो तू अपने ज्ञानस्वभाव का ही अस्वीकार करता है।

तेरा अनंत को जानने का अपरिमित स्वभाव है। अधिक जानने से ज्ञान उद्धत नहीं होता; अपितु प्रशम के लक्ष से मन को गंभीर करके ज्ञेयों को जानने से वीतरागदशा प्रगट होती है।

समस्त ज्ञेयों को जानने का तेरा स्वभाव है, इसलिए राग नहीं होता; परन्तु राग की भूमिका है, इसलिए राग होता है। केवली भगवान अनंत पदार्थों को अनंत भेद-प्रभेद सहित जानते हैं, उनको राग बिल्कुल नहीं होता। छह द्रव्य तेरे ज्ञेय हैं, उतना जानने का तेरा ज्ञान है। यदि तू छह द्रव्यों के ज्ञान से कम ज्ञान करेगा; तो तूने ज्ञानगुण को नहीं माना है और इसकारण जीव को भी तूने नहीं माना है।

तेरा स्वभाव परपदार्थ की पर्याय को बदलने का नहीं है तथा भविष्यकाल की पर्याय को वर्तमान में लाऊँ हूँ ऐसा विकल्प करना भी तेरा स्वभाव नहीं है। तेरा स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है। यह ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार है। जैसे ज्ञेय हैं वैसे ही ज्ञेयों को जानना तेरा कर्तव्य है हूँ यही धर्म और शान्ति का कारण है। ●

अपूर्णाता और अल्पज्ञता की अपनी मान्यता को अब पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ हूँ ऐसा निर्विकल्परूप से स्वीकार! तू ज्ञान-दर्शनादि अनंत शक्तियों का समूह है। क्षेत्र भले ही अल्प हो; परन्तु संख्या से तथा स्वभाव से अपरिमित एवं अनन्त है। तू अनंत ज्ञान एवं परम आनन्दस्वभावी है इसलिये बाहरी तड़क-भड़क को भूल जा! व्रत-तपादि के विकल्प को भूल जा और अल्पज्ञता को भी तू भूल जा। अरे! चार ज्ञान प्रगट हुए हों तो उन्हें भी भूल जा और त्रैकालिक पर दृष्टि रख!

हूँ द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१७

### प्रवचनसार गाथा १३५

अब, द्रव्य का १प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्वरूप विशेष (भेद) बतलाते हैं :हूँ

जीवापोगलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं ।

सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥१३५॥

( हरिगीत )

हैं बहुप्रदेशी जीव पुद्गल गगन धर्माधर्म सब ।

है अप्रदेशी काल जिनवरदेव के हैं ये वचन ॥१३५॥

अन्वयार्थ :हूँ [ जीवाः ] जीव [ पुद्गलकायाः ] पुद्गलकाय, [ धर्माधर्मौ ] धर्म, अधर्म [ पुनः च ] और [ आकाशं ] आकाश [ स्वप्रदेशैः ] स्वप्रदेशों की अपेक्षा से [ असंख्याताः ] असंख्यात अर्थात् अनेक हैं; [ कालस्य ] काल के [ प्रदेशाः इति ] प्रदेश [ न सन्ति ] नहीं हैं।

टीका :हूँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेशवाले होने से प्रदेशवान् हैं। कालाणु प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होने से अप्रदेशी है।

(उपरोक्त बात को स्पष्ट करते हैं :हूँ) संकोच-विस्तार के होने पर भी जीव लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशों को नहीं छोड़ता, इसलिये वह प्रदेशवान् है; पुद्गल, यद्यपि द्रव्य अपेक्षा से प्रदेशमात्र (एकप्रदेशी) होने से अप्रदेशी है तथापि, दो प्रदेशों से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशोंवाली पर्यायों की अपेक्षा से अनिश्चित प्रदेशवाला होने से प्रदेशवान् है; सकल लोकव्यापी असंख्य प्रदेशों के १प्रस्ताररूप होने से धर्म प्रदेशवान् है; सकललोकव्यापी असंख्यप्रदेशों के प्रस्ताररूप होने से अधर्म प्रदेशवान् है; और सर्वव्यापी अनन्तप्रदेशों के प्रस्ताररूप होने से

१. प्रदेशवत्त्व = प्रदेशवानपना

२. प्रस्तार = फैलाव; विस्तार।

आकाश प्रदेशवान् है। कालाणु तो द्रव्य से प्रदेशमात्र होने से और पर्याय से परस्पर संपर्क न होने से अप्रदेशी ही है।

इसलिये कालद्रव्य अप्रदेशी है और शेष द्रव्य प्रदेशवान् हैं।

### गाथा १३५ पर प्रवचन

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश स्वप्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यात अर्थात् अनेक हैं; काल के प्रदेश नहीं हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेशोंवाले होने से प्रदेशवंत हैं। कालाणु एकप्रदेशी होने से अप्रदेशी हैं। अनेक प्रदेशी द्रव्य हैं तो एकप्रदेशी द्रव्य होना चाहिए। इसप्रकार एक तथा अनेक प्रदेशीपना द्वैतपना बताता है।

जीव संकोच-विस्तार को प्राप्त होता है। वह चींटी का छोटा रूप धारण करे या हाथी का बड़ा रूप धारण करे अथवा केवली समुद्घात करे, तब भी जीव लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशों को कभी नहीं छोड़ता। असंख्य प्रदेशों से कभी भी कम-ज्यादा नहीं होता। इसलिए जीव प्रदेशवान है।

धर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है और वह असंख्य प्रदेशी अखण्ड द्रव्य है; इसलिए प्रदेशवान है। अधर्मद्रव्य भी समस्त लोकाकाश में व्याप्त है और वह भी असंख्यप्रदेशी अखण्ड द्रव्य है; इसलिए प्रदेशवान है और आकाश लोक तथा अलोक में सर्वव्यापक है, वह अनंत प्रदेशी अखण्ड द्रव्य है; इसलिए प्रदेशवान है।

कालाणु एक ही प्रदेशी है। जिसप्रकार परमाणु दूसरे परमाणु के साथ मिलकर स्कंधरूप होने से अनेक प्रदेशी होता है; उसप्रकार कालाणु दूसरे कालाणु के साथ मिलकर स्कंधरूप नहीं होता। इसका कारण यह है कि कालाणु में स्निग्धता-रुक्षता नामक गुण नहीं है। कालाणु अमूर्त द्रव्य है। जिससे कालाणु का दूसरे कालाणु के साथ व्यवहार से भी सम्पर्क नहीं है। इसलिए कालाणु निश्चय से तथा व्यवहार से एक ही प्रदेशी है अर्थात् अप्रदेशी है।

जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह इन पाँच द्रव्यों में परमाणुओं की तरह दो मिलकर स्कंध होनेरूप संयोगी पर्याय नहीं है। पुद्गल में ही ऐसी पर्याय है। ह इसप्रकार भी द्रव्यों के दो भेद समझना चाहिए।

इसप्रकार काल अप्रदेशी है और शेष पाँच द्रव्य प्रदेशवंत हैं ह ऐसा निश्चित किया। यह बात सर्वज्ञ के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं है। सर्वज्ञ कथित ज्ञेयों का यथार्थ ज्ञान करके अपने ज्ञान को निर्मल और दृढ़ करना चाहिए।

इस गाथा में द्रव्यों के प्रदेशों की बात की गई है। सोने की चैन में एक के बाद एक ऐसी बहुत कड़ियाँ होती है। इस दृष्टान्त से प्रदेशों को समझना चाहिए। ●

### पाथेय (नाश्ता) कैसा?

एक गाँव से दूसरे गाँव जाये तो पाथेय (नाश्ता) साथ लेकर जाता है, तब फिर अन्य भव में जाने के लिये कुछ पाथेय होना चाहिये या नहीं? श्रद्धा-ज्ञान का पाथेय साथ लेकर जाना चाहिये। स्त्री के सामने देखे तो पाप, बच्चों के सामने देखें तो पाप, पैसे के सामने देखें तो पाप, पर की ओर देखने से सर्वत्र पाप...पाप... और .... पाप है। अरे! उसे जाना कहाँ है? राग और मैं एक हूँ हूँ ऐसा मिथ्यात्व का पाथेय लेकर जाना है? मैं तो राग से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसा पाथेय लेकर जायें तो उसे आगे बढ़ने में काम आयेगा। भीतर असंख्य प्रदेश में गहराई तक ध्रुवधरातल में पर्याय को ले जाना है। यह तो धीरों का ह वीरों का काम है।

ह द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१०८

### प्रवचनसार गाथा १३६

अब, यह बतलाते हैं कि प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं :ह

**लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो ।**

**सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोगला सेसा ॥१३६॥**

( हरिगीत )

गगन लोकालोक में अर लोक धर्माधर्म से ।

है व्याप्त अर अवशेष दो से काल पुद्गलजीव हैं ॥१३६॥

अन्वयार्थ :ह [ नभः ] आकाश [ लोकालोकयोः ] लोकालोक में है, [ लोकः ] लोक [ धर्माधर्माभ्याम् आततः ] धर्म और अधर्म से व्याप्त है, [ शेषौ प्रतीत्य ] शेष दो द्रव्यों का आश्रय लेकर [ कालः ] काल है, [ पुनः ] और [ शेषौ ] शेष दो द्रव्य [ जीवाः पुद्गलाः ] जीव और पुद्गल हैं ।

टीका :ह प्रथम तो आकाश लोक तथा अलोक में है, क्योंकि छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय में बिना विभाग के रहता है । धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोक में है, क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है ऐसे जीव और पुद्गलों की गति या स्थिति लोक से बाहर नहीं होती, और न लोक के एक देश में होती है, (अर्थात् लोक में सर्वत्र होती है) । काल भी लोक में है, क्योंकि जीव और पुद्गलों के परिणामों के द्वारा (काल की) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं; और वह काल लोक के एक प्रदेश में ही है क्योंकि वह अप्रदेशी है । जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में हैं, क्योंकि लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप है ।

और इसके अतिरिक्त (इतना विशेष जानना चाहिये कि), प्रदेशों का संकोच-विस्तार होना वह जीव का धर्म है, और बंध के हेतुभूत स्निग्ध-रूक्ष (-चिकने-रूखे) गुण पुद्गल का धर्म होने से जीव और पुद्गल का समस्त लोक में या उसके एकदेश में रहने का नियम नहीं है । (और) काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के

एकदेश में रहते हैं और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से अंजनपूर्ण (काजल) से भरी हुई डिबिया के न्यायानुसार समस्त लोक में ही हैं ।

### गाथा १३६ पर प्रवचन

आकाश लोकालोक में है, लोक धर्म-अधर्म से व्याप्त है, शेष दो द्रव्यों का आश्रय लेकर काल है और वे शेष दो द्रव्य जीव और पुद्गल हैं ।

आकाश ह आकाश लोक तथा अलोक में है । क्योंकि वह छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय में बिना विभाग के रहता है । लोक-अलोक के कारण आकाश के दो भाग नहीं है, वह तो अखण्ड एक द्रव्य है ।

धर्म-अधर्म ह धर्म और अधर्मद्रव्य सर्वत्र लोक में है । क्योंकि उनके निमित्त से जीव तथा पुद्गलों की गति तथा स्थिति होती है; और वे जीव तथा पुद्गल लोक से बाहर नहीं होते तथा उनकी गति-स्थिति लोक के एक ही भाग में नहीं होती, सर्वत्र गति-स्थिति होती है । इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्य लोकव्यापक है ।

काल ह कालाणु भी लोक में है । क्योंकि जीव और पुद्गलों की अवस्था द्वारा काल की पर्यायें समय आदि व्यक्त होती हैं; और वह काल लोक के एक प्रदेश में ही है, क्योंकि वह अप्रदेशी है ।

जीव और पुद्गल ह जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में है; क्योंकि लोक छह द्रव्यों का समुदाय है ।

इसके अतिरिक्त इतना विशेष समझना कि प्रदेशों का संकोच-विस्तार होना तो जीव का धर्म है । कोई कहे कि कर्म के कारण संकोच-विस्तार होता होगा? तो कहते हैं कि नहीं । संसारदशा में जीव का स्वयं का पर्यायधर्म संकोच-विस्ताररूप होने का है । ह इसकारण वह छोटा-बड़ा रूप धारण करता है ।

पुद्गल में स्निग्धता-रूक्षता गुण होने से वह मिलकर स्कंध भी होता है और बिखर भी जाता है ह ऐसा उसका स्वभाव है ।

जीव और पुद्गल का समस्त लोक में अथवा लोक के एक ही भाग में रहने का नियम नहीं है। जैसे कि जीव समुद्घात करे तब लोकप्रमाण हो जाता है और निगोद में जाए तब सूक्ष्मरूप धारण करके, एक शरीर में अनंत निगोद के जीव संकोच पाकर रहते हैं। पुद्गल का अचेत महास्कंध लोकव्यापक है और एक प्रथक् परमाणु लोक के एक प्रदेश में भी रहता है।

काल, जीव और पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के एक भाग में रहते हैं और जैसे अंजन चूर्ण से पूरी डिब्बी भरी है, उसप्रकार काल, जीव और पुद्गल अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से सम्पूर्ण लोक में ही है। लोक का कोई प्रदेश ऐसा नहीं है कि जहाँ काल, जीव और पुद्गल न हों। धर्म और अधर्म तो लोकप्रमाण हैं ही; अनंत जीव, अनंत पुद्गल तथा असंख्य कालाणु भी लोकप्रमाण रहते हैं।

इसप्रकार ज्ञेयों के क्षेत्र का यथार्थ ज्ञान करना ज्ञान की निर्मलता का कारण है। ●

भाई! तू शरीर-वाणी-मन और राग को भूल जा, वे तुझमें नहीं हैं। अरे! तेरी निर्मल पर्याय के प्रगट होने में द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं है, पूर्व पर्याय के व्यय की अपेक्षा नहीं है, तब व्यवहार से होता है यह बात कहाँ रही? पर्याय का ऐसा स्वतंत्र सामर्थ्य है। पर्याय स्वतंत्र ही होती है ऐसा निर्णय करने पर उसका लक्ष कहाँ जायेगा? ह्व द्रव्य की ओर ही लक्ष जायेगा और उसका नाम ही पुरुषार्थ है। द्रव्य की ओर लक्ष जाने से ज्ञान में द्रव्य का ज्ञान आता है; परन्तु द्रव्य नहीं आता। जिसे सत् का निर्णय हो उसकी दृष्टि द्रव्य पर ही जाती है। यही करना है, शेष सब तो धूल है ह्व व्यर्थ है।

**ह्व द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१०३**

### प्रवचनसार गाथा १३७

अब, यह कहते हैं कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किसप्रकार से संभव है ह्व

**जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेस हवंति सेसाणं ।**

**अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥१३७॥**

( हरिगीत )

जिसतरह परमाणु से है नाप गगन प्रदेश का ।

बस उसतरह ही शेष का परमाणु रहित प्रदेश से ॥१३७॥

अन्वयार्थ : ह्व [ यथा ] जैसे [ ते नभः प्रदेशाः ] वे आकाशप्रदेश हैं, [ तथा ] उसीप्रकार [ शेषाणां ] शेष द्रव्यों के [ प्रदेशाः भवन्ति ] प्रदेश हैं (अर्थात् जैसे ह्व आकाश के प्रदेश परमाणुरूपी गज से नापे जाते हैं उसीप्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश भी इसीप्रकार नापे जाते हैं) । [ परमाणुः ] परमाणु [ अप्रदेशः ] अप्रदेशी है; [ तेन ] उसके द्वारा [ प्रदेशोद्भवः भणितः ] प्रदेशोद्भव कहा है।

टीका : ह्व (भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य) स्वयं ही (१४०वें) सूत्र द्वारा कहेंगे कि आकाश के प्रदेश का लक्षण एकाणुव्याप्यत्व है (अर्थात् एक परमाणु से व्याप्त होना वह प्रदेश का लक्षण है); और यहाँ (इस सूत्र या गाथा में) 'जिसप्रकार आकाश के प्रदेश हैं उसीप्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं' इसप्रकार प्रदेश के लक्षण की एकप्रकारता कही जाती है।

इसलिये, जैसे एकाणुव्याप्य (एक परमाणु से व्याप्य हो ऐसे) अंश के द्वारा गिने जाने पर आकाश के अनन्त अंश होने से आकाश अनन्तप्रदेशी है, उसीप्रकार एकाणुव्याप्य (ह्व एक परमाणु से व्याप्त होने योग्य) अंश के द्वारा गिने जाने पर धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात अंश होने से वे ह्व प्रत्येक असंख्यातप्रदेशी हैं। और जैसे <sup>१</sup>अवस्थित प्रमाणवाले धर्म

१. अवस्थित प्रमाण = नियत परिमाण, निश्चित माप; (धर्म तथा अधर्म द्रव्य का माप लोक जितना नियत है।)



तथा अधर्म असंख्यातप्रदेशी हैं, उसीप्रकार संकोचविस्तार के कारण अनवस्थित प्रमाणवाले जीव के ह्व सूखे-गीले चमड़े की भाँति-निज अंशों का अल्पबहुत्व नहीं होता इसलिये असंख्यातप्रदेशीपना ही है। (यहाँ यह प्रश्न होता है कि अमूर्त ऐसे जीव का संकोच विस्तार कैसे संभव है? उसका समाधान किया जाता है :ह्व) अमूर्त के संकोच विस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है, क्योंकि (सबको स्वानुभव से स्पष्ट है कि) जीव स्थूल तथा कृश शरीर में, तथा बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है।

पुद्गल तो द्रव्यतः एकप्रदेशमात्र होने से यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकार से अप्रदेशी है तथापि दो प्रदेशादि के उद्भव के हेतुभूत तथाविध (उस प्रकार के) स्निग्ध-रूक्षगुणरूप परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उसके प्रदेशों का उद्भव है; इसलिये पर्याय से अनेकप्रदेशीपने का भी संभव होने से पुद्गल को द्विप्रदेशीपने से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशीपना भी न्याययुक्त है।

### गाथा १३७ पर प्रवचन

अब, यह बतलाते हैं कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किस प्रकार से संभव है ह्व

जैसे वे आकाशप्रदेश हैं, उसीप्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं अर्थात् जैसे आकाश के प्रदेश परमाणुरूपी गज से नापे जाते हैं, उसीप्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश भी इसीप्रकार नापे जाते हैं। परमाणु अप्रदेशी है; उसके द्वारा प्रदेशोद्भव कहा है।

इस गाथा में ज्ञानप्रधान कथन है। ज्ञेयों का स्वभाव जाने बिना

१. अनवस्थित = अनियत; अनिश्चित; (सूखे-गीले चर्म की भाँति जीव परक्षेत्र की अपेक्षा से संकोच विस्तार को प्राप्त होने से अनिश्चित मापवाला है। ऐसा होने पर भी, जैसे चमड़े के निज-अंश कम-बढ़ नहीं होते, उसीप्रकार जीव के निज-अंश कम-बढ़ नहीं होते; इसलिये वह सदा नियत असंख्यप्रदेशी ही है।)

२. द्विप्रदेशी इत्यादि स्कन्धों की उत्पत्ति के कारणभूत जो स्निग्ध-रूक्ष गुण हैं उनरूप परिणमित होने की शक्ति पुद्गल का स्वभाव है।

सच्चीश्रद्धा नहीं होती और सच्चीश्रद्धा-ज्ञान बिना चारित्र नहीं हो सकता। ज्ञान किए बिना जीव वन में रहे, नग्नदशा धारण करे, क्षमा धारण करे; परन्तु उससे एक अंश भी धर्म नहीं होता। ज्ञेयों का जैसा स्वभाव है वैसा जानना चाहिए। ज्ञेयों को जानने से इन्कार करनेवाला अपने ज्ञानस्वभाव से ही इन्कार करता है। इसलिए बाह्य से मंदकषाय होने पर भी, अज्ञान के कारण संसार में रहता है। लोग बाह्यतप और हठपूर्वक की क्रियाओं में लग रहे हैं; परन्तु उनमें धर्म नहीं है। जब ज्ञेयों के स्वभाव की बात कान में पड़ती है, तब नकार न लाकर अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा लाना चाहिए।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव स्वयं ही १४०वीं गाथा में कहेंगे कि आकाश के प्रदेश का लक्षण एक अणु से व्याप्यपना है। यहाँ क्षेत्र का माप बताया जा रहा है। आकाश का एक प्रदेश कितना? कि एक सूक्ष्म परमाणु आकाश की जितनी जगह रोके उतना। जिसप्रकार आकाश के प्रदेश हैं, उसीप्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं ह्व इसप्रकार यहाँ प्रदेश के लक्षण की एकरूपता बतलाई गई है। जैसे कपड़े का माप गज से निकलता है, उसीप्रकार एक परमाणु आकाश की जितनी जगह रोकता है उतने से ह्व उस गज से सभी द्रव्यों के प्रदेशों का माप निकाला जा सकता है।

एक परमाणु जितनी जगह रोके उतने भाग द्वारा गिनने से आकाश के अनन्त अंश निश्चित होते हैं, इसलिए आकाश अनन्तप्रदेशी है। इसीतरह इस माप द्वारा गणना करने पर धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्य प्रदेश हैं, इसलिए ये तीनों द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का माप लोक जितना नियत है। वह कभी छोटा-बड़ा नहीं होता, एकरूप अवस्थित प्रमाणवाला रहता है और उनके असंख्य प्रदेश हैं। जीव सूखे-गीले चमड़े की तरह परक्षेत्र की अपेक्षा से संकोच-विस्तार पाता होने से कभी हाथी जितना बड़ा, तो कभी चींटी जितना छोटा, कभी समुद्घात के समय लोकप्रमाण और कभी निगोद के शरीर में अनन्त, जीवों के साथ सूक्ष्मरूप होता होने से अनिश्चित मापवाला है। ऐसा होने पर भी, जैसे चमड़े के स्व अंश कम-

ज्यादा नहीं होते, उतने के उतने ही रहते हैं; उसीप्रकार जीव छोटा हो या बड़ा हो, तो भी उसके स्व अंश कम-ज्यादा नहीं होते। इसीकारण जीव का असंख्य प्रदेशीपना सदा नियत ही है। जीव समुद्घात करे तब प्रदेश बढ़ जाते हैं और निगोद में जाए तब घट जाते हैं हू ऐसा कभी नहीं होता। वह सदा नियत असंख्यप्रदेशी ही है।

**प्रश्न** हू अमूर्त जीव संसारदशा में संकोच-विस्तार को प्राप्त होता है, तो वह कर्म अथवा शरीर के कारण संकोच-विस्तार को प्राप्त होता है और सिद्धदशा में कर्म तथा शरीर नहीं होने से संकोच-विस्तार नहीं होता हू यह बात सत्य है न?

**उत्तर** हू नहीं, यह बात सत्य नहीं है। संकोच-विस्तार संसारीजीव का पर्यायधर्म है। वह अपनी योग्यता के कारण होता है; और प्रत्येक जीव को वह अनुभवगम्य भी है। जीव कर्म के अथवा शरीर के कारण छोटा-बड़ा नहीं होता। जीव तो चेतनद्रव्य है। उसका पर्यायधर्म भी जड़कर्म अथवा शरीर के आधार से नहीं है।

एक पुद्गलपरमाणु एक प्रदेश में स्थिर रहता है, दूसरा परमाणु मंदगति से दूसरे प्रदेश में जाता है और तीसरा परमाणु शीघ्र गति से चौदह राजू लोक ऊँचा जाता है। तीनों का समय एक ही है, फिर भी ऐसी विचित्रता का क्या कारण है? हू प्रत्येक पर्याय का वर्तमान स्वभाव अथवा योग्यता हू यह एक ही कारण है। इसीप्रकार इस दृष्टान्त से कोई जीव समुद्घात करके लोकप्रमाण फेलता है, कोई जीव निगोद में जाकर संकुचित हो जाता है, कोई हाथी के आकार तो कोई चींटी के आकार होता है। इतनी सब विचित्रता का कारण क्या है? उसका समाधान यह है कि कोई शरीर अथवा कर्म कारण नहीं है; वर्तमान पर्यायस्वभाव ही कारण है। प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक वर्तमान पर्याय अकारणीय है, अहेतुक है।

यद्यपि पुद्गल परमाणु द्रव्य की अपेक्षा से तो एकप्रदेशी है, इससे अप्रदेशी है; तथापि उसमें स्निग्धता-रुक्षता गुण होने के कारण वह दो प्रदेशी से लेकर अनंत प्रदेशी होता है हू ऐसा उसका स्वभाव है। दो गुण

स्निग्धतावाला परमाणु स्कंध में मिलकर चार गुण स्निग्धतावाला हो जाता है। तथा एक प्रदेशी परमाणु अनंत प्रदेशी स्कंधवाला होता है हू उसका कारण क्या? कारण एक ही है और वह है उस-उस समय का उसका पर्याय स्वभाव। पुद्गल में स्वकाल में पर्याय हुई, तब व्यवहार से काल को कारण कहा जाता है। इसीप्रकार परमाणु में स्कंधरूप होने की योग्यता है; इसकारण पर्याय में अनेक प्रदेशीपना भी संभव होने के कारण पुद्गल को संख्यात, असंख्यात और अनंतप्रदेशीपना भी न्याययुक्त है।

इसप्रकार अप्रदेशी और सप्रदेशी द्रव्य भी ज्ञेय है और उन ज्ञेयों का ज्यों का त्यों ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान का कारण है। ●

### भागवत् कथा

अन्तर में ज्ञायकदेव की महिमा आये तब समस्त संसार का रस छूट जाता है और तभी भगवान आत्मा समीप आता है। भाई! यह तो भगवान की कथा है, भागवत् कथा! निज ज्ञायक भगवान को बतलाने वाली है और वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कही गई है, इसलिये यह भागवत् कथा है। अनंत अगाध शक्तियों के धारक ऐसे निज अभेद चैतन्यस्वरूप का रस लगे उसको संसार का रस छूट जाता है हू विषय की वासना से सुखबुद्धि उड़ जाती है। अंतर में जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ की हू आनन्दस्वरूप निज ज्ञायक प्रभु की हू महिमा आयी, दृष्टि में उसका स्वीकार और सत्कार हुआ, वहाँ शुभभाव की महिमा भी उड़ जाती है हू ज्ञानी को व्रतादि के शुभ परिणाम में भी राग और दुःख लगता है, उसमें से सुखबुद्धि उड़ जाती है।

हू द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-११४

### प्रवचनसार गाथा १३८

अब, 'कालाणु अप्रदेशी ही है' ऐसा नियम करते हैं (अर्थात् दरशाते हैं :ह)

समओ दु अप्पदेशो पदेशमेत्तस्स दव्वजादस्स ।

वदिवददो सो वट्टदि पदेशमागासदव्वस्स ॥१३८॥

( हरिगीत )

पुद्गलाणु मंदगति से चले जितने काल में ।

रे एक गगनप्रदेश पर परदेश विरहित काल वह ॥१३८॥

अन्वयार्थ :ह [ समय: तु ] काल तो [ अप्रदेश: ] अप्रदेशी है, [ प्रदेशमात्रस्य द्रव्य जातस्य ] प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु [ आकाशद्रव्यस्य प्रदेशं ] आकाश द्रव्य के प्रदेश को [ व्यतिपतत: ] मंद गति से उल्लंघन कर रहा हो तब [ स: वर्तते ] वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है ।

टीका :ह काल, द्रव्य से प्रदेशमात्र होने से, अप्रदेशी ही है । और उसे पुद्गल की भाँति पर्याय से भी अनेकप्रदेशीपना नहीं है; क्योंकि परस्पर अन्तर के बिना 'प्रस्ताररूप विस्तृत प्रदेशमात्र असंख्यात कालद्रव्य होने पर भी परस्पर संपर्क न होने से एक-एक आकाशप्रदेश को व्याप्त करके रहनेवाले कालद्रव्य की वृत्ति तभी होती है (अर्थात् कालाणु की परिणति तभी निमित्तभूत होती है) कि जब 'प्रदेशमात्र परमाणु उस (कालाणु) से व्याप्त एक आकाशप्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता हो ।

भावार्थ :ह लोकाकाश के असंख्यातप्रदेश हैं । एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु रहा हुआ है । वे कालाणु स्निग्ध-रूक्षगुण के अभाव

१. प्रस्तार = विस्तार । (असंख्यात कालद्रव्य समस्त लोकाकाश में फैले हुए हैं । उनके परस्पर अन्तर नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश में एक-एक कालद्रव्य रह रहा है ।

२. प्रदेशमात्र = एकप्रदेशी (जब एकप्रदेशी ऐसा परमाणु किसी एक आकाशप्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन कर रहा हो तभी उस आकाशप्रदेश में रहनेवाले कालद्रव्य की परिणति उसमें निमित्तभूतरूप से वर्तती है ।)

के कारण रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् ही रहते हैं, पुद्गल-परमाणुओं की भाँति परस्पर मिलते नहीं हैं ।

जब पुद्गलपरमाणु आकाश के एक प्रदेश को मन्द गति से उल्लंघन करता है (अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे अनन्तर-निकटतम प्रदेश पर मन्द गति से जाता है) तब उस (उल्लंघित किये जानेवाले) प्रदेश में रहनेवाला कालाणु उसमें निमित्तभूतरूप से रहता है । इसप्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गलपरमाणु के एकप्रदेश तक के गमन पर्यंत ही सहकारी रूप से रहता है, अधिक नहीं; इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य पर्याय से भी अनेकप्रदेशी नहीं है ।

### गाथा १३८ पर प्रवचन

अब, यह नियम बतलाते हैं कि कालाणु अप्रदेशी ही है ।

काल तो अप्रदेशी है, प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु आकाश द्रव्य के प्रदेश को मंदगति से उल्लंघन कर रहा हो तब वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है ।

काल, द्रव्यतः एक ही प्रदेशी होने से, अप्रदेशी ही है । और जैसे एक परमाणु प्रथक् होने पर भी उसमें स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण वह पर्यायतः अनेक प्रदेशी होता है । कालाणु में वैसे स्निग्धता-रूक्षता नहीं है । वह तो अमूर्त द्रव्य है, इसकारण उसमें स्कंधरूप होने की सामर्थ्य नहीं है और वह अनादि-अनंत जहाँ है वहीं रहता है, क्षेत्रांतर नहीं करता । उसमें पर्यायतः भी अनेकप्रदेशपना नहीं है । सम्पूर्ण लोक में असंख्य कालाणु स्थित हैं । उनके परस्पर अंतर नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश में एक-एक काल द्रव्य रहा हुआ है, तो भी एक कालाणु दूसरे कालाणु के साथ कभी नहीं मिलता है ।

एक प्रदेशी परमाणु किसी एक आकाश प्रदेश को मंदगति से उल्लंघन करता हो तब ही उस आकाश प्रदेश में स्थित कालद्रव्य की परिणति उसको निमित्तभूतपने वर्तती है ।

प्रश्न ह एक कालाणु और दूसरे कालाणु के बीच जगह नहीं है और

फिर आप कहते हो कि एक प्रदेश दूसरे को स्पर्श नहीं करता हू तो इसका क्या स्पष्टीकरण है?

उत्तर हू पुद्गल, जो कि संयोग से स्कंधरूप होता है, वहाँ भी एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता; तो काल जो कि अमूर्तद्रव्य, जिसमें कभी स्कंधरूप अवस्था नहीं होती, वह एक-दूसरे को स्पर्श करें हू ऐसा नहीं हो सकता। तथा यदि एक प्रदेश दूसरे प्रदेश में एकमेक होता हो तो जीव के तथा अन्य द्रव्यों के असंख्य आदि जो-जो प्रदेश हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिए जीवद्रव्य असंख्य प्रदेशी एक होने पर भी उसका एक प्रदेश, वह दूसरा प्रदेश नहीं है। प्रत्येक प्रदेश की सत्ता अलग है। इसप्रकार प्रदेशों में भी अनेकांत है। दूसरे द्रव्यों के प्रदेशों में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए।

एक परमाणु को मंदगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने में जो समय लगा, उसको कालद्रव्य की पर्याय निमित्त होती है। पर्याय से पर्यायवान कालद्रव्य सिद्ध होता है। द्रव्य के बिना अकेली पर्याय नहीं हो सकती। इसप्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश में एक ऐसे असंख्य कालाणु हैं। कितने ही जीव काल को औपचारिक द्रव्य मानते हैं; परन्तु वह मान्यता मिथ्या है। काल निश्चय पदार्थ है। आगामी गाथाओं में उसकी सिद्धि की जाएगी। ज्ञेय जैसे हैं वैसे नहीं जाने तो ज्ञान की सामर्थ्य सिद्ध नहीं होती।

उक्त सम्पूर्ण कथन का संक्षिप्त सार यह है कि लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। उस कालाणु में स्निग्धता-रुक्षता नहीं होने से वे मिलते नहीं हैं; किन्तु रत्न राशि की तरह प्रथक्-प्रथक् ही रहते हैं। उसका कारण यह है कि कालाणु में वैसी ही योग्यता है।

जब पुद्गल परमाणु मंदगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाता है, तब उस प्रदेश में रहा हुआ कालाणु उसको निमित्त होता है। यहाँ गति की बात नहीं है; किन्तु गति करने में जो समय लगा उससे काल

की पर्याय निश्चित होती है और पर्याय से कालाणु-द्रव्य निश्चित होता है। इसप्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गल के परमाणु को एक प्रदेश तक जाने में निमित्तरूप वर्तता है। अधिक प्रदेशों तक जाने में एक कालाणु निमित्तरूप नहीं वर्तता दूसरे प्रदेश में दूसरा और तीसरे प्रदेश में तीसरा कालाणु निमित्तरूप वर्तता है। इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य पर्याय से भी एक ही प्रदेशी है, अनेक प्रदेशी नहीं।

अपने कुटुम्ब के बड़े बुजुर्ग चाँदी, सोना, गहना, रोकड़ पूँजी छोड़ गये हों तो अज्ञानी जीव उस सबकी खोजबीन करता है, उससे निवृत्त नहीं होता; क्योंकि उनमें इसको रस है; परन्तु अनंत तीर्थकर और आचार्य ज्ञेयों के स्वभाव की पूँजी छोड़ गये हैं। उसमें संसार लोलुपी जीव को रस नहीं होने के कारण वह खोजबीन नहीं करता है। मुमुक्षु जीवों को स्वभाव की ऋद्धि को पहिचानना चाहिए और अपने ज्ञान को निर्मल करना चाहिए।

### आत्मा अवश्य प्राप्त होगा

भाई! यदि तुझे अपना हित करना हो, यदि तू संसारभ्रमण का अंत करना चाहता हो तो छह महीने तक अभ्यास कर और देख कि जिसका प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसा आत्मा अपने हृदयसरोवर में तुझे प्राप्त होता है या नहीं? अवश्य प्राप्त होगा। क्योंकि अपनी अप्राप्ति कहीं शोभा देती है? पूर्णानन्दस्वरूप चैतन्यवस्तु को देख, छह महीने तक उसका अभ्यास कर और देख कि तुझे वह आत्मा प्राप्त होता है या नहीं? अवश्य प्राप्त होगा।

हू द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-११९

### प्रवचनसार गाथा १३९

अब, कालपदार्थ के द्रव्य और पर्याय को बतलाते हैं :ह

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।

जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥१३९॥

( हरिगीत )

परमाणु गगनप्रदेश लंघन करे जितने काल में ।

उत्पन्नध्वंसी समय परापर रहे वह ही काल है ॥१३९॥

अन्वयार्थ :ह [ तं देशं व्यतिपततः ] परमाणु एक आकाशप्रदेश का (मन्दगति से) उल्लंघन करता है तब [ तस्समः ] उसके बराबर जो काल (लगता है) वह [ समयः ] 'समय' है; [ ततः पूर्वः परः ] (उस समय) से पूर्व तथा पश्चात् ऐसा (नित्य) [ यः अर्थः ] जो पदार्थ है [ सः कालः ] वह कालद्रव्य है; [ समयः उत्पन्नध्वंसी ] 'समय' उत्पन्नध्वंसी है ।

टीका :ह किसी प्रदेशमात्र कालपदार्थ के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो उस प्रदेश को जब परमाणु मन्द गति से अतिक्रम (उल्लंघन) करता है तब उस प्रदेशमात्र 'अतिक्रमण के 'परिमाण के बराबर जो कालपदार्थ की सूक्ष्मवृत्तिरूप 'समय' है वह, उस काल पदार्थ की पर्याय है; और ऐसी उस पर्याय से पूर्व की तथा बाद की 'वृत्तिरूप से प्रवर्तमान होने से जिसका नित्यत्व प्रगट होता है ऐसा पदार्थ वह द्रव्य है । इसप्रकार द्रव्यसमय (कालद्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पन्नध्वंसी है (अर्थात् 'समय' पर्याय उत्पत्ति-विनाशवाली है ।) यह 'समय' निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाश के प्रदेश का निरंशत्व न बने ।

और एक समय में परमाणु लोक के अन्त तक जाता है फिर भी 'समय' के अंश नहीं होते; क्योंकि जैसे (परमाणु के) विशिष्ट (खास

प्रकार का) अवगाह परिणाम होता है उसीप्रकार (परमाणु के) विशिष्ट गति परिणाम होता है । इसे समझाते हैं :ह जैसे विशिष्ट अवगाह परिणाम के कारण एक परमाणु के परिमाण के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कंध बनता है तथापि वह स्कंध परमाणु के अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि परमाणु निरंश है; उसीप्रकार जैसे एक कालाणु से व्याप्त एक आकाशप्रदेश के अतिक्रमण के माप के बराबर एक 'समय' में परमाणु विशिष्ट गति परिणाम के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है तब (उस परमाणु के द्वारा उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते, क्योंकि 'समय' निरंश है ।

भावार्थ :ह परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनंतर (अन्तर रहित) आकाश प्रदेश पर मन्द गति से जाने में जितना काल लगता है उसे 'समय' कहते हैं । वह समय कालद्रव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है । कालद्रव्य नित्य है; 'समय' उत्पन्न होता है और नष्ट होता है । जैसे आकाशप्रदेश आकाश द्रव्य का छोटे से छोटा अंश है, उसके भाग नहीं होते, उसीप्रकार 'समय' कालद्रव्य की छोटी से छोटी निरंश पर्याय है, उसके भाग नहीं होते । यदि 'समय' के भाग हों तो परमाणु के द्वारा एक 'समय' में उल्लंघन किये जानेवाले आकाशप्रदेश के भी उतने ही भाग होने चाहिये; किन्तु आकाशप्रदेश तो निरंश है; इसलिये 'समय' भी निरंश ही है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि "जब पुद्गल-परमाणु शीघ्र गति के द्वारा एक 'समय' में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है तब वह चौदह राजू तक आकाश प्रदेशों में श्रेणिबद्ध जितने कालाणु हैं उन सबको स्पर्श करता है; इसलिये असंख्य कालाणुओं को स्पर्श करने से 'समय' के असंख्य अंश होना चाहिये" । इसका समाधान यह है :ह

जैसे अनन्त परमाणुओं का कोई स्कंध आकाश के एक प्रदेश में समाकर परिमाण में (कद में) एक परमाणु जितना ही होता है, सो वह परमाणुओं के विशेष (खास) प्रकार के अवगाह परिणाम के कारण ही है;

१. अतिक्रमण = उल्लंघन करना ।

२. परिमाण = माप ।

३. वृत्ति = वर्तना सो परिणति है (काल पदार्थ वर्तमान समय से पूर्व की परिणतिरूप तथा उसके बाद की परिणतिरूप से परिणमित होता है, इसलिये उसका नित्यत्व प्रगट है ।)

(परमाणुओं में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार की <sup>१</sup>अवगाह परिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है,) इससे कहीं परमाणु के अनन्त अंश नहीं होते; इसीप्रकार कोई परमाणु एक समय में असंख्य कालाणुओं को उल्लंघन करके लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, सो वह परमाणु के विशेष प्रकार के गति परिणाम के कारण ही है; (परमाणु में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार के गति परिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है;) इससे कहीं 'समय' के असंख्य अंश नहीं होते।

### गाथा १३९ पर प्रवचन

अब, कालपदार्थ के द्रव्य और पर्याय को बतलाते हैं।

परमाणु एक आकाश प्रदेश का (मंदगति से) उल्लंघन करता है तब उसके बराबर जो काल (लगता है) वह 'समय' है; उस (समय) से पूर्व तथा पश्चात् ऐसा (नित्य) जो पदार्थ है वह कालद्रव्य है; 'समय' उत्पन्नध्वंसी है।

सर्वज्ञ भगवान ने छहद्रव्यों को अस्तिरूप से ज्ञान में जाना है और तदनुसार उनकी वाणी में आये हैं; और सम्यग्ज्ञान के द्वारा छह द्रव्यों की यथार्थ प्रतीति की जा सकती है। कितने ही जीव काल को औपचारिक मानते हैं; परन्तु उनकी यह बात मिथ्या है। काल निश्चय द्रव्य/पदार्थ है। वह युक्ति और तर्क से इस गाथा में सिद्ध किया जाता है।

आकाश के एक प्रदेश में जहाँ कालाणु स्थित है, उस प्रदेश को परमाणु मंदगति से उल्लंघन कर दूसरे प्रदेश में जाता है। उसको जाने में जितना समय लगता है उतने समय के बराबर जो काल पदार्थ की सूक्ष्मवृत्तिरूप समय वह कालाणु की पर्याय है। परमाणु ने एक प्रदेश का उल्लंघन किया वहाँ दूसरा समय और तीसरे में तीसरा समय हूँ इसप्रकार एक के बाद एक काल की अवस्था बदलती दिखती है। उसमें जो वर्तमान समय लगा वह पूर्व में नहीं था और भविष्य में नहीं रहेगा। तात्पर्य

१. आकाश में भी अवगाह हेतुत्व गुण के कारण ऐसी शक्ति है कि उसका एक प्रदेश भी अनन्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।

यह है कि पर्याय का समय पलटता दिखता है हूँ ऐसा निश्चित होता है। एक पर्याय दूसरे समय में तो रहती नहीं; दूसरे प्रदेश में दूसरा समय, तीसरे में तीसरा हूँ इसप्रकार वह पर्याय में परिवर्तित होता हुआ दिखता है।

अब, वह पर्याय किसकी है? मूल पदार्थ के बिना पर्याय अद्भर से नहीं हो सकती। वह पर्याय न तो पूर्व में थी और न बाद के समय में रहेगी हूँ तो पर्याय प्रगट हुई वह कहाँ से आई? पूर्व की पर्याय तो व्यय हो गई है और वर्तमान पर्याय दूसरे समय में व्यय हो जाएगी, दूसरे समय में दूसरी पर्याय प्रगट होगी हूँ तो जो अंश प्रतिसमय प्रगट दिखता है, उस अंश का धरनेवाला अंशी अथवा पर्याय की शक्तिरूप पर्यायवान पदार्थ होना चाहिए। एकसमय की पर्याय तो दूसरे समय में नष्ट हो जाती है, इसलिए वह तो अनित्य है; परन्तु उस अनित्य को कारणरूप शक्तिरूप नित्य पदार्थ होना चाहिए; और वह है काल पदार्थ। जिसके आधार से प्रतिसमय अवस्था दिखती है।

तथा अवस्था जितने क्षेत्र में हो उतने क्षेत्र में सम्पूर्ण द्रव्य होना चाहिए; द्रव्य उससे प्रथक् अथवा कम-ज्यादा क्षेत्र में नहीं हो सकता। जैसे एक रुपया (पुराने जमाने का चाँदी का रुपया) है, वह जितने क्षेत्र में पड़ा है उतने ही क्षेत्र में रुपये की द्रव्यभूत चाँदी पड़ी है। वैसे ही काल की अवस्था एक ही प्रदेश में है, तो कालाणुद्रव्य एक प्रदेश में वहाँ ही रहता है हूँ ऐसा निश्चित होता है।

इसप्रकार कालद्रव्य उत्पन्न नहीं होता, न विनष्ट होता है; परन्तु उसकी अवस्था प्रतिसमय उत्पन्न और विनष्ट होती है। तथा जहाँ पर्याय है वहाँ उतने में कालद्रव्य स्थित है।

यह 'समय' निरंश है अर्थात् समय के भाग नहीं पड़ सकते। यदि ऐसा नहीं हो तो आकाश के एक प्रदेश का निरंशपना सिद्ध नहीं हो सकता।

एक परमाणु शीघ्र गति से गमन करे तो एकसमय में लोक के अन्त तक पहुँच जाता है; तथापि समय के अंश नहीं पड़ते। लोक के अन्त तक

जाने में एक समय होता है तो बीच में पहुँचे तब समय से कम समय लगता होगा ह्व ऐसा नहीं है। वह तो परमाणु की शीघ्र गति को बतलाता है; परन्तु समय का भाग नहीं बताता।

जिसप्रकार एक परमाणु में विशिष्ट प्रकार की अवगाहनशक्ति होती है, उसीप्रकार परमाणु में विशिष्ट प्रकार की गतिपरिणाम की शक्ति भी होती है।

आकाश के जिस क्षेत्र में एक प्रथक् परमाणु पड़ा है वहीं दूसरे अनन्त परमाणु सूक्ष्म स्कंधरूप होकर अपनी अवगाहन शक्ति के कारण रहते हैं। वहाँ भी अनंत परमाणु एक नहीं हो जाते तथा एक प्रदेश हैं वह कोई लम्बा-चौड़ा नहीं हो जाता। वहाँ अनंत परमाणु आये ह्व क्या इससे एक परमाणु का कद अनंतवें भाग हो जाता है? नहीं। परमाणु अकेला रहे तब भी वही लम्बाई-चौड़ाई है और अनंत तक कितने भी परमाणु सूक्ष्म परिणमन करके उस प्रदेश में रहें तब भी सबकी लम्बाई-चौड़ाई एक प्रदेश जितनी ही है। वह स्कंध परमाणु के अनंत अंश सिद्ध नहीं करता; क्योंकि परमाणु निरंश है ह्व परमाणु के भाग नहीं हो सकते।

इसी न्याय से एक परमाणु को मंदगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने में एकसमय लगता है, और उतने ही समय में परमाणु शीघ्र गति स्वभाव के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है; तब उस परमाणु ने असंख्य कालाणुओं को लांघा है, इसलिए असंख्य समय लगना चाहिए ह्व ऐसा नहीं है। तथा समय के असंख्य अंश भी सिद्ध नहीं होते। परमाणु को शीघ्र गति से जाने में एकसमय लगा, तो आधे जाने तक समय का भाग पड़ता होगा? उसका उत्तर यह है कि नहीं। शीघ्र गति से जाते हुए उस श्रेणी में रहे हुए असंख्य कालाणुओं का एक ही समय में अतिक्रमण करता है और मंदगति से दूसरे प्रदेश तक जाने में भी एक ही समय लगता है। समय के भाग (अंश) नहीं पड़ते। यहाँ शीघ्र गति सिद्ध नहीं करता है; परन्तु असंख्य को शीघ्र गति से उल्लंघने पर भी

और एक को मंदगति से उल्लंघने पर भी समय के दो भाग नहीं होते; क्योंकि समय निरंश है।

एक परमाणु गति करता है तब उसमें धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है और गतिपूर्वक स्थिति करने में अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। एक परमाणु मंदगति से एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने में उसके परिणमन में एक कालाणु निमित्त कहलाता है और शीघ्रगति से लोक के छोर से दूसरे छोर तक जाने में उसके परिणमन में, उस श्रेणी में स्थित असंख्य कालाणु निमित्त कहलाते हैं। तथा अनंत परमाणुओं का स्थूल स्कंध हो तब उसके अवगाहन में एक से अधिक आकाश प्रदेश निमित्त कहलाते हैं और जब वही स्कंध सूक्ष्म परिणमन करके एक प्रदेश में रहता है, तब उसको एक प्रदेश ही निमित्त कहलाता है। तथा ज्ञान में अनंत ज्ञेय ज्ञात होते हैं तब उसमें अनंत निमित्त कहलाते हैं और एक ज्ञात हो तब उसमें एक निमित्त कहलाता है। इसप्रकार उपादान में जिसप्रकार का कार्य होता है वैसा आरोप निमित्त में किया जाता है। निमित्त उपादान में कुछ नहीं करता।

- एक परमाणु एक प्रदेश में रहता है और अनंत भी उसी प्रदेश में रह सकते हैं।
- एक परमाणु मंदगति से एक समय में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाता है और तीव्र गति से लोक के अन्त तक।
- छद्मस्थ जीव को असंख्य समय में थोड़े ज्ञेय ज्ञात होते हैं और केवली को एकसमय में सब ज्ञात हो जाता है।

इसप्रकार परमाणु की शीघ्रगति का, परमाणु की सूक्ष्म अवगाहन शक्ति का, ज्ञेयों को एकसाथ जानने का निर्णय कौन करता है? क्या परमाणु को पता है कि मेरे साथ अन्य अनंत परमाणु आकर एक प्रदेश में समा गये हैं? ज्ञेयों को पता है कि हम सब एकसाथ ज्ञान में ज्ञात हो गये हैं? आकाश के प्रदेशों को पता है कि मैं इन सबको अवगाहन में निमित्त होता हूँ? कालाणु को पता है कि मैं सबके परिणमन में निमित्त हूँ? ह्व ये द्रव्य तो

अचेतन हैं। ज्ञान जलहलज्योति स्वरूप है। वह ज्ञेयों को जैसा है वैसा जान लेता है। उसमें 'ऐसा क्यों?' ह्व यह प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य है कि वह समस्त द्रव्यों के सूक्ष्म स्वभाव को जाने। ज्ञेयों को जानने की अरुचि बतानेवाला अपने ज्ञान का नकार (अस्वीकार) करता है। इसलिए ज्ञेयों का स्वभाव जानकर, अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा लाना चाहिए।

प्रश्न ह्व ज्ञेयों के विचित्र परिणामन का कारण क्या है? जैसे ह्व

- एक परमाणु मंदगति से जाए तो एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में एक समय में पहुँचता है ह्व उसका कारण?
- एक परमाणु तीव्र गति से जाए तो लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक एकसमय में पहुँचता है ह्व उसका कारण?
- एक आकाश प्रदेश में अनंत परमाणु सूक्ष्म स्कंधरूप थे और दूसरे अनंत आकर वहाँ समा गये ह्व उसका कारण? तथा किसी प्रदेश में एक परमाणु प्रथक् रहा उसका कारण?
- कोई जीव नीचे के स्थान से मरकर ऊपर के स्थान में एकसमय में जाता है, उसके साथ उसके तैजस और कार्मण शरीर भी एकसमय में स्वयं स्वतः साथ ही जाते हैं ह्व उसका कारण?

समाधान ह्व उन-उन परमाणुओं की गतिस्वभाव की अथवा अवगाहनस्वभाव की पर्याय की योग्यता है, अन्य कोई कारण नहीं है। प्रत्येक पर्याय अहेतुक है, अकारणीय है।

आकाश के एक प्रदेश में अनंत परमाणु रहते हैं, तथा वहीं अन्य द्रव्यों के प्रदेश भी होते हैं; तो भी आकाश का वह प्रदेश बड़ा नहीं हो जाता, उतना का उतना ही रहता है।

प्रश्न ह्व किसी जीव को पहले कोई स्थूल बात भी समझ में नहीं आती थी, दूसरे समय अत्यन्त सूक्ष्म बात भी समझ में आने लगी ह्व इसका क्या कारण है? अपने ज्ञान में इतना अधिक फेरफार?

उत्तर ह्व कारण वह जीव स्वयं ही है। अपने ज्ञान की उस समय की पर्यायस्वभाव की योग्यता ह्व यह एक ही कारण है।

जो जड़ पदार्थ इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं वे संयोगी द्रव्य हैं, वह उनका मूल स्वभाव नहीं है। इसीप्रकार इन्द्रिय भी संयोगी द्रव्य है, इसलिए उसके द्वारा वस्तु स्वभाव का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; बल्कि अतीन्द्रियज्ञान द्वारा प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव यथार्थ ख्याल में/ज्ञान में आ सकता है।

इसप्रकार प्रत्येक ज्ञेय का स्वभाव जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान का कारण है। ●

### अखण्ड स्वाध्याय

हमें आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है, जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे, जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे सम्भव है? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं; उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय-कषाय में है।

ह्व द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१०४-१०५



### प्रवचनसार गाथा १४०

अब, आकाश के प्रदेश का लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं :ह  
 आगासमणुणिविष्टं आगासपदेससण्णया भणिदं ।  
 सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥१४०॥  
 ( हरिगीत )

अणु रहे जितने गगन में वह गगन ही परदेश है ।

अरे उस परदेश में ही रह सकें परमाणु सब ॥१४०॥

अन्वयार्थ :ह [ अणुनिविष्टं आकाशं ] एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने आकाश को [ आकाशप्रदेशसंज्ञया ] 'आकाशप्रदेश' ऐसे नाम से [ भणितम् ] कहा गया है । [ च ] और [ तत् ] वह [ सर्वेषां अणूणां ] समस्त परमाणुओं को [ अवकाशं दातुं शक्नोति ] अवकाश देने को समर्थ है ।

टीका :ह आकाश का एक परमाणु से व्याप्य अंश वह आकाश प्रदेश है; और वह एक (आकाश प्रदेश) भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को तथा परम सूक्ष्मतारूप से परिणमित अनन्त परमाणुओं के स्कंधों को अवकाश देने में समर्थ है । आकाश अविभाग (अखंड) एक द्रव्य है, फिर भी उसमें (प्रदेशरूप) अंशकल्पना हो सकती है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकेगा ।

ऐसा होने पर भी यदि 'आकाश के अंश नहीं होते' (अर्थात् अंशकल्पना नहीं की जाती), ऐसी (किसी की) मान्यता हो, तो आकाश में दो अंगुलियाँ फैलाकर बताइये कि 'दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या अनेक?' यदि एक है तो (प्रश्न होता है कि :ह), (१) आकाश अभिन्न अंशों वाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या (२) भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है इसलिये? (१) यदि 'आकाश अभिन्न अंशवाला अविभाग एक द्रव्य है इसलिये दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है', ऐसा कहा जाय तो, जो अंश एक अंगुलि का क्षेत्र है वही

अंश दूसरी अंगुलि का भी क्षेत्र है, इसलिये दो में से एक अंश का अभाव हो गया । इसप्रकार दो इत्यादि (एक से अधिक) अंशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की भाँति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ! (इसलिये यह तो घटित नहीं होता); (२) यदि यह कहा जाय कि 'आकाश भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है' (इसलिये दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है) तो (यह योग्य ही है, क्योंकि अविभाग एक द्रव्य में अंश-कल्पना फलित हुई ।

यदि ऐसा कहा जाय कि (दो अंगुलियों के) 'अनेक क्षेत्र हैं' अर्थात् एक से अधिक क्षेत्र हैं, एक नहीं) तो (प्रश्न होता है कि ह), (१) 'आकाश सविभाग (खंड-खंडरूप) अनेक द्रव्य हैं इसलिये दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं या (२) आकाश अविभाग एक द्रव्य होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक (एक से अधिक) क्षेत्र हैं? (१) 'आकाश सविभाग अनेक द्रव्य होने से दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं' ऐसा माना जाय तो, आकाश जो कि एक द्रव्य है उसे अनन्तद्रव्यत्व आ जायेगा; (इसलिये यह तो घटित नहीं होता) (२) 'आकाश अविभाग एक द्रव्य होने से दो अंगुलियों का अनेक क्षेत्र है' ऐसा माना जाय तो (यह योग्य ही है क्योंकि) अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हुई ।

### गाथा १४० पर प्रवचन

अब, आकाश के प्रदेश का लक्षण कहते हैं ।

एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने आकाश को 'आकाश प्रदेश' के नाम से कहा गया है और वह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है ।

इन ज्ञेयों को जानने में धर्म क्या आया? ज्ञेयप्रमाण ज्ञान है । जैसे है वैसे ज्ञेय को नहीं जाने, विपरीत प्रकार से जाने तो वस्तु स्वरूप बदल नहीं जाता; परन्तु अपने में भ्रान्ति उत्पन्न होती है और उससे जीव दुःखी होता है । ज्ञान का नकार करनेवाला जीव वनस्पतिकायवत् जड़ हो जाएगा ।

यहाँ न्याय से सब बातें कही जा रही है । छह द्रव्य अखण्ड होने पर

भी पाँच प्रदेशवान है और काल अप्रदेशी है। काल एक प्रदेशी है, इसलिए एक ही कालाणु होना चाहिए ह्व ऐसा नहीं है। एक प्रदेशी कालाणु असंख्य हैं।

ज्ञेयों को ज्यों का त्यों जाननेवाला ज्ञान यथार्थ कहलाता है। जाननेयोग्य पदार्थ ज्ञान में ज्ञात हुए बिना रहते ही नहीं; इसलिए आत्मा उनको अवश्य जान सकता है। ऐसा सम्यग्ज्ञान होने से सुख-शान्ति होती है और वही ज्ञेयों को जानने का फल है।

एक परमाणु जितने आकाश में रहता है, उतने आकाश के भाग को प्रदेश कहते हैं। काल, धर्म, अधर्म, आकाश अपने निश्चित स्थान को कभी नहीं छोड़ते; मात्र सिद्ध के अतिरिक्त जीव और पुद्गल लोक में एक से दूसरे स्थान में जाते हैं।

आकाश का एक प्रदेश भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को तथा अनंत परमाणुओं के परम सूक्ष्म स्कंधों को एकसाथ अवगाहन देने की सामर्थ्यवाला है। चौदह ब्रह्माण्ड के जीव तथा पुद्गल स्कंध, मेरूपर्वत, नोट-रूपये आदि सब यदि परम सूक्ष्म होकर आवें तो आकाश में उन सबको अवगाहन देने की सामर्थ्य है। (यद्यपि जीव परम सूक्ष्म नहीं होता; परन्तु आकाश का अवगाहन सामर्थ्यस्वभाव बतलाने के लिए ऐसा कहा है।) बादर जीवों की अपेक्षा से निगोद का जीव सूक्ष्म है और उसका औदारिक शरीर भी सूक्ष्म है; परन्तु वह परम सूक्ष्म नहीं होने से एक प्रदेश में नहीं आ सकता। वह तो असंख्य प्रदेश रोकता है; परन्तु निगोद के औदारिक शरीर से भी परम सूक्ष्म स्कंधों को आकाश का एक प्रदेश अवगाहन दे सकता है ह्व उसमें इतनी अवगाहन शक्ति है।

आकाश अखण्ड एक द्रव्य होने पर भी उसमें प्रदेशोंरूप भाग हो सकते हैं। जीव और परमाणु अलग-अलग स्थान में रहे हुए हैं ह्व ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है। इसलिए उनको अलग-अलग जगह में अवगाहन देनेवाले आकाश के प्रदेश अलग-अलग होने चाहिए। जीव और परमाणु अवकाश लेनेवाले हैं तो उन्हें अवकाश देनेवाला भी होना चाहिए; और

वे आकाश के अंश हैं। क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो सर्व परमाणुओं का अवकाश देना नहीं हो सकता।

यदि किसी की यह मान्यता हो कि 'आकाश के प्रदेश नहीं हैं; परन्तु आकाश एक ही प्रदेशी अखण्ड द्रव्य हैं' ह्व तो दो अंगुलियाँ आकाश में रखकर, 'दो अंगुलियों का क्षेत्र एक ही है या अनेक' ह्व यह कहो।

यदि तुम यह कहते हो कि दोनों अंगुलियों का क्षेत्र एक ही है तो पूछा जाता है कि ह्व (१) आकाश अभिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इससे दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है? यदि तुम कहोगे कि 'आकाश अभिन्न अंशोंवाला एक द्रव्य है, इससे दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है' ह्व तो जो अंश एक अंगुली का क्षेत्र है वही अंश दूसरी अंगुली का क्षेत्र होगा; और ऐसा होने से दो में से एक अंश का अभाव मानना पड़ेगा।

जैसे एक मकान दो कमरों वाला है। अब उसमें एक कमरे की जगह, वहीं दूसरी कमरे की जगह है; और भाग पाड़े बिना एक ही मकान कहोगे तो मकान में दो कमरे सिद्ध नहीं होंगे; और एक कमरे का नाश मानने से मकान कमरे रहित मानना पड़ेगा ह्व तो वैसा मकान का स्वरूप नहीं है। इसलिए एक कमरे का क्षेत्र, वहीं दूसरे कमरे का क्षेत्र है ह्व ऐसा तुम्हारा कथन घटित नहीं होता।

इसीप्रकार आकाश में एक अंगुली का क्षेत्र वही दूसरी अंगुली का क्षेत्र मानोगे, तो अंशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की तरह एक प्रदेशमात्र हुआ; परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि पाँचों द्रव्यों को अवगाहन देनेवाला द्रव्य सबसे बड़ा ही होता है। इसलिए यदि वह एकप्रदेशी होवे तो सबको अवगाहन नहीं दे सकता। ह्व इसकारण तुम्हारा तर्क सत्य नहीं है।

यदि तुम यह उत्तर दोगे कि (२) आकाश अलग-अलग अंशोंवाला अखण्ड एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है ह्व तो तुम्हारी यह बात योग्य नहीं है। कारण कि दोनों अंगुलियों के अंश अलग-अलग सिद्ध होते हैं। जिसप्रकार मकान में कमरों की जगह अलग-अलग है

और मकान एक है हू ऐसा कहा जाए तो योग्य है; क्योंकि मकान में कमरे अलग-अलग सिद्ध होते हैं और दो कमरों का मकान एक सिद्ध होता है। जिसप्रकार एक मकान में कमरों के दो भाग सिद्ध होते हैं; उसीप्रकार एक आकाश द्रव्य में अंश सिद्ध होते हैं।

यदि दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं हू ऐसा कहा जाए तो प्रश्न है कि आकाश खण्ड-खण्डरूप अनेक द्रव्य है हू इसकारण दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं?

यदि शंकाकार यह उत्तर दे कि आकाश खण्ड-खण्डरूप अनेक द्रव्य हैं हू इसकारण दो अंगुलियों के क्षेत्र अनेक हैं हू तो इस मान्यता से आकाश जो एक द्रव्य है उसको अनंत द्रव्यपने का प्रसंग आएगा। इसलिए यह योग्य नहीं है। जैसे एक मकान के खण्ड-खण्ड अनेक कमरे हैं हू इसकारण कमरों के अनेक क्षेत्र हैं हू ऐसा कहो तो वह योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से एक मकान के अनेकपना आएगा। इसीप्रकार आकाश अनेक द्रव्य हो जाएंगे। अतः यह बात सत्य नहीं है।

दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं हू ऐसा कहा जाए तो प्रश्न है कि आकाश अविभाग एक द्रव्य होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक प्रदेश हैं?

यदि तुम यह उत्तर दो कि आकाश अखण्ड एक द्रव्य होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं हू तो तुम्हारा उत्तर योग्य है। जैसे एक अखण्ड मकान होने पर भी, कमरों के क्षेत्र अलग-अलग अनेक हैं हू यह योग्य है। इस न्याय से आकाश में अंशों की कल्पना सिद्ध होती है। ●

अरे! माता-पिता की गोद में बालक बैठा हो उसे भी चिन्ता नहीं होती तो भगवान की गोद में बैठे हुए को क्या भव होंगे? हो ही नहीं सकते। जिसे भगवान की प्रतीति हुई और मैं स्वयं भगवान हूँ हू ऐसी प्रतीति आयी उसे भव होते ही नहीं।

**हू द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-८६**

### प्रवचनसार गाथा १४१

अब, <sup>१</sup>तिर्यक्प्रचय तथा <sup>२</sup>ऊर्ध्वप्रचय बतलाते हैं :हू

**एकौ व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।**

**दव्वाणं व पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥१४१॥**

( हरिगीत )

एक दो या बहुत से परदेश असंख्य अनंत हैं।

काल के हैं समय अर अवशेष के परदेश हैं ॥१४१॥

अन्वयार्थ :हू [ द्रव्याणां च ] द्रव्यों के [ एकः ] एक, [ द्वौ ] दो [ बहवः ] बहुत से [ संख्यातीताः ] असंख्य, [ वा ] अथवा [ ततः अनन्ताः च ] अनन्त [ प्रदेशाः ] प्रदेश [ सन्ति हि ] हैं। [ कालस्य ] काल के [ समयाः इति ] 'समय' हैं।

**टीका :**हू प्रदेशों का प्रचय (समूह) तिर्यक्प्रचय और समयविशिष्ट <sup>३</sup>वृत्तियों का समूह ऊर्ध्वप्रचय है।

वहाँ आकाश अवस्थित (निश्चल, स्थिर) अनन्त प्रदेशी होने से धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेशी होने से जीव अनवस्थित (अस्थिर) असंख्यप्रदेशी है और पुद्गल द्रव्य अनेक प्रदेशीपने की शक्ति से युक्त एकप्रदेशवाला है तथा पर्याय से दो अथवा बहुत (संख्यात, असंख्यात और अनन्त) प्रदेशवाला है, इसलिये उनके तिर्यक्प्रचय है; परन्तु काल के (तिर्यक्प्रचय) नहीं है, क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है।

ऊर्ध्वप्रचय तो सर्व द्रव्यों के अनिवार्य ही है, क्योंकि द्रव्य की वृत्ति तीन कोटियों को (भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीनों कालों को) स्पर्श करती है, इसलिये अंशों से युक्त है। परन्तु इतना अन्तर है कि <sup>४</sup>समयविशिष्ट

१. तिर्यक् = तिरछा; आड़ा, क्षेत्र-अपेक्षित (प्रदेशों का फैलाव)।

२. ऊर्ध्व = ऊँचा; काल-अपेक्षित।

३. वृत्ति = वर्तना; परिणति; पर्याय; उत्पाद व्यय ध्रौव्य; अस्तित्व।

४. समयविशिष्ट = समय से विशिष्ट; समय के निमित्तभूत होने से व्यवहार से जिसमें समय की अपेक्षा होती है।

वृत्तियों का प्रचय वह (काल को छोड़कर) शेष द्रव्यों का ऊर्ध्वप्रचय है, और समयों का प्रचय वही कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है; क्योंकि शेष द्रव्यों की वृत्ति समय से अर्थान्तरभूत (अन्य) होने से वह (वृत्ति) समय विशिष्ट है, और कालद्रव्य की वृत्ति तो स्वतः समयभूत है, इसलिये वह समयविशिष्ट नहीं है।

### गाथा १४१ पर प्रवचन

द्रव्यों के एक, दो, बहुत से, असंख्य अथवा अनंतप्रदेश हैं। काल के 'समय' हैं।

प्रचय का अर्थ समूह होता है। तिर्यकप्रचय अर्थात् आड़ा-क्षेत्र अपेक्षा से प्रदेशों का समूह और ऊर्ध्वप्रचय अर्थात् ऊँचा-काल अपेक्षित समय विशिष्ट पर्यायों का समूह।

आकाश ह्य स्थिर अनंतप्रदेशों वाला द्रव्य लोक और अलोक के प्रमाण में है।

धर्म और अधर्म ह्य चौदह ब्रह्माण्ड प्रमाण स्थिर असंख्य प्रदेशी द्रव्य हैं।

जीव ह्य अस्थिर असंख्य प्रदेशी है।

पुद्गल ह्य द्रव्यदृष्टि से एक प्रदेश वाला है; परन्तु अनेक प्रदेशीपने की शक्तिवाला है और पर्यायदृष्टि से दो, संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशवाला है।

इसप्रकार आकाश, धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल अनेक प्रदेशों वाले होने से उनको तिर्यकप्रचय है अर्थात् प्रदेशों का ढेर (समूह) है; परन्तु काल को प्रदेशों का ढेर नहीं है; क्योंकि वह शक्ति अपेक्षा से एक प्रदेशी है और व्यक्ति अपेक्षा से भी एक प्रदेशी है।

ऊर्ध्वप्रचय तो छहों द्रव्यों को होता ही है। क्योंकि द्रव्यों को परिणति/अवस्था भूत-वर्तमान और भविष्य ह्य ऐसे तीनोंकाल में रहती है, किसी काल में किसी द्रव्य की अवस्था न हो ह्य ऐसा नहीं होता। इसलिए वे अंशों सहित है। छहों द्रव्यों को ऊर्ध्व प्रचय है; परन्तु अन्तर मात्र इतना है

कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को परिणमन में समय निमित्तभूत होने से, व्यवहार से जिसमें समय की अपेक्षा आती है ह्य ऐसी वृत्तियों का समूह-ऊर्ध्वप्रचय इन पाँचों को होता है। काल के परिणमन स्वयं को निमित्त है ह्य ऐसा समयों का समूह वह कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है; क्योंकि पाँच द्रव्यों की वृत्ति में समय निमित्त है, इसलिए पाँच द्रव्यों की वृत्तियाँ समय से अलग है इसमें समय विशिष्ट है और काल की वृत्ति स्वयं समयभूत है इससे वह समयविशिष्ट नहीं है।

प्रश्न ह्य ऐसा बारीक ज्ञान कैसे हो?

उत्तर ह्य भाई जैसे निर्धन अवस्था हो तब कीमती गहने, वस्त्र इत्यादि देखने को नहीं मिलते; परन्तु धनवान हो तब कोई बहुत कीमती गहने, वस्त्र बतावे तो उन्हें देखने से इन्कार नहीं करता, उत्साह से देखता है और खरीदता भी है। इसीतरह तुझमें सर्वज्ञ-सर्वदर्शी शक्ति है ह्य तुझे ज्ञानी पुरुषों के द्वारा ऐसा ख्याल आया कि तेरे ज्ञान में कितना ही सूक्ष्म ज्ञेय हो तो भी जानने की सामर्थ्य विद्यमान है; तो उसका स्वीकार ही करना। किसी ज्ञेय को मैं नहीं जान सकता ह्य ऐसा नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ज्ञेयों का यथार्थज्ञान धर्म का धारण है। ●

अहो! संत कितनी करुणापूर्वक ऐसे गहन विषय को समझा रहे हैं। ज्ञान से मुक्ति होती है यह बात सच है परन्तु वह भी पर्याय है, इसलिये वह मात्र जानने योग्य है, पर्याय का आश्रय लेने जैसा नहीं है। ध्यान का विषय तो अखण्ड चिदानन्दस्वरूप त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य है। मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय का भी जिसमें अभाव है ऐसा शुद्ध चैतन्यद्रव्य ही साधक का ध्येय है। उसके आश्रय से ही मोक्षमार्ग की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और उसी से मोक्ष प्राप्त होता है।

ह्य द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१८

### प्रवचनसार गाथा १४२

अब, कालपदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय<sup>१</sup> निरन्वय है, इस बात का खंडन करते हैं :ह

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि तस्स एगसमयम्हि ।

समयस्य सो वि समओ सभावसमवट्टिदो हवदि ॥१४२॥

( हरिगीत )

इक समय में उत्पाद-व्यय यदि काल द्रव में प्राप्त हैं ।

तो काल द्रव्यस्वभावथित ध्रुवभावमय ही क्यों न हो ॥१४२॥

अन्वयार्थ :ह [ यदि यस्य समयस्य ] यदि काल का [ एक समये ] एक समय में [ उत्पादः प्रध्वंसः ] उत्पाद और विनाश [ विद्यते ] पाया जाता है [ सः अपि समयः ] तो वह भी काल [ स्वभावसमवस्थितः ] स्वभाव में अवस्थित अर्थात् ध्रुव [ भवति ] (सिद्ध) है ।

टीका :ह समय कालपदार्थ का<sup>२</sup> वृत्त्यंश है; उसमें (उस वृत्त्यंश में) किसी के भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश संभवित हैं, क्योंकि परमाणु के अतिक्रमण के द्वारा (समयरूपी वृत्त्यंश) उत्पन्न होता है, इसलिये वह कारणपूर्वक है । (परमाणु के द्वारा एक आकाश प्रदेश का मंदगति से उल्लंघन करना वह कारण है और समयरूपी वृत्त्यंश उस कारण का कार्य है, इसलिये उसमें किसी पदार्थ के उत्पाद तथा विनाश होते होना चाहिये ।)

(‘किसी पदार्थ के उत्पाद-विनाश होने की क्या आवश्यकता है? उसके स्थान पर उस वृत्त्यंश को ही उत्पाद-विनाश होते मान लें तो क्या आपत्ति है?’ इस तर्क का समाधान करते हैं ह)

यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंश के ही माने जायें तो, (प्रश्न होता है कि) (१) वे (उत्पाद तथा विनाश) युगपद् हैं या (२) क्रमशः? (१)

१. निरन्वय=अन्वय रहित, एक प्रवाहरूप न होने वाला, खंडित; एकरूपता सदृशता से रहित ।

२. वृत्त्यंश = वृत्तिका अंश; सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणति अर्थात् पर्याय ।

यदि ‘युगपत्’ कहा जाय तो युगपत्पना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय एक के दो विरोधी धर्म नहीं होते । (एक ही समय एक वृत्त्यंश के प्रकाश और अन्धकार की भाँति उत्पाद और विनाश दो विरुद्ध धर्म नहीं होते ।) (२) यदि ‘क्रमशः है’ ऐसा कहा जाय तो क्रम नहीं बनता, (अर्थात् क्रम भी घटता नहीं) क्योंकि वृत्त्यंश के सूक्ष्म होने से उसमें विभाव का अभाव है । इसलिये (समयरूपी वृत्त्यंश के उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होने से) कोई<sup>१</sup> वृत्तिमान् अवश्य ढूँढ़ना चाहिये । और वह (वृत्तिमान्) काल पदार्थ ही है । उसको (उस कालपदार्थ को) वास्तव में एक वृत्त्यंश में भी उत्पाद और विनाश संभव है; क्योंकि जिस वृत्तिमान् के जिस वृत्त्यंश में उस वृत्त्यंश की अपेक्षा से जो उत्पाद है, वही (उत्पाद) उसी वृत्तिमान् के उसी वृत्त्यंश में पूर्व वृत्त्यंश की अपेक्षा से विनाश है । (अर्थात् कालपदार्थ को जिस वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है; वही पूर्व पर्याय की अपेक्षा से विनाश है ।)

यदि इसप्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में भी संभवित हैं, तो कालपदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है, कि जिससे पूर्व और पश्चात् वृत्त्यंश की अपेक्षा से युगपत् विनाश और उत्पाद को प्राप्त होता हुआ भी स्वभाव से अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से वह (काल पदार्थ) अवस्थित न हो? (काल पदार्थ के एक वृत्त्यंश में भी उत्पाद और विनाश युगपत् होते हैं, इसलिये वह निरन्वय अर्थात् खंडित नहीं है, इसलिये स्वभावतः अवश्य ध्रुव है ।)

इसप्रकार एक वृत्त्यंश में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है, ऐसा सिद्ध हुआ ।

### गाथा १४२ पर प्रवचन

अब, कालपदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय अन्वयरहित होने की बात का खण्डन करते हैं । अर्थात् व्यवहार काल है, परन्तु निश्चय कालाणु नाम

१. वृत्तिमान् = वृत्तिवाला; वृत्ति को धारण करनेवाला पदार्थ ।

का सदृश रहनेवाला पदार्थ ही जगत में नहीं है ह्व ऐसा माननेवाले की बात का खण्डन करते हैं।

यदि काल का एक समय में उत्पाद और विनाश पाया जाता है तो वह भी काल स्वभाव में अवस्थित अर्थात् ध्रुव होता है।

समय कालपदार्थ की सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणति है। उस परिणति में किसी के भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश संभवित है; क्योंकि समयरूपी पर्याय परमाणु के अतिक्रमण द्वारा उत्पन्न होती है, इससे कारणपूर्वक है। परमाणु मंदगति से एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाता है, उसमें जितना समय लगता है उतने समय को 'समय' कहते हैं। इसलिए परमाणु का मंदगति से उल्लंघन कारण है और समय उस कारण का कार्य है। इसलिए उसमें किसी पदार्थ के उत्पाद तथा विनाश होता होना चाहिए।

एकसमय की अवस्था पहले नहीं थी और बाद में हुई, तो वह अवस्था किसी द्रव्य के आधार से होनी चाहिए; परन्तु वह अद्भर से नहीं हो सकती। किसी के आधार बिना उत्पाद संभव नहीं है। पर्याय से पर्यायवान उसी क्षेत्र में होना चाहिए ह्व ऐसा निश्चित होता है। इसलिए समय आदि व्यवहार काल है, तो उसका आधार कोई पदार्थ होना चाहिए ह्व ऐसा सिद्ध होता है; और वह कालाणु है।

इसलिए काल औपचारिक नहीं, परन्तु निश्चय द्रव्य है।

अब शंकाकार तर्क करता है कि ह्व किसी पदार्थ का उत्पाद-विनाश होने की क्या जरूरत है? उसके बदले उस एक पर्याय को ही उत्पाद-विनाश होता मान लेने में क्या आपत्ति है?

इस शंका के समाधानके लिए शंकाकार से निम्नप्रश्न पूछे जाते हैं :-

उत्पाद और विनाश यदि पर्याय का ही मानने में आवे तो ह्व

(१) उत्पाद तथा विनाश युगपद् हैं? या

(२) क्रमशः हैं?

(१) पर्याय के ही उत्पाद और विनाश युगपद् मानने में आनेवाला दोष इसप्रकार है :ह्व

शंकाकार कहता है कि अवस्था के ही उत्पाद-व्यय एकसाथ हैं ह्व तो वैसा घटित नहीं होता। कारण कि एक अवस्था को एक ही समय दो विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते। जैसे उजाले के समय अंधकार और अंधकार के समय उजाला नहीं है, दोनों का विरोध है; उसीप्रकार उत्पाद और व्यय ह्व ऐसे दो विरुद्ध धर्म एक ही पर्याय में एक ही समय नहीं हो सकते। इसलिए शंकाकार का यह तर्क मिथ्या है।

(२) एक पर्याय का उत्पाद और विनाश क्रमशः मानने में आनेवाला दोष इसप्रकार है :ह्व

यदि शंकाकार कहता है कि एक पर्याय को क्रमशः उत्पाद तथा विनाश है ह्व तो वैसा भी घटित नहीं होता। कारण कि एक पर्याय तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणति है ह्व इसकारण उसमें उत्पाद और व्यय ह्व ऐसे दो विभाग का अभाव है। इसलिए एक पर्याय को उत्पाद और विनाश के क्रम का तर्क भी मिथ्या है।

इसप्रकार समयरूपी सूक्ष्म परिणति को उत्पाद तथा विनाश एक ही समय में होना अशक्य है; इसलिए उस अवस्था का धारक अवस्थायी द्रव्य होना चाहिए; और वह काल पदार्थ है।

उस कालाणु द्रव्य को वास्तव में एक पर्याय में भी उत्पाद और विनाश संभव है। एकसमय में नई अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था व्यय होती है और कालाणु ध्रुव रहता है। जैसे वर्तमान रोटी की अवस्था का उत्पाद होना, पूर्व की लोई की अवस्था का व्यय होना और आटा के परमाणुओं का ध्रुव रहना होता है; परन्तु परमाणु को ध्रुव स्वीकार किये बिना आटे की अवस्था के समय रोटी की अवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि दोनों विरोधी अवस्था है और एक सूक्ष्म अवस्था में थोड़ा आटा और थोड़ी रोटी ऐसे दो भाग नहीं हो सकते। परमाणु को ध्रुव स्वीकार किया जावे तो दोनों विरोधीधर्म द्रव्य में सिद्ध होते हैं। कारण कि एक

द्रव्य को जिस अवस्था में उस अवस्था की अपेक्षा से जो उत्पाद है, वही उत्पाद उसी द्रव्य को उसी पर्याय में पूर्व अवस्था की अपेक्षा विनाश है। परमाणु में रोटी का जो उत्पाद है वही आटे की अवस्था की अपेक्षा से व्यय है। इसीप्रकार कालपदार्थ को वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से जो उत्पाद है वही पूर्व अवस्था की अपेक्षा से विनाश/व्यय है।

इसप्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में भी संभव है, इसलिए काल पदार्थ सादृश्यपने रहित नहीं हो सकता। अर्थात् कालपदार्थ ध्रुव है ह्व ऐसा सिद्ध होता है। जिससे वह कालद्रव्य पूर्व पर्याय की अपेक्षा से नाश को प्राप्त होता है और वर्तमान पर्याय की अपेक्षा उत्पाद को प्राप्त होता है और वह युगपद् उत्पाद व विनाश को पाता हुआ भी स्वभाव से कभी नाश नहीं होता वैसा और कभी उत्पन्न नहीं होता वैसा कालपदार्थ है। इसलिए वह अवस्थित क्यों नहीं होगा? अर्थात् वह अवस्थित है।

काल पदार्थ को एक वृत्त्यंश में भी उत्पाद और विनाश युगपद् होता है, इससे काल खण्डित नहीं है। अतः कालपदार्थ स्वभाव से अवश्य ध्रुव है।

इसप्रकार एक पर्याय में पूर्व पर्याय की अपेक्षा से व्ययरूप, वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पादरूप और सादृश्य रहने की अपेक्षा से ध्रुवरूप ह्व ऐसे कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है ह्व ऐसा निश्चित होता है।

‘काल’ नामक शब्द जगत में है ह्व वह प्रत्यक्ष ज्ञान में आता है। शब्द वाचक है और वाचक के पीछे वाच्य अस्तित्व धारक पदार्थ जगत में होना चाहिए। वाच्य नहीं हो तो वाचक किसका? इसलिए ‘काल’ शब्द वाचक है तो वाच्य कालपदार्थ होना ही चाहिए ह्व ऐसा सिद्ध होता है।

जो जीव कालद्रव्य को निश्चय नहीं मानता, वह वास्तव में अपने स्वकाल को ही नहीं मानता। इसकारण उसको कभी भी धर्म प्रगट नहीं हो सकता। क्योंकि जगत में जितने द्रव्य हैं, उतने वह नहीं मानता, इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। वह ज्ञानस्वभावी आत्मा को भी स्वीकार नहीं करता।

### प्रवचनसार गाथा १४३

अब, (जैसे एक वृत्त्यंश में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला सिद्ध किया है उसीप्रकार) सर्व वृत्त्यंशों में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है ऐसा सिद्ध करते हैं :ह्व

**एगम्हि संति समये संभवठिदिगाससण्णिदा अट्टा ।**

**समयस्य सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥१४३॥**

( हरिगीत )

इक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम के जो अर्थ हैं।

वे सदा हैं बस इसलिए कालाणु का सद्भाव है ॥१४३॥

अन्वयार्थ :ह्व [ एकस्मिन् समये ] एक-एक समय में [ संभवस्थितिनाशसंज्ञिताः अर्थाः ] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ [ समयस्य ] काल के [ सर्वकालं ] सदा [ संति ] होते हैं। [ एषः हि ] यही [ कालाणुसद्भावः ] कालाणु का सद्भाव है; यही कालाणु के अस्तित्व की सिद्धि है।)

टीका :ह्व कालपदार्थ के सभी वृत्त्यंशों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं, क्योंकि (१४२वीं गाथा में जैसे सिद्ध हुआ है तदनुसार) एक वृत्त्यंश में वे (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) देखे जाते हैं। और यह योग्य ही है, क्योंकि विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता। यही कालपदार्थ के सद्भाव की (अस्तित्व की) सिद्धि है; (क्योंकि) यदि विशेष अस्तित्व और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते हैं तो वे अस्तित्व के बिना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होते।

### गाथा १४३ पर प्रवचन

एक-एक समय में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ काल को सदा होते हैं। यही कालाणु का सद्भाव है; यही कालाणु के अस्तित्व की सिद्धि है।

काल पदार्थ की समस्त अवस्थाओं में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है। नई अवस्थारूप उत्पन्न होना, पुरानी अवस्थारूप व्यय होना और

स्वयं सादृश्यरूप समस्त अवस्थाओं में कायम रहना ह्व इसप्रकार समस्त अवस्थाओं में उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना काल को होता है ह्व यह ४२वीं गाथा में निश्चित किया गया है, और वह उचित ही है। क्योंकि विशेष का अस्तित्व सामान्य के अस्तित्व बिना नहीं हो सकता।

एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मंदगति से गया, उसको एकसमय लगा; उसमें समय की नई अवस्था का उत्पाद हुआ और पूर्व की अवस्था का नाश हुआ। अब उसमें जो उत्पाद-व्यय हुए, वह विशेष है और विशेष सामान्य के बिना नहीं हो सकता। तथा गति की, उसके पूर्व वह समय नहीं था, गति की तब पूर्व का समय गया और नया हुआ; और जो उत्पादधर्म तथा व्ययधर्म एक ही समय में प्रगट हुए, वे विरुद्धधर्म हैं। वे विरुद्धधर्म एक ही पर्याय को नहीं हो सकते। विशेष का अस्तित्व सामान्य पदार्थ के अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता। इसलिए वहाँ ही अविरुद्ध सामान्य स्वभाववाला कालाणु पदार्थ सिद्ध होता है।

एक वृत्ति अंश भलीभाँति निश्चित करने से उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों अंश निश्चित होते हैं ह्व यही कालाणु पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि है। विशेष अस्तित्व अर्थात् उत्पाद-व्ययपना और सामान्य अस्तित्व अर्थात् ध्रुवपना सिद्ध होता है। सो वे कालाणु के अस्तित्व बिना किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होते। जो पर्याय गई, वह कोई द्रव्य से बाहर तो जाती नहीं और सर्वथा व्यय होती नहीं। पर्याय गई और जिसमें रही वह शक्ति तथा नई जिसमें से आई वह शक्ति ध्रुवशक्ति है। व्यय सर्वथा अभाव नहीं है। किसके आधार से पर्याय उत्पन्न हुई और गई? आधार खोजने पर वहाँ ध्रुव सिद्ध होता है।

जैसे एकसमय में पूर्व पर्याय गई, वर्तमान पर्याय प्रगट हुई और ध्रुव कायम रहा। वैसे प्रत्येक समय में तीनों धर्म रहते हैं। पूर्व में भी ऐसा ही, वर्तमान में भी ऐसा ही और भविष्य में भी ऐसा ही ह्व ऐसे तीनों काल की अवस्थाओं में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित है ह्व ऐसा निश्चित होता है। ●

### प्रवचनसार गाथा १४४

अब, कालपदार्थ के अस्तित्व की अन्यथा अनुपपत्ति होने से (अर्थात् काल पदार्थ का अस्तित्व अन्य किसी प्रकार नहीं बन सकने के कारण) उसका प्रदेशमात्रपना सिद्ध करते हैं :ह्व

जस्स ण संत पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।

सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥१४४॥

( हरिगीत )

जिस अर्थ का इस लोक में ना एक ही परदेश हो।

वह शून्य ही है जगत में परदेश बिन न अर्थ हो ॥१४४॥

अन्वयार्थ :ह्व [ यस्य ] जिस पदार्थ के [ प्रदेशाः ] प्रदेश [ प्रदेशमात्रं वा ] अथवा एकप्रदेश भी [ तत्त्वतः ] परमार्थतः [ ज्ञातुम् न संति ] ज्ञात नहीं होते, [ तम् अर्थम् ] उस पदार्थ को [ शून्यं जानीहिं ] शून्य जानो ह्व [ अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतम् ] जो कि अस्तित्व से अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

टीका :ह्व प्रथम तो अस्तित्व वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की ऐक्यस्वरूपवृत्ति है। वह (वृत्ति अर्थात् विद्यमानता) काल के प्रदेश बिना ही होती है यह कथन संभवित नहीं है, क्योंकि प्रदेश के अभाव में वृत्तिमान का अभाव होता है। वह तो शून्य ही है, क्योंकि अस्तित्व नामक वृत्ति से अर्थान्तरभूत है ह्व अन्य है।

और (यदि यहाँ यह तर्क किया जाय कि 'मात्र समयपर्यायरूपवृत्ति ही माननी चाहिये; वृत्तिमान् कालाणु पदार्थ की क्या आवश्यकता है?' तो उसका समाधान किया जाता है;) मात्र वृत्ति समयरूप परिणति) ही काल नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्ति वृत्तिमान के बिना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान् के बिना भी वृत्ति हो सकती है तो, (पूछते हैं कि ह्व वृत्ति तो उत्पादव्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप होनी चाहिये;) अकेली वृत्ति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकरूपता कैसे हो सकती



है? यदि यह कहा जाय कि ह 'अनादि-अनन्त, अनन्तर (-परस्पर अन्तर हुए बिना एक के बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशों के कारण <sup>१</sup>एकात्मकता होती है इसलिये; पूर्व-पूर्व के अंशों का नाश होता है और उत्तर-उत्तर के अंशों का उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है, ह इसप्रकार मात्र (अकेली) वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप हो सकती है' तो ऐसा नहीं है। (क्योंकि उस अकेली वृत्ति में तो) जिस अंश में नाश है और जिस अंश में उत्पाद है वे दो अंश एक साथ प्रवृत्त नहीं होते, इसलिये (उत्पाद और व्यय का) ऐक्य कहाँ से हो सकता है? तथा नष्ट अंश के सर्वथा अस्त होने से और उत्पन्न होनेवाला अंश अपने स्वरूप को प्राप्त न होने से (अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिये) नाश और उत्पाद की एकता में प्रवर्तमान ध्रौव्य कहाँ से हो सकता है? ऐसा होने पर त्रिलक्षणता (उत्पादव्ययध्रौव्यता) नष्ट हो जाती है, क्षणभंग (बौद्धसम्मत क्षणविनाश) उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त हो जाता है और क्षणविध्वंसी भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिये <sup>२</sup>तत्त्वविप्लव के भय से अवश्य ही वृत्ति का आश्रयभूत कोई वृत्तिमान् ढूँढ़ना-स्वीकार करना योग्य है। वह तो प्रदेश ही है (अर्थात् वह वृत्तिमान् सप्रदेश ही होता है), क्योंकि अप्रदेश के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुविधायित्व असिद्ध है। (जो अप्रदेश होता है वह अन्वय तथा व्यतिरेकों का अनुसरण नहीं कर सकता, अर्थात् उसमें ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते।)

**प्रश्न** ह इसप्रकार काल सप्रदेश है तो उसके एकद्रव्य के कारणभूत लोकाकाश तुल्य असंख्यप्रदेश क्यों न मानने चाहिये ?

**उत्तर** ह ऐसा हो तो पर्यायसमय प्रसिद्ध नहीं होता, इसलिये असंख्य प्रदेश मानना योग्य नहीं है। परमाणु के द्वारा प्रदेशमात्र द्रव्य समय का उल्लंघन करने पर (अर्थात् ह परमाणु के द्वारा एकप्रदेशमात्र कालाणु से

१. एकात्मकता = एकस्वरूपता (कालद्रव्य के बिना भी अनादिकाल से अनन्त काल तक समय एक के बाद एक परस्पर अन्तर के बिना ही प्रवर्तित होते हैं, इसलिये एकप्रवाहरूप बन जाने से उसमें एकरूपत्व आता है ह इसप्रकार शंकाकार का तर्क है।)

२. तत्त्वविप्लव = वस्तुस्वरूप में अंधाधुन्धी।

निकट के दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मंदगति से गमन करने पर) पर्यायसमय प्रसिद्ध होता है। यदि द्रव्यसमय लोकाकाश तुल्य असंख्यप्रदेशी हो तो पर्यायसमय की सिद्धि कहाँ से होगी?

'यदि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेशवाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लंघित होने पर पर्याय समय की सिद्धि हो' ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि (उसमें दो दोष आते हैं) :ह

(१) [ द्रव्य के एक देश की परिणति को सम्पूर्ण द्रव्य की परिणति मानने का प्रसंग आता है।] एक देश की वृत्ति को सम्पूर्ण द्रव्य की वृत्ति मानने में विरोध है। सम्पूर्ण काल पदार्थ का जो सूक्ष्म वृत्त्यंश है वह समय है, परन्तु उसके एक देश का वृत्त्यंश वह समय नहीं।

तथा, (२) तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपने का प्रसंग आता है। वह इसप्रकार है कि ह प्रथम, कालद्रव्य एक प्रदेश से वर्ते, फिर दूसरे प्रदेश से वर्ते और फिर अन्यप्रदेश से वर्ते (ऐसा प्रसंग आता है) इसप्रकार तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्य को प्रदेशमात्र स्थापित करता है। (अर्थात् तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय है, ऐसा मानने का प्रसंग आता है, इसलिये द्रव्यप्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है।) इसलिये तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपना न मानने (चाहने) वाले को प्रथम ही कालद्रव्य को प्रदेशमात्र निश्चित करना चाहिये।

### गाथा १४४ पर प्रवचन

जिस पदार्थ के प्रदेश अथवा एकप्रदेश भी परमार्थतः ज्ञात नहीं होते, उस पदार्थ को शून्य जानो ह क्योंकि वह अस्तित्व से अर्थान्तरभूत-अन्य है।

यदि यह माना जाए कि पदार्थ के अनेक प्रदेश अथवा एक प्रदेश भी परमार्थ से नहीं है अर्थात् उसके क्षेत्र नहीं है ह तो उस पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं रहता, वह शून्य हो जाता है। वह अस्तित्व से अन्य है अर्थात् उसका नास्तित्व हो जाता है।

प्रथम तो अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के एक्यस्वरूप वृत्ति है। काल को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो निश्चित किये ही है, तो वे उसके अस्तित्व में हो रहे हैं। शंकाकार कहता है कि वे काल को प्रदेश बिना ही होते हैं ह तो यह संभव नहीं है। क्योंकि प्रदेश का अभाव हो तो पर्यायवान-द्रव्य का भी अभाव होने का प्रसंग आयेगा और द्रव्य का अभाव होने पर शून्यपना आयेगा और शून्यपना तो अस्तित्व से विरुद्ध है। प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व तो पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है। अब काल के प्रदेश नहीं मानने से द्रव्य का नाश होने से द्रव्य और अस्तित्व दोनों शून्यपने को प्राप्त होंगे; परन्तु अस्तित्व और शून्यपना तो विरोधी है; इसलिए यह संभव नहीं हो सकता। जहाँ अस्तित्व है, वहाँ प्रदेश होने ही चाहिए। काल में उत्पाद-व्यय-ध्रुव की एकतारूप अस्तित्व है ह यह पूर्व गाथा में सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए यह संभव नहीं है कि द्रव्य प्रदेशरहित हो। तात्पर्य यह है कि काल के प्रदेश है ह यह निश्चित हुआ।

**प्रश्न** ह अकेली समय अवस्थारूप परिणति को मानो; वृत्तिमान कालाणु पदार्थ को मानने की क्या आवश्यकता है?१

**उत्तर** ह समयरूप अवस्था ही कालद्रव्य हो ह ऐसा नहीं बन सकता; क्योंकि पर्याय पर्यायवान के बिना नहीं हो सकती। नई अवस्था का होना, पुरानी अवस्था का विनशना किसी के आधार बिना संभव नहीं है। इसलिए उत्पाद-विनाशरूप वृत्तियाँ, वृत्तिमान ह कालाणु पदार्थ के आधार से ही संभव है, उसके बिना नहीं हो सकती। अतः काल औपचारिक द्रव्य नहीं, किन्तु निश्चय द्रव्य है।

फिर भी शंकाकार कहता है कि 'वृत्ति वृत्तिमान बिना हो सकती है।' तो शंकाकार से पूछा जाता है कि वृत्ति तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप होनी चाहिए। अकेली वृत्ति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप किस प्रकार हो सकती है? द्रव्य के अस्तित्व में उत्पाद-

१. बहुत से जीव काल को औपचारिक द्रव्य मानते हैं। वे समय, घड़ी आदि व्यवहारकाल को मानते हैं; परन्तु निश्चय कालद्रव्य को नहीं मानते पर उनका तर्क है।

व्यय-ध्रौव्य तो सिद्ध किये जा चुके हैं; तो द्रव्य को माने बिना अकेली पर्याय को उत्पाद-व्यय-ध्रुव ह ये तीनों अंश किसप्रकार हैं? ह इसका स्पष्टीकरण करो।

तब शंकाकार तर्क देता है कि 'कालद्रव्य के बिना भी अनादि से अनंतकाल तक 'समय' एक के बाद एक परस्पर अन्तर पड़े बिना प्रवर्तते हैं; इसलिए एक प्रवाहपना बन जाने से उसमें एकस्वरूपपना आता है। पूर्व-पूर्व के अंशों का नाश होता है और बाद-बाद के अंशों का उत्पाद होता है; और इसकारण उसमें एकप्रवाहपना चालू रहता है; इसलिए एकप्रवाहपना/ध्रुवपना भी है। एक अवस्था होती है और जाती है ह ऐसे उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय होता होने से प्रवाहक्रम चालू रहता है; इसलिए उसमें एकरूपता रहती है। इसप्रकार अकेली वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप हो सकती है।'

शंकाकार के इस तर्क का समाधान इसप्रकार है ह

तुम कहते हो वह बात यथार्थ नहीं है। क्योंकि ध्रुव को माने बिना, अकेली वृत्ति में जिस अंश में उत्पाद है और जिस अंश में व्यय है ह वे दोनों अंश एकसाथ नहीं होते अर्थात् वे दो धर्म अलग-अलग समय में प्रवर्तते हैं। इसकारण तुम्हारे कथनानुसार उत्पाद-व्यय का एकपना कैसे हो सकता है? उत्पाद और व्यय में प्रवाहक्रम चालू है, इसलिए एकरूपता है ह ऐसा तुम कहते हो; परन्तु उत्पाद और व्यय के समय तो अलग हैं; इसलिए उनमें एकरूपता किसप्रकार रहेगी? अर्थात् उनमें एकरूपता नहीं रहती। इसलिए तुम्हारी मान्यतानुसार ध्रुवपना सिद्ध नहीं होता।

तथा नष्ट अंश सर्वथा नाश को प्राप्त हुआ है और उससमय उत्पाद अंश स्वयं उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि तुम्हारी मान्यतानुसार उत्पाद तो दूसरे समय में होता है; तो फिर जिससमय व्यय हुआ, उस समय तो उत्पाद नहीं है। वे दो धर्म एक समय में नहीं प्रवर्तते; तो फिर नाश और उत्पाद की एकता में ध्रुव ही कहाँ से होगा? वर्तमान का उत्पाद और पूर्व का व्यय एकसमय में मानो, तो उसकी एकता में वर्तनेवाला ध्रुव हो

सकता है; परन्तु तुम उत्पाद और व्यय तो अलग-अलग समय में मानते हो; अतः जो तुम उनकी एकता करनेवाला ध्रुव कहते हो वह ध्रुव ही सिद्ध नहीं होता।

तुम्हारी ऐसी मान्यता होने से तुम्हारा कथित त्रिलक्षणपना (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना) नाश को प्राप्त होता है। कारण कि जिससमय में व्यय है उस समय में उत्पाद नहीं है और इसकारण ध्रौव्य भी सिद्ध नहीं होता। जिसप्रकार क्षणिकवादी एक द्रव्य को एकसमय मात्र मानते हैं। दूसरे समय दूसरा और तीसरे समय तीसरा मानते हैं। उसीप्रकार तुम्हारी मान्यतानुसार क्षणभंग उल्लसित होता है। नित्य द्रव्य कोई नहीं रहता और क्षण में नष्ट होते भाव उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार वस्तुस्वरूप में अंधाधुंधी होने का प्रसंग आता है। वस्तुस्वरूप में विरोध उत्पन्न होता है। क्योंकि तुम्हारी मान्यतानुसार या तो सब सर्वथा नाश होता है या सब सर्वथा उत्पाद होता है, कोई ध्रुवता नहीं रहती, अर्थात् कोई द्रव्य अविच्छिन्न नहीं रहता, इसलिए तुम्हारी मान्यता उचित नहीं है।

इसलिए वस्तुस्वरूप का घोटाला मिटाना हो तो वृत्ति का आधार वृत्तिमान पदार्थ स्वीकार करना योग्य है। अंश का आधार अंशी, पर्याय का आधार पर्यायवान निश्चित करना योग्य है और वह वृत्तिमान कालाणु ध्रुव पदार्थ है; और वृत्तिमान का अपना अस्तित्व प्रदेश बिना नहीं हो सकता; इसलिए वृत्तिमान कालाणु सप्रदेश ही है वह ऐसा निश्चित होता है।

यदि कालाणु को अप्रदेश माना जाए, तो अप्रदेश वाले पदार्थ का अस्तित्व नहीं हो सकता। अन्वय अर्थात् एकरूप रहनेवाला सदृश पदार्थ और व्यतिरेक अर्थात् एक के बाद एक होनेवाली अवस्थाएँ। ध्रुव, वह अन्वय-सदृश रहनेवाला है और उत्पाद-व्यय व्यतिरेक अर्थात् अवस्था है। अप्रदेशी को अन्वय-व्यतिरेकपना अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नहीं हो सकते। कालाणु उत्पाद-व्यय ध्रौव्य के अस्तित्ववाला पदार्थ है वह ऐसा पूर्व में निश्चित हो गया है। इसलिए कालाणु पदार्थ प्रदेशवाला निश्चित होता है।

इसप्रकार शंकाकार ने काल को प्रदेशवाला द्रव्य तो माना; परन्तु अब वह दूसरी शंका करता है वह जो इसप्रकार है :ह

‘इसप्रकार काल प्रदेशी है, तो उसको एक द्रव्य का कारणभूत लोकाकाशतुल्य असंख्य प्रदेश क्यों नहीं माने जाएँ? अर्थात् कालद्रव्य को धर्मास्तिकायवत् असंख्यप्रदेशी एक द्रव्य क्यों नहीं मानना चाहिए।’

उक्त शंका का समाधान इसप्रकार है :ह

तुम्हारी यह बात सत्य नहीं है। क्योंकि यदि कालद्रव्य असंख्यात प्रदेशी एक द्रव्य हो तो पर्यायसमय निश्चित नहीं होता। इसलिए काल को असंख्यप्रदेशी मानना योग्य नहीं है।

एक परमाणु एक प्रदेशमात्र कालाणु से नजदीक के दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मंदगति से जाए तब पर्यायसमय निश्चित होता है। यह काल के माप की बात है। यदि कालद्रव्य लोकाकाशतुल्य असंख्य प्रदेशी होवे तो पर्यायसमय की सिद्धि नहीं होती।

पुनः शंकाकार कहता है कि ‘कालद्रव्य धर्मास्तिकाय की तरह लोकाकाश प्रमाण असंख्य प्रदेशोंवाला एक द्रव्य होवे तब भी परमाणु जब आकाश के एक प्रदेश का उल्लंघन करता है तब पर्यायसमय निश्चित होता है।’

इसप्रकार शंकाकार तर्क करता है; परन्तु उसकी यह बात सही नहीं है। क्योंकि इसमें दो दोष आते हैं वह

(१) शंकाकार की मान्यता से द्रव्य के एकदेश की अवस्था को सम्पूर्ण द्रव्य की अवस्था मानने का प्रसंग आता है। क्योंकि उसने काल को धर्मास्तिकाय की तरह लोकाकाश प्रमाण माना है। एक परमाणु मंदगति से आकाश के एक प्रदेश को लाँचे वहाँ समय पूरा होता है, वह उसकी अवस्था एक अंश जितनी हुई; क्योंकि यहाँ तो काल का माप लेना है।

काल का माप कितना? कि परमाणु एक अंश उलंघे उतना। तो फिर काल की पर्याय भी वहाँ पूर्ण हो जाती है। सो शंकाकार के कथनानुसार

मानने से कालद्रव्य पूरे लोकाकाश में रहा और उसकी पर्याय एक अंश में रही हूँ सो यह बात तो विरोधवाली है। द्रव्य और पर्याय को लक्षणभेद से भेद होने पर भी प्रदेशभेद से भेद नहीं है। जितना क्षेत्र पर्याय का उतना ही क्षेत्र द्रव्य का होना चाहिए।

जैसे धर्मास्तिकाय की पर्याय उसके सम्पूर्ण द्रव्य में रहती है; वैसे ही काल की पर्याय कालरूप सम्पूर्ण द्रव्य में रहनी चाहिए; परन्तु शंकाकार के कथनानुसार माना जाए तो यहाँ काल में वैसा घटित नहीं हुआ। कालद्रव्य की पर्याय एक अंश में पूरी हो गई। इसप्रकार शंकाकार की यह बात विरोधयुक्त है। जैसे कोई कहे कि शक्कर तो पूरी कंकरी में है, परन्तु शक्कर का मीठा स्वाद अमुक छोटे भाग में है, तो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। तथा जैसे यह बात अशक्य है कि कोई द्रव्य तो ऊँचा रहे और उसकी पर्याय नीचे रह जाए; उसीप्रकार कालद्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश जितना रहे और उसकी पर्याय एक अंश में रहे हूँ यह अशक्य है; द्रव्य और पर्याय का क्षेत्र अलग नहीं है तथा कम-ज्यादा भी नहीं है। धर्मास्तिकाय द्रव्य लोकप्रमाण है और उसकी पर्याय भी लोकप्रमाण है। जबकि काल की पर्याय लोकप्रमाण कभी नहीं है। काल की पर्याय तो एक अंश (प्रदेश) में पूरी होती है, इसलिए उस पर्याय का धारक कालद्रव्य असंख्यप्रदेशी लोकप्रमाण सिद्ध नहीं होता; अपितु काल की पर्याय एक अंश (प्रदेश) में है, इसलिए पर्यायवान कालद्रव्य भी एक अंश (प्रदेश) में निश्चित होता है।

(२) काल को असंख्यप्रदेशी एक द्रव्य मानने से तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचय का प्रसंग आता है। वह इसप्रकार है : हूँ

काल को असंख्य प्रदेशी मानने से कालद्रव्य एकसमय में एक प्रदेश से वर्तेगा, दूसरे समय में दूसरे प्रदेश से वर्तेगा, तीसरे समय में तीसरे प्रदेश से वर्तेगा। क्योंकि शंकाकार ने माना है कि द्रव्य एक प्रदेश उलंघे वहाँ एक समय सिद्ध होता है। हूँ ऐसा होने से तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय का काम करेगा। एक के बाद एक प्रदेश अथवा क्षेत्र-अपेक्षित समूह को तिर्यक्प्रचय कहते हैं। तिर्यक्प्रचय का काम तो क्षेत्र की अपेक्षा बतलाना

है; परन्तु काल की अपेक्षा बतलाना तिर्यक्प्रचय का काम नहीं है। एक समय ... दूसरा समय ..... ऐसे काल की अपेक्षा बतलाना ऊर्ध्वप्रचय का काम है। अब, यहाँ शंकाकार काल को असंख्य प्रदेशी माने तो कालद्रव्य एकसमय में एक क्षेत्र से, दूसरे समय दूसरे क्षेत्र से वर्ते तो तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्य को प्रदेशमात्र सिद्ध करता है। अर्थात् तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय है हूँ ऐसा मानने का प्रसंग आता है; और इससे द्रव्य तो प्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है।

शंकाकार काल के असंख्य प्रदेश सिद्ध करना चाहता है। एक के बाद दूसरा अंश, फिर तीसरा अंश हूँ ऐसे क्षेत्र की चौड़ाई सिद्ध करना चाहता है अर्थात् तिर्यक्पना/क्षेत्र-अपेक्षितपना सिद्ध करना चाहता है; परन्तु वह तो सिद्ध नहीं होता। कारण कि एकसमय में तो पूरा द्रव्य एक अंश से पूरा हो जाता है; जिससे क्षेत्र-अपेक्षितपना अर्थात् चौड़ाई सिद्ध नहीं होती; परन्तु एक समय में एक अंश से, दूसरे समय में दूसरे अंश से हूँ ऐसा शंकाकार कहता है उसमें तो ऊँचापना अर्थात् काल अपेक्षितपना अर्थात् ऊर्ध्वप्रचयपना सिद्ध होता है। शंकाकार को तो क्षेत्र-अपेक्षितपना सिद्ध करना है; परन्तु क्षेत्र-अपेक्षितपना सिद्ध नहीं होता, अपितु काल अपेक्षितपना सिद्ध होता है। जिससे तिर्यक्प्रचय अर्थात् क्षेत्रअपेक्षितपने को ऊर्ध्वअपेक्षितपना अर्थात् कालअपेक्षितपना मानने का प्रसंग आता है। इसलिए कालद्रव्य में कालअपेक्षितपना सिद्ध होता है; परन्तु क्षेत्र अपेक्षितपना सिद्ध नहीं होता।

इसलिए तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचय न मानने (चाहने) वाले को प्रथम से ही कालद्रव्य को एक प्रदेशमात्र निश्चय करना चाहिए।

इसप्रकार काल एक निश्चय द्रव्य है और वह एक प्रदेश मात्र है हूँ यह निश्चित हुआ। काल भी एक ज्ञेय है और ज्ञेय का जैसा है वैसा ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन में द्रव्यविशेष प्रज्ञापन पर आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ। ●

## ज्ञेयतत्त्व – प्रज्ञापन (ज्ञान – ज्ञेय विभाग अधिकार)

प्रवचनसार गाथा १४५

अब, इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व कहकर, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुए, आत्मा को अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करने के लिये व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं :ह

सपदेसेहिं समगो लोगो अट्टेहिं णिट्टिदो णिच्चो ।

जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥१४५॥

( हरिगीत )

सप्रदेशपदार्थनिष्ठित लोक शाश्वत जानिये ।

जो उसे जाने जीव वह चतुप्राण से संयुक्त है ॥१४५॥

अन्वयार्थ :ह [ सप्रदेशैः अर्थैः ] सप्रदेश पदार्थों के द्वारा [ निष्ठितः ] समाप्ति को प्राप्त [ समग्रः लोकः ] सम्पूर्ण लोक [ नित्यः ] नित्य है, [ तं ] उसे [ यः जानाति ] जो जानता है [ जीवः ] वह जीव है ह [ प्राणचतुष्काभिसंबद्धः ] जो कि (संसार दशा में) चार प्राणों से संयुक्त है ।

टीका :ह इसप्रकार जिन्हें प्रदेश का सब्दाव फलित हुआ है ऐसे आकाश पदार्थ से लेकर काल पदार्थ तक के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है उसे वास्तव में, उसमें अंतःपाती होनेपर भी, अचिन्त्य ऐसी स्वपर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं । इसप्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं । और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है; ह इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है ।

१. छह द्रव्यों से ही सम्पूर्ण लोक समाप्त हो जाता है, अर्थात् उनके अतिरिक्त लोक में दूसरा कुछ नहीं है ।

२. अंतःपाती = अन्दर आ जानेवाला; अन्दर समा जानेवाला (= जीव लोक के भीतर आ जाता है) ।

अब, इस जीव को, सहज रूप से (स्वभाव से ही) प्रगट अनन्तज्ञान शक्ति जिसका हेतु है और तीनों काल में अवस्थायिपना (टिकना) जिसका लक्षण है ऐसा, वस्तु का स्वरूपभूत होने से सर्वदा अविनाशी निश्चय जीवत्व होने पर भी, संसारावस्था में अनादिप्रवाहरूप से वर्तमान पुद्गल संश्लेष के द्वारा स्वयं दूषित होने से उसके चार प्राणों से संयुक्तपना है ह जो कि (संयुक्तपना) व्यवहारजीवत्व का हेतु है, और विभक्त करने योग्य है ।

भावार्थ :ह षट्द्रव्यों का समुदाय वह लोक हैं । जीव उसे (अपनी) अचिन्त्य ज्ञान शक्ति से जानता है; इसलिये जीव के अतिरिक्त शेष द्रव्य ज्ञेय हैं और जीव ज्ञान तथा ज्ञेय है । उस जीव को वस्तु के स्वरूपभूत होने से जो कभी नष्ट नहीं होता, ऐसा निश्चय-जीवत्व सदा ही है । उस निश्चय जीवत्व का कारण स्वाभाविक अनन्तज्ञानशक्ति है । ऐसा निश्चयजीवत्व जीव के सदा होने पर भी वह, संसार दशा में स्वयं पुद्गल के संबंध से दूषित होने से चार प्राणों से संयुक्त है, और इसलिये उसके व्यवहारजीवत्व भी है । उस व्यवहारजीवत्व को कारणरूप जो चार प्राणों से संयुक्तपना उससे जीव को भिन्न करना चाहिये ।

गाथा १४५ पर प्रवचन

अब, इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व कहकर, ज्ञान और ज्ञेय को भिन्न करके आत्मा को निश्चित करते हैं । छह पदार्थ ज्ञेय हैं और उसमें अपना जीव ज्ञान और ज्ञेय दोनों है, इससे स्वयं छह द्रव्यों को जानता है । इसलिए अपने को छह द्रव्यों से भिन्न निश्चित करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं ।

सप्रदेश पदार्थों के द्वारा समाप्ति को प्राप्त सम्पूर्ण लोक नित्य है, उसे जो जानता है वह जीव है ह जो कि संसारदशा में चार प्राणों से संयुक्त है ।

इस लोक में छह द्रव्य हैं । आकाश अनंत प्रदेशी, जीव, धर्म, अधर्म, असंख्य प्रदेशी, परमाणु द्रव्य से एक प्रदेशी, पर्याय से अनेक प्रदेशी और

कालाणु एक प्रदेशी है ह्व यह सिद्ध किया। अंश न हो तो द्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। काल भी एक प्रदेशी है, इसलिए छहों पदार्थ सप्रदेशी हैं। लोक अनादि-अनंत है। उसको किसी ने बनाया नहीं है। जो उसको जानता है वह जीव है। समकृति मेंढक छह द्रव्यों के नाम नहीं जानता तथापि 'मैं जीव हूँ' ऐसा जानने पर 'अन्य समस्त परपदार्थ मैं नहीं हूँ' ह्व ऐसे सम्यग्ज्ञान में पर के विभाग में ज्ञेय आते हैं, वैसा अव्यक्तरूप से जानता है।

इन सब ज्ञेयों को सिद्ध करके यह बतलाते हैं कि ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञान की ताकत के कारण ज्ञान है। चैतन्यस्वभाव के कारण ज्ञान है और ज्ञान करनेवाला जीव है। छह द्रव्यों में से किसी द्रव्य को उत्पन्न करे, किसी का संरक्षण करे, किसी को बचावे, किसी को टिका रखे अथवा किसी का नाश कर सके ह्व ऐसा जीव का स्वरूप ही नहीं है। मेरे में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हो रहा है ऐसा जीव जाने। जानने-देखने के स्वभाववाला जीव अपनी अज्ञानदशा के कारण संसार में चार प्राणों से संयुक्त है।

### टीका पर प्रवचन

आकाश से लेकर काल तक के सभी द्रव्यों के प्रदेश निश्चित किये। किसी भी द्रव्य के प्रदेश न हों ह्व ऐसा नहीं हो सकता। प्रदेश नहीं हो तो वस्तु ही नहीं रहती, इसलिए सभी द्रव्य सप्रदेशी हैं। सम्पूर्ण लोक इन छह द्रव्यों से भरा हुआ है। इस लोक में जीव भी आ जाता है और वह अन्य को जानता है, इसलिए जीव ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों हैं।

'अपनी अचिंत्य ऐसी स्व-पर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा द्वारा जीव ही जानता है।' ह्व इसमें महासिद्धान्त है। स्वयं द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है और परपदार्थ परद्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप हैं ह्व जीव ऐसा जानता है। जगत में रुपयादि पुद्गल हैं ह्व उनको जानने की शक्ति जीव में

है; परन्तु वे रुपये जीव के हैं ह्व ऐसा जानने का जीव का स्वभाव नहीं है।

यहाँ जानने का स्वभाव कहा है। जीव निमित्त से, परपदार्थों की उपस्थिति से, मन से, इन्द्रियों से अथवा अपने राग से जानता है ह्व ऐसा नहीं कहा है; परन्तु अपनी अचिंत्य महान ऋद्धि से, स्व-परप्रकाशक शक्ति से जानता है।

अभी युवावस्था में कमाई कर लें तो वृद्धापन में काम आएगी, कुटुम्ब में, घर में, दुकान में इसप्रकार से व्यवस्था करूँ इत्यादि भाव जीव की ऋद्धि में नहीं है। अपनी कमजोरीवश राग हो जाता है, उसको भी जानने का जीव का स्वभाव है; परन्तु विकल्प के घोड़े दौड़ाकर राग करना अथवा परपदार्थों को अपना मानकर हेर-फेर करना जीव का स्वभाव नहीं है। जैसा हो वैसा जानना स्वभाव है।

अज्ञानी मानता है कि शरीर ठीक हो तो मुझे ठीक रहता है। परन्तु शरीर और वस्त्र तो परद्रव्य हैं; जीव उनका ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, ढँक नहीं सकता; परन्तु शरीर और वस्त्र मेरा है और उससे मुझे ठीक रहता है ह्व तू ऐसी मान्यता से अपने ज्ञान को ढँक रहा है।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि एक तिनके को दो टुकड़े करने की भी सामर्थ्य जीव की नहीं है। रुपये, मकान, शरीर, कुटुम्ब-कबीला आदि कही जानेवाली सम्पदा आत्मा में नहीं है। आत्मा तो जानने-देखनेवाला है। जीव में पर को करने का भाव नहीं है ह्व जिसको अपने ऐसे ज्ञानस्वभाव की ऋद्धि की महिमा आई है, उसको पर की ममता घटे बिना नहीं रह सकती।

स्व-पर को जानने की शक्ति जीव में ही है; परन्तु दूसरा कोई नहीं जानता। जीव के अलावा अन्य पाँचों द्रव्य ज्ञेय ही हैं और जीवद्रव्य ज्ञेय तथा ज्ञान है; कारण कि वह अपने को तथा पर को जानता है। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।

कभी नष्ट न हो ऐसे निर्मल जीवत्व से जीव सदा जी रहा है। उस निश्चय जीवत्व का हेतु अपने में सहजरूप से भरी अनंतज्ञान शक्ति है।

बाह्य प्राण ह इन्द्रिय, मन, शरीर अथवा रोटी आदि पदार्थ जीवत्व के कारण नहीं हैं।

प्रत्येक जीव में ऐसा निश्चय जीवत्व होने पर भी, स्वयं अज्ञानता के कारण अनादि से प्रवाहरूप प्रवर्तमान पुद्गल के संयोग से ह निमित्तपने के जुड़ान से संसारदशा में दूषित हुआ है और इन्द्रिय, बल, आयु व स्वासोच्छ्वास ह इन चार प्राणों से संयुक्त है अर्थात् वे एकक्षेत्रावगाहरूप हैं। वे व्यवहार जीवत्व का कारण हैं और प्रथक् करने योग्य है।

इसप्रकार निश्चय जीवत्व का हेतु अनंतज्ञान शक्ति को कहा गया है और व्यवहार जीवत्व का हेतु चार प्राणों से संयुक्तपना कहा है।

यहाँ आशय यह है कि यह ज्ञेय अधिकार है। जीव निश्चय से अपनी अनंतज्ञान शक्ति से जी रहा है ह ऐसे स्वज्ञेय को जान। संसारदशा में चार प्राणों के निमित्त से जीता है ह ऐसी संसारपर्याय भी स्वज्ञेय है, उसको भी जान; परन्तु वह तेरा वास्तविक स्वभाव नहीं है। चैतन्यप्राण से जीना तेरा स्वभाव है ह ऐसा जानकर, चार प्राणों के संयोग से भिन्न हो जा।

इन्द्रियाँ मन आदि संयोग प्राप्त हुए हैं, इसलिए इन्द्रियों आदि से लाभ ले लूँ और वे ठीक हों तो मुझे सुख होगा ह ऐसी भ्रान्ति निकाल दे। उनके निमित्तभूतपने के जुड़ान से भिन्न पड़ और सदा चेतना प्राण से जी।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि छह द्रव्य का समूह लोक है। जीव अपनी अर्चित्य अनंतज्ञान शक्ति से लोक को जानता है। इसलिए जीव के अतिरिक्त पाँचों द्रव्य ज्ञेय हैं और जीव ज्ञान तथा ज्ञेय है।

निश्चय जीवत्व वस्तु का स्वभावभूत है। वह कभी नष्ट नहीं होता और जीव को सदा होता है। उस निश्चयजीवत्व का कारण अनंतज्ञानादि शक्ति है। वह सदा होने पर भी संसार अवस्था में स्वयं पुद्गल के निमित्त से दूषित हुआ है। पुद्गल ने दुषित नहीं कराया है; परन्तु स्वयं अपराध करता है तब चार प्राण का एकक्षेत्रावगाह संबंध होता है। इसलिए जीव को व्यवहार जीवत्व भी है। उस व्यवहार जीवत्व के कारणरूप जो चार

प्राणों से जुड़ानपना है, उससे जीव को अत्यन्त प्रथक् करना योग्य है। पुद्गल प्राण तो परपदार्थ हैं। वे तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं; परन्तु जबतक उस ओर लक्ष्य करके, लाभ-हानि मानकर जीव अज्ञानभाव चालू रखता है, तबतक संयोग रहता है। यदि जीव चेतना की अनादि-अनंत शक्ति का लक्ष्य करके सच्चा ज्ञान करे तो संसारदशा का अभाव हो जाता है। उसको चार प्राणों का संयुक्तपना नहीं रहता; इसलिए चार प्राणों से जीव को प्रथक् करना ह ऐसा निमित्त से कथन किया गया है।

इसप्रकार निश्चयजीवत्व और व्यवहारजीवत्व दोनों स्वज्ञेय हैं। उनका यथार्थज्ञान करना ज्ञान की निर्मलता का कारण है। ●

ज्ञायकभाव है वह शुभाशुभभावरूप हुआ ही नहीं। शुभाशुभभाव तो अचेतन हैं, जड़ हैं, उनरूप हो तो ज्ञायकभाव जड़ हो जाये। आत्मा चैतन्य ज्ञायकभावरूप होने से शुभाशुभभावरूप नहीं होता, इसलिये उस ज्ञायकभाव में प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद नहीं हैं। ज्ञायकभाव तो एक चैतन्यरसरूप ही रहा है, शुभाशुभभाव के अचेतनरसरूप हुआ ही नहीं है। ज्ञायकभाव चैतन्य के तेज का ध्रुवप्रवाह है, वही दृष्टि का विषय है; उसमें पुण्य-पाप के भाव हैं ही नहीं; अप्रमत्त-प्रमत्त गुणस्थान के भेद या पर्यायभेद उसमें नहीं हैं। परन्तु वह तुझे ज्ञात कब होगा? ह कि जब तू परद्रव्य के भाव से भिन्न होकर ज्ञायकोन्मुख हो तब शुद्धता का अनुभव होगा और तभी यह आत्मा शुद्ध ज्ञायक ही है ऐसा यथार्थ जाना है। तेरी पर्याय में चैतन्य ज्ञायकभाव का आदर हो, सेवा हो, सन्मान हो, चमत्कारिक लगे, विशेषता आये तब परद्रव्य का सत्कार, सन्मान, आदर, चमत्कार छूट जाये और तब यह आत्मा शुद्ध ज्ञायक ही है ऐसा जानने में आता है।

ह द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१२२

### प्रवचनसार गाथा १४६

अब, प्राण कौन-कौनसे हैं, सो बतलाते हैं :ह

इंद्रियप्राणो य तथा बलप्राणो तह य आउप्राणो य ।

आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥१४६॥

( हरिगीत )

इन्द्रिय बल अर आयु श्वासोच्छ्वास ये ही जीव के ।

हैं प्राण इनसे लोक में सब जीव जीवे भव भ्रमे ॥१४६॥

अन्वयार्थ :ह [ इंद्रिय प्राणः च ] इंद्रिय प्राण [ तथा बलप्राणः ] बलप्राण, [ तथा च आयुःप्राणः ] आयुप्राण [ च ] और [ आनपानप्राणः ] श्वासोच्छ्वास प्राण; [ ते ] ये (चार) [ जीवानां ] जीवों के [ प्राणाः ] प्राण [ भवन्ति ] हैं ।

टीका :ह स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ह्य यह पाँच इंद्रियप्राण हैं; काय, वचन, और मन, ह्य यह तीन बलप्राण हैं, भव धारण का निमित्त (अर्थात् मनुष्यादि पर्याय की स्थिति का निमित्त) आयुप्राण है; नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है ऐसी वायु (श्वास) श्वासोच्छ्वास प्राण है ।

### गाथा १४६ पर प्रवचन

इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, आयु प्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण; यह चार जीवों के प्राण हैं ।

संक्षेप से चार प्राण और विस्तार से पाँच इंद्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वास और आयु ह्य ये दश जड़ प्राण हैं । संसारदशा में अनादिकाल से अज्ञानी जीव शरीर, इंद्रियाँ आदि जड़ प्राणों को अपना मानकर, उनमें से सुख प्राप्त करना चाहता है । ह्य इसकारण उसको संसार चालू रहता है; और विकार के फल में जड़कर्म बँधते हैं तथा जड़कर्म के फल में नोकर्मरूपी दशप्राणों का जीव को एकक्षेत्रावगाह संबंध होता है । कोई अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि संसार में दशप्राणों का संबंध व्यवहार से भी नहीं होता,

तो यह उसकी भूल है । तथा व्यवहार से दश प्राण होने पर भी वे जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है । इसप्रकार यहाँ दशप्राणों की दृष्टि छुड़ाने और चैतन्यप्राण की दृष्टि कराने के लिए व्यवहारप्राण का ज्ञान कराते हैं ।

यहाँ कोई कहे कि असाता का उदय न आवे और इंद्रियाँ शिथिल न पड़े, तबतक तू धर्म कर लेना ह्य ऐसा शास्त्र में आता है; तो सबल इंद्रियाँ, मजबूत शरीर और युवावय धर्म में मदद करता है ह्य यह तो सत्य है न? और वृद्धावस्था में इंद्रियाँ व शरीर शिथिल हो जाने से जीव धर्म नहीं कर सकता है न?

समाधान ह्य ये उपदेश वाक्य हैं । उपदेश वाक्यों का भाव समझना चाहिए । इसका आशय यह है कि असाता के उदय के समय तू स्वयं की असामर्थ्य के कारण कदाचित् पुरुषार्थ नहीं कर सके तो साता का उदय वर्तता है तबतक धर्म के लिए पुरुषार्थ कर । इसप्रकार ये पुरुषार्थहीन जीव को पुरुषार्थ में संलग्न कराने के लिए निमित्तपरक कथन हैं ।

इंद्रियाँ सबल या निर्बल रहना आत्मा के अधिकार की बात नहीं है तथा सबल इंद्रियाँ धर्म का या निर्बल इंद्रियाँ अधर्म का कारण भी नहीं है । आत्मा इंद्रियों से रहित ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वरूप है ह्य वह एक ही धर्म का कारण है ।

### १. इंद्रियप्राण का स्वरूप

इंद्रियप्राण के पाँच भेद हैं ह्य

१. स्पर्शन ह्य अज्ञानी जीव स्पर्शोन्द्रिय में सुख मानता है कि इंद्रियाँ अच्छी हो तो धर्म होता है । परन्तु स्पर्शन इंद्रिय तो जड़ हैं और आत्मा ज्ञानस्वरूप है । आत्मा स्पर्शन से भिन्न है ह्य ऐसा ज्ञान करना चाहिए ।

२. रसना ह्य रसना इंद्रिय ठीक हो तो भगवान के गुण अच्छी तरह से गाये जा सकते हैं और तभी रसना इंद्रिय का लाभ लिया ह्य अज्ञानी ऐसा मानता है । परन्तु रसना जड़ है, भाषा जड़ है; भक्ति का भाव पुण्य विकार है । आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है ।

३. घ्राण ह्य घ्राण इंद्रिय ठीक होने से अनाज सड़ा होने का पता चल जाता है, जिससे उसमें स्थित जीवों की दया पालन की जा सकती है ह्य



ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु घ्राण इन्द्रिय तो जड़ है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

४. चक्षु ह्व अज्ञानी मानता है कि चक्षु द्वारा भगवान के दर्शन करने से अवतार सफल होता है और भगवान की वीतरागी प्रतिमा देखने से आत्मा में वीतरागभाव प्रगट होता है; परन्तु यह बात मिथ्या है।

आँख तो जड़ है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है। आत्मा जड़ आँख से भिन्न है। ऐसे ज्ञान चक्षुवाले आत्मस्वभाव को देखने से भव सफल होता है और वीतरागभाव प्रगट होता है।

५. श्रोत्र ह्व अज्ञानी मानता है कि कान सही हों तो देव-गुरु की वाणी सुनी जा सकती है और धर्म होता है; परन्तु यह बात मिथ्या है।

कान तो जड़ है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आत्मा कान से भिन्न है ह्व ऐसा जानना चाहिए।

इसप्रकार पाँच इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न हैं ह्व ऐसे इन्द्रियप्राण का यथार्थज्ञान करना चाहिए।

## २. बलप्राण का स्वरूप

बलप्राण के तीन भेद हैं ह्व

(१) कायबल ह्व शरीर बल ठीक है तब तक तप करके धर्म का लाभ ले लें ह्व ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। शरीर को सुखाने से आत्मा को लाभ माननेवाले का आत्मा सूख जाता है और मिथ्यात्व पुष्ट होता है। शरीर सूखने से आत्मा को लाभ नहीं होता। काया तो जड़ है और आत्मा चेतन स्वरूप है। इसलिए कायबल से आत्मबल अत्यन्त भिन्न है ह्व ऐसे कायबल का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

(२) वचनबल ह्व वचनबल होने से भगवान के गुणगान किये जा सकते हैं और तब धर्म होता है ह्व ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। वचन जड़ है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वचन निकलने में आत्मा का वीर्य (बल) सहायक नहीं है; क्योंकि वचनबल से आत्मबल अत्यन्त भिन्न है। ह्व इसतरह वचनबल का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

(३) मनबल ह्व मनबल होने से हिताहित का विचार होता है और

समकित प्राप्त किया जा सकता है ह्व ऐसा अज्ञानी मानता है। तथा ज्ञानी पुरुष संज्ञी जीवों को धर्म का उपदेश देकर लाभ प्रदान करते हैं, अतः मन इतना लाभ का कारण है ह्व ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु यह बात मिथ्या है।

ज्ञानी को स्वयं के कारण विकल्प आता है; वाणी वाणी के कारण निकलती है। सामनेवाला जीव वाणी से या मन से नहीं समझता। वह अपने ज्ञान की योग्यता से समझे तो वाणी और मन को निमित्त कहा जाता है। मन तो जड़ है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ह्व इसप्रकार मनबल से आत्मबल अत्यन्त भिन्न है ह्व ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

आयु प्राण ह्व मनुष्य, तिर्यच, देव और नारकी की पर्याय जितने समय टिके, उसमें आयु प्राण निमित्त है। आयु प्राण उस अवस्था को टिका नहीं देता; परन्तु उन-उन अवस्थाओं की स्वयं के कारण जितने समय स्थिति रहे, उसमें आयु निमित्त है। यहाँ तो शरीर को टिका रखने में रोटी, दाल, भात अथवा दवा, हवा इत्यादि किसी भी बाह्य वस्तु को निमित्त कारण में नहीं लिया गया है। शरीर शरीर के कारण टिकता है, तब आत्मा और शरीर के साथ रहने का समय कितना है ह्व वह आयु बताती हैं। इसमें कोई कम-अधिक नहीं कर सकता। फिर भी अज्ञानी जीव आयु को बढ़ाना चाहता है और यह मानकर भ्रान्ति का सेवन करता है कि दीर्घ आयु से लाभ व अल्प आयु से हानि है। अज्ञानी यह भी मानता है कि मनुष्यपर्याय से मोक्ष होता है। वह कहता है कि देव भी मनुष्यपना चाहते हैं। परन्तु अज्ञानी की यह बात सत्य नहीं है। मनुष्यपना तो अनन्तबार मिला है, फिर भी मनुष्यदेह और भव पर दृष्टि होने से संसार चालू रहा है। भव तो पर है। आत्मा में भव है ही नहीं ह्व ऐसी निःसंदेहता/निःशंकता आने पर धर्म प्रगट होता है। जो जीव ऐसा पुरुषार्थ करता है, उसको मनुष्यभव निमित्तरूप कहा जाता है।

कोई प्रश्न करे कि तत्त्वार्थसूत्र में 'अकाल मृत्यु' कही है ह्व उसका क्या आशय है?

उत्तर ह्व कोई भी मृत्यु अकाल में होती ही नहीं। उस जीव का उस

शरीर के साथ उतने ही समय रहना था। उसकी मृत्यु नहीं होना थी, किन्तु हो गई हूँ ऐसा नहीं है। उस पर्याय की उतनी ही स्थिति थी। (आयु की उदीरणा/अकाल मरण के उक्त कथन में) मृत्यु के काल में बाह्य नोकर्म कैसा था हूँ उसका ज्ञान कराते हैं। कोई जीव जहर खाकर मरा अथवा मोटर से अकाल में मरा हूँ ये सब नोकर्म का ज्ञान करानेवाले निमित्त के कथन हैं।

यह आयु प्राण जड़ और आत्मा ज्ञानस्वरूप है हूँ उनका ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

**श्वासोच्छ्वास** हूँ वायु का ऊपर-नीचे जाना श्वासोच्छ्वास प्राण कहलाता है। परन्तु आत्मा श्वास नहीं ले सकता। श्वास जड़ की क्रिया है। कितने ही जीव मानते हैं कि दीर्घ प्राणायाम अर्थात् गहराई से श्वास लेने से शरीर स्वस्थ रहने के साथ ही दीर्घकाल तक टिका रहता है। यह मान्यता भ्रम है।

लोग यह भी मानते हैं कि नीम के पेड़ के नीचे खड़े रहने से ऑक्सीजन मिलती है, जिससे स्फूर्ति रहती है; परन्तु यह भ्रम है। वायु को ऊपर-नीचे करना आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। वायु जड़ है। उससे शरीर को लाभ-नुकसान नहीं है, तो आत्मा को लाभ कैसे हो? श्वास जीव का प्राण नहीं है। आत्मा तो चेतनाप्राणस्वरूप है। इसप्रकार श्वासोच्छ्वास प्राण चेतना प्राण से अत्यन्त भिन्न है हूँ उनका ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

इसप्रकार इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास हूँ ये चार प्राण जीव के व्यवहार से संसारदशा में होते हैं। इनके भेद १० होते हैं। अज्ञानी जीव अन्न को ग्यारहवाँ और धन को बारहवाँ प्राण कहता है हूँ यह तो स्थूल अज्ञान है। वे प्राण नहीं हैं। वे तो प्रत्यक्ष भिन्न पुद्गल पदार्थ हैं।

व्यवहार से संसारदशा में जीव को एकक्षेत्ररूप दश प्राण होते हैं; परन्तु वे जड़ हैं। उनसे आत्मा को लाभ या हानि नहीं है हूँ इसप्रकार उनसे दृष्टि हटाकर, जो अनादि-अनन्त चैतन्यप्राण है, उसका लक्ष करना ही इस गाथा का सार है। ●

### प्रवचनसार गाथा १४७

अब, व्युत्पत्ति से प्राणों को जीवत्व का हेतुपना और उनका पौद्गलिकपना सूत्र द्वारा कहते हैं (अर्थात् प्राण जीवत्व के हेतु हैं। ऐसा व्युत्पत्ति से दरशाते हैं तथा प्राण पौद्गलिक हैं ऐसा कहते हैं) :हूँ

**पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।**

**सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥१४७॥**

( हरिगीत )

जीव जीवे जियेगा एवं अभीतक जिया है।

इन चार प्राणों से परन्तु प्राण ये पुद्गलमयी ॥१४७॥

अन्वयार्थ :हूँ [ यः हि ] जो [ चतुर्भिः प्राणैः ] चार प्राणों से [ जीवति ] जीता है, [ जीविष्यति ] जियेगा [ जीवितः पूर्वं ] और पहले जीता था, [ सः जीवः ] वह जीव है। [ पुनः ] फिर भी [ प्राणाः ] प्राण तो [ पुद्गलद्रव्यैः निर्वृत्ताः ] पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न (रचित) हैं।

**टीका** :हूँ (व्युत्पत्ति के अनुसार) प्राण सामान्य से जीता है, जियेगा, और पहले जीता था, वह जीव है। इसप्रकार (प्राण सामान्य) अनादि संतानरूप (प्रवाहरूप) से प्रवर्तमान होने से (संसारदशा में) त्रिकाल स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही। तथापि वह (प्राण सामान्य) जीव का स्वभाव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य से निष्पन्न-रचित है।

**भावार्थ** :हूँ यद्यपि निश्चय से जीव सदा ही भावप्राण से जीता है, तथापि संसारदशा में व्यवहार से उसे व्यवहारजीवत्व के कारणभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से जीवित कहा जाता है। ऐसा होने पर भी वे द्रव्यप्राण आत्मा का स्वरूप किंचित् मात्र नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य से निर्मित हैं।

## गाथा १४७ पर प्रवचन

अब, प्राण जीवत्व के हेतु और पौद्गलिक हैं ह्व ऐसा कहते हैं।

पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ह्व ये दश प्राण संसारदशा में जीव को व्यवहार से होते हैं; परन्तु ये जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है; क्योंकि ये प्राण जड़ हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी इन प्राणों को निज मानकर और उनसे लाभ मानकर भ्रान्ति का सेवन कर रहा है। पाँचों इन्द्रियाँ अच्छी हों तो मुझे ज्ञान करने में सहायक होती हैं; मन-वचन-काय स्फूर्तिवाले हों तो मेरा बल टिका रहता है; अच्छा श्वास लिया जाए तो ठीक रहता है और श्वास ठीक नहीं चले तो अच्छा नहीं रहता; आयु दीर्घ हो तो धर्म ठीक प्रकार से हो सकता है। अनादि से इनमें ऐसी एकत्व बुद्धि होने के कारण अज्ञानी जीव इन प्राणों से ही अपना जीवन मानता है। अपने चैतन्यप्राण ही वास्तविक प्राण हैं और यह स्वयं अपने वीर्य से ही टिकता है; इसकी इसे खबर नहीं है। यह अनादि से जड़ प्राणों में एकत्वबुद्धि करता आया है; इसीकारण इसका संसार चालू है। जबतक वह इस अज्ञान भाव को चालू रखेगा, तबतक उसका संसार चलता रहेगा और संयोगरूप दशप्राण भी नियम से रहेंगे। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि अज्ञानी जीव प्राण सामान्य से जीता है, जियेगा और पूर्व में जीता था।

जबतक जीव के अज्ञानभाव रहेगा, तबतक उसको निमित्तरूप प्राण सामान्य भी प्रवाहरूप से प्रवर्तित होते रहेंगे; इसलिए वे व्यवहार से जीव को जीवत्व के हेतु हैं।

संसारदशा में जब जीव एक से दूसरी गति में जाता है; तब उसको सभी प्राण निमित्तरूप नहीं होते। विग्रहगति में पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, औदारिक शरीर तथा श्वास नहीं होते; मात्र कार्मण और तैजस शरीर तथा आयु होते हैं; तथापि वहाँ भी जीव जी रहा है। इसलिए आत्मा शरीर और इन्द्रियों के आधार से जीता है ह्व इस मान्यता का परित्याग कर देना चाहिए।

अज्ञानी मानता है कि श्वास जाने से आत्मा चला गया, इन्द्रियाँ शिथिल होने से आत्मा शिथिल हो गया; पाँच इन्द्रियाँ अच्छी मजबूत हो तो धर्म होता है; परन्तु भाई ये जड़ प्राण तो पुद्गल द्रव्य से निष्पन्न जड़ स्कन्ध हैं; स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण से बने हुए अचेतन हैं। ये प्राण जीव का स्वभाव नहीं है और न उन प्राणों से धर्म होता है। आत्मा तो चैतन्य प्राणमय है ह्व ऐसी श्रद्धा और ज्ञान के आधार से धर्म होता है।

वस्तुतः जीव सदा अपने ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य स्वभाव से ही जीता है; तथापि जबतक संसारदशा है, तबतक व्यवहारजीवत्व के निमित्तभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से जीता है ह्व यह व्यवहार से कहा जाता है।

ऐसा होने पर भी वे द्रव्यप्राण जीव का स्वरूप बिल्कुल नहीं है; क्योंकि वे पुद्गलात्मक हैं, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्त हैं और आत्मा तो अरूपी-ज्ञान-दर्शन चेतना प्राणस्वरूप है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा चेतनप्राण से जीता है ह्व यह निश्चय है और संसारदशा में जड़ प्राणों से जीता है ह्व यह व्यवहार है; किन्तु वे जड़ प्राण आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है ह्व ऐसा ज्ञान करके चेतनप्राणमय आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करना चाहिए। ●

## राग का आस्वाद छोड़ ...

जिस प्रकार हाथी लड्डू आदि स्वादिष्ट आहार और घास को साथ मिलाकर खाता हुआ उनकी भिन्नता को न जानकर घास के स्वाद का अनुभव करता है, उसी प्रकार तू सुन्दर चैतन्यस्वभाव को राग सहित मानता हुआ उन दोनों की भिन्नता के अभाव के कारण रागादि कुरूप भावों का ही अनुभव कर रहा है! इसलिये तू पशु समान है और उसके फल में तू पशु होगा। इसलिये हे दुरात्मन! तू राग का आस्वाद छोड़...छोड़।

ह्व द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१५३

**प्रवचनसार गाथा १४८**

अब, प्राणों का पौद्गलिकपना सिद्ध करते हैं :ह

**जीवो पाणनिबद्धो बद्धो मोहादिहं कम्मेहिं ।**

**उवभुंजं कम्मफलं बच्छदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥१४८॥**

( हरिगीत )

मोहादि कर्मों से बंधा यह जीव प्राणों को धरे ।

अर कर्मफल को भोगता अर कर्म का बंधन करे ॥१४८॥

अन्वयार्थ :ह [ मोहादिकैः कर्मभिः ] मोहादिक कर्मों से [ बद्धः ] बंधा हुआ होने से [ जीवः ] जीव [ प्राणनिबद्धः ] प्राणों से संयुक्त होता हुआ [ कर्मफलं उपभुंजानः ] कर्मफल को भोगता हुआ [ अन्यैः कर्मभिः ] अन्य कर्मों से [ बध्यते ] बंधता है ।

**टीका :**ह (१) मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और (२) प्राणों से संयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को (मोही-रागी-द्वेषी जीव मोह-राग-द्वेषपूर्वक) भोगता हुआ पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मों से बंधता है, इसलिये (१) पौद्गलिक कर्म के कार्य होने से और (२) पौद्गलिक कर्म के कारण होने से प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं ।

**गाथा १४८ पर प्रवचन**

(१) जीव मोहादिभाव करता है, इसलिए मोहनीय आदि आठ पुद्गलकर्मों से बंधता है । यहाँ मोहनीय की मुख्यता से बात की है, ज्ञानावरणादि गौण हैं । जीव की अज्ञानदशा में कर्म निमित्त है । उन कर्मों के फल में पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वास और आयु प्राण की प्राप्ति होती है । आत्मा प्राण प्राप्त होने का कारण नहीं है; क्योंकि आत्मा के लक्ष्य से तो कर्म का अभाव होता है और कर्म का अभाव होने पर प्राण प्राप्त नहीं होते; मुक्तदशा होती है; अतः प्राणों का कारण पुद्गल कर्म ही है ।

(२) संसारदशा में प्राणों का संयुक्तपना होता है और कर्म के फल में शरीर, इन्द्रियाँ, लक्ष्मी, दुकान, स्त्री, परिवार इत्यादि प्राप्त होते हैं । मैं इन जड़पदार्थों को भोगकर, इनमें से सुख प्राप्त कर लूँ हूँ अज्ञानी जीव ऐसी भ्रान्ति का सेवन करता है । वस्तुतः इन परपदार्थों का भोग तो अज्ञानी भी नहीं कर सकता; किन्तु वह ऐसा भाव करता है कि अनुकूल पदार्थों को मिलाकर और प्रतिकूल पदार्थों को हटाकर मैं सुखी हो जाऊँगा ।

मेरी होशियारी से पैसा आया है हूँ ऐसा मानकर वह राग करता है और पर ने मुझे हैरान किया हूँ ऐसा मानकर द्वेष करता है । वस्तुतः पैसा अथवा निरोगी शरीर सुख का कारण नहीं है और गरीबी अथवा रोग दुःख का कारण नहीं है । अज्ञानी मानता है कि मुझे खाना-पीना नहीं आया, इसलिए रोग नहीं मिटा और बुद्धिहीन होने से पैसा प्राप्त नहीं हुआ । जबकि वस्तुस्थिति यह है कि रोग अवस्था जिस समय होना हो, उस समय होती है और जब मिटना हो, तब मिटती है । इसीप्रकार पैसा भी पैसे के कारण आता है, उसमें जड़ कर्म निमित्त है । वस्तुस्थिति का ऐसा सम्यक्ज्ञान नहीं होने से अज्ञानी जीव अनुकूल संयोगों में राग और प्रतिकूल संयोगों में द्वेष करके, अपने विकारी भाव को भोगता है और इस कारण पुनः नवीन जड़कर्म बंधते हैं ।

वस्तुतः तो कर्म का फल कर्म में आता है और उस समय बाह्य पदार्थों का जैसा होना हो वैसा होता है हूँ ऐसा सच्चा ज्ञान करके, जीव को निज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की श्रद्धा करनी चाहिए; किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं करके आकुलित होता हुआ नवीन कर्म बाँधता है ।

(३) इसप्रकार चारों प्राण पुद्गल कर्म के कारण प्राप्त होते हैं; आत्मा के स्वभाव के कारण नहीं । तथा प्राण और कर्म दोनों पुद्गल भिन्न वस्तुएँ हैं । प्राण स्वयं की योग्यता के कारण आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही हुए हैं, उसमें जड़कर्म निमित्त है । जड़कर्म प्राण को खींचकर नहीं लाते;

किन्तु प्राण में जड़कर्म निमित्त है; इसलिए प्राणों को पुद्गल कर्म का कार्य कहा गया है।

जीव को संसारदशा में अज्ञानभाव के कारण नवीन कर्मबन्धन होता है; जबकि आत्मा के लक्ष्य से वीतरागी परिणाम प्रगट होते हैं, उससे नवीन कर्मबन्धन नहीं होता। नवीन कर्म अज्ञान अवस्था में प्राण के संयुक्तपने की दशा में बँधते हैं ह्व यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताकर नवीन जड़कर्म का कारण प्राण है ह्व ऐसा कहा है।

इसप्रकार प्राण प्राप्ति का कारण पुद्गल कर्म है और नवीन कर्मबन्धन का कारण प्राण है, इसलिए प्राण पौद्गलिक है ह्व ऐसा सिद्ध होता है।

आजकल तो मोटर, रेलगाड़ी, हवाई जहाज आदि की दुर्घटनाओं में कितने ही लोगों के मरने की खबरें सुनायी देती हैं। आँख खुले और स्वप्न चला जाये उसी प्रकार शरीर और भव क्षणभर में विलुप्त हो जाता है। हृदयाघात होने से क्षण में छोटी-छोटी उम्र के लोग भी चले जाते हैं। अरे! यह सं...सा...र...! नरक में अन्न का कण भी नहीं मिलता, पानी की बूँद नहीं मिलती और प्रतिकूलता का तो कोई पार नहीं... ऐसी स्थिति में अनंतबार गया है किन्तु वहाँ से निकलते ही सब भूल गया! उसका जरा विचार करे तो सब दुःखों से छूटने का मार्ग ढूँढे। अहा! ऐसा मनुष्यभव प्राप्त हुआ और ऐसा सत्य समझने का सुयोग मिला, उसमें अपने आत्मा का हित कर लेने जैसा है।

ह्व द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१३३-१३४

### प्रवचनसार गाथा १४९

अब, प्राणों के पौद्गलिक कर्म का कारणपना (अर्थात् प्राण पौद्गलिक कर्म के कारण किसप्रकार हैं) वह प्रगट करते हैं :ह्व

**पाणाबाधं जीवो मोहपदेसिहिं कुणदि जीवाणं ।**

**जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥१४९॥**

( हरिगीत )

**मोह एवं द्वेष से जो स्व-पर को बाधा करे ।**

**पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि कर्म वह बंधन करे ॥१४९॥**

अन्वयार्थ :ह्व [ यदि ] यदि [ जीवः ] जीव [ मोहद्वेषाभ्यां ] मोह और द्वेष के द्वारा [ जीवयोः ] जीवों के (स्वजीव के तथा परजीव के [ प्राणाबाधं करोति ] प्राणों को बाधा पहुँचाते हैं, [ सः हि ] तो पूर्वकथित [ ज्ञानावरणादिकर्मभि बंधः ] ज्ञानावरणादिक कर्मों द्वारा बंध [ भवति ] होता है।

टीका :ह्व प्रथम तो प्राणों से जीव कर्मफल को भोगता है; उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेष को प्राप्त होता है; मोह तथा द्वेष से स्वजीव तथा परजीव के प्राणों को बाधा पहुँचाता है। वहाँ कदाचित् (किसी समय) पर के द्रव्य प्राणों को बाधा पहुँचाकर और कदाचित् (पर के द्रव्य प्राणों को) बाधा न पहुँचाकर, अपने भावप्राणों को तो उपरक्तपने से (अवश्य ही) बाधा पहुँचाता हुआ जीव ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है। इसप्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारणपने को प्राप्त होते हैं।

### गाथा १४९ पर प्रवचन

अब, यह कहते हैं कि प्राण पौद्गलिक कर्म का कारण किस प्रकार है?

अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण कर्म के फलरूप धन, खाने-पीने के पदार्थ, मकान, गहनें, वस्त्र इत्यादि बाह्य संयोगों में से सुख प्राप्त करने का सिर्फ भाव करता है; जबकि मानता है कि मैं उन जड़ पदार्थों को भोगता हूँ। अज्ञानी पर पदार्थों को नहीं भोगता; वह तो अज्ञान से अपने

भाव को ही भोगता है। इसी बात को 'जीव प्राणों से कर्मफल को भोगता है' ह्व ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है कि निमित्त की ओर झुकाववाला जीव निमित्त को भोगता है ह्व ऐसा कहा है।

अज्ञानी जीव स्त्री, परिवार शरीर की निरोगता आदि अनुकूल संयोगों के प्रति मोह करता है और रोग, शत्रु आदि प्रतिकूल संयोगों के प्रति द्वेष करता है। इसतरह वह मोह और द्वेष से अपने और पर जीव के प्राणों को बाधा पहुँचाता है। स्वयं चैतन्य ज्ञातादृष्टा सुख स्वभाव स्वरूप है, उसे चूककर, मैं पर पदार्थों में से सुख प्राप्त कर सकता हूँ, पर को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ, अन्य जीवों की रक्षा कर सकता हूँ ह्व ऐसी मान्यता के कारण अज्ञानी अपने चैतन्य प्राण की हिंसा कर रहा है और अन्य जीवों को बाधक होने में निमित्त भी होता है।

जैसे कोई जीव तप्तायमान लोहखण्ड के गोले से दूसरे जीव को जलाना चाहे तो पहले तो उसका स्वयं का हाथ ही जलता है, पश्चात् दूसरे जीव के जलने/कष्ट होने या न होने का कुछ नियम नहीं है; इसीप्रकार अज्ञानी जीव तप्तायमान लोहखण्ड के गोले के समान मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होता है, तब पहले तो अपने निर्विकार स्व-संवेदनमय ज्ञानस्वरूप शुद्धभाव का घात अवश्य करता है अर्थात् अपने में शांति का वेदन करने के बदले आकुलता/खेद-खिन्नता का वेदन करता है; तत्पश्चात् परजीव के द्रव्य प्राणों का घात हो अथवा न हो, नियम नहीं है। एक जीव ने द्वेष करके दूसरे जीव के घात करने का भाव किया, परन्तु वह जीव वहाँ से हट गया और उसके साता के/पुण्य के उदय से उसका घात नहीं भी हुआ; परन्तु अपने में आकुलता तो अवश्य होती ही है, इसलिए घात करने के भाववाले ने अपने शान्त स्वभाव की हिंसा तो अवश्य की ही है।

यहाँ यह कहा है कि एक जीव दूसरे जीव के द्रव्यप्राणों को बाधा पहुँचाता है ह्व तो इसका अर्थ यह नहीं है कि एक जीव दूसरे को मार सकता है अथवा दुःख दे सकता है। वास्तव में एक जीव दूसरे जीव को

बाधा पहुँचा ही नहीं सकता है; परन्तु उस अन्य जीव की आयु पूर्ण होना हो अथवा असाता के कारण प्रतिकूलता का उदय आना हो, तब इस जीव ने उस जीव के द्रव्यप्राणों को बाधा पहुँचायी ह्व ऐसा कथन निमित्त की अपेक्षा से किया जाता है। अन्य जीव को बाधा पहुँचाने का भाव अपना है, वह भाव किसी दूसरे ने नहीं कराया है और उसका फल आकुलता भी स्वयं ही भोगता है।

अज्ञानी जीव मानता है कि दूसरे के उपदेश से अपने को लाभ हुआ अथवा निमित्त होने पर उपादान में कार्य होता है; तथा मैं संसार के कार्यों को, दुकान को, पुत्रादि को संभाल सकता हूँ, उनकी व्यवस्था कर सकता हूँ, मैं ध्यान रखूँ तो पैसा बना रहता है, मैं देश की सेवा कर सकता हूँ ह्व इसप्रकार विविध अज्ञानभाव करता है; परन्तु वह अज्ञानी जीव पर की पर्याय को बदलने में समर्थ नहीं है, मात्र अपने में ही खलबलाहट करता है। अन्य जीव को अनुकूल संयोग प्राप्त होना तो उसके पुण्य के आधीन है। पैसों की व्यवस्था पैसों के परमाणुओं के आधीन है। कोई भी जीव पर का ग्रहण त्याग नहीं कर सकता। जीव तो मात्र अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को विस्मृत करके, पर का करने का अभिमान करके, आकुलता का वेदन करता हुआ अपने भावप्राण की हिंसा करता है।

प्रश्न ह्व आप कहते हो कि आत्मा पर का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, परन्तु तीर्थङ्करों ने, मुनिराजों ने राज्य, धनादिक का त्याग करके चारित्र लिया था न?

उत्तर ह्व ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी जीव परपदार्थ का त्याग नहीं कर सकता। स्त्री, धन, परिवार, राज्यादि आत्मा से भिन्न पर वस्तुएँ हैं और जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, वह भी अपना स्वरूप नहीं है ह्व ऐसी श्रद्धा तो गृहस्थदशा में ही थी, तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष लीनता होने पर मुनिपना धारण किया। वस्तुतः तो चैतन्य स्वभाव में अन्तरलीन हुए तो राग को छोड़ा ह्व ऐसा कहा जाता है। राग के छूटने पर बाह्य पदार्थ छोड़े ह्व ऐसा उपचार से कहा जाता है। वास्तव में तो वे पदार्थ छूटे हुए ही थे। उन पर लक्ष्य नहीं गया और स्वभाव में लीन हुए, इस कारण राज्यादि

को छोड़ा कहा जाता है।

कोई ज्योतिषी ऐसा कहे कि भाई! तेरे लिए अमुक दिन भारी/कष्टप्रद है, तो वहाँ उसका विश्वास करके अपने हाथ का, दुकान अथवा घर का कार्य दूसरों को सौंप देता है और स्वयं आकुलता का वेदन करता है। वहाँ तो कभी ज्योतिषी के कथन सच्चा घटित हो अथवा नहीं भी हो और कदाचित् ख्याल में भी आ जाए तो भी जिस समय पर्याय छूटना है, उस समय में इन्द्र, नरेन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर भी परिवर्तित नहीं कर सकते। इसलिए एक बार केवलज्ञानी महाज्योतिषी की बात का विश्वास तो कर! वे कहते हैं कि भाई! तू ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है, पर का ग्रहण-त्याग तेरे अधिकार में नहीं है; तू शरीर की अवस्था को भी बदलने में समर्थ नहीं है।

अल्पज्ञ प्राणी को, कब-कहाँ, कैसा होगा ह इसप्रकार भविष्य का ज्ञान भले ही नहीं होता, परन्तु आयु में परिवर्तन करने की जीव की सामर्थ्य नहीं है। शरीर के वियोग का प्रसंग, जिस काल और जिस क्षेत्र में होना है, वह उसी काल और उसी क्षेत्र में होगा ही; इसलिए भाई! तू पर से दृष्टि हटाकर और विकल्प को गौण करके अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे तो तूने अपने ज्ञान प्राण को जीवित रखा है ह यही वास्तविक शान्ति और अहिंसा है और तब कर्म बन्ध नहीं होता।

अज्ञानी जीव निज चैतन्य सुख स्वभाव का भरोसा न करके, परकर्तृत्व के भाव से अपने में अशान्ति का वेदन करता है; अपने चैतन्यप्राण का घात करता है और ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि कर्मों का बन्धन करता है ह इसकारण उसका संसार चालू रहता है।

वस्तुतः अपने चैतन्यप्राण की हिंसा अर्थात् भावहिंसा नवीन कर्म का कारण है। द्रव्यप्राण नवीन कर्म का वास्तविक कारण नहीं है; परन्तु जीव द्रव्यप्राण से लाभ-हानि मानकर राग-द्वेष करता है और नवीन कर्म बन्धन करता है ह इसका उपचार द्रव्यप्राण पर करके द्रव्यप्राण को नवीन कर्म का कारण कहा गया है।

इसप्रकार प्राण नवीन कर्म का कारण है। ●

### प्रवचनसार गाथा १५०

अब पौद्गलिक प्राणों की संतति की (प्रवाह की/परम्परा की) प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु सूत्र द्वारा कहते हैं ह

**आदा कम्ममल्लिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।**

**ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणोसु विसयेसु ॥१५०॥**

( हरिगीत )

ममता न छोड़े देह विषयक जबतलक यह आतमा।

कर्ममल से मलिन हो पुन-पुनः प्राणों को धरे ॥१५०॥

अन्वयार्थ :ह [ यावत् ] जब तक [ देहप्रधानेषु विषयेषु ] देहप्रधान विषयों में [ ममत्वं ] ममत्व को [ न त्यजति ] नहीं छोड़ता, [ कर्ममलीमसः आत्मा ] तब तक कर्म से मलिन आत्मा [ पुनः पुनः ] पुनः-पुनः [ अन्यान् प्राणान् ] अन्य-अन्य प्राणों को [ धारयति ] धारण करता है।

**टीका :**ह जो इस आत्मा को पौद्गलिक प्राणों की संतानरूप प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंग हेतु शरीरादि का ममत्वरूप उपरक्तपना है, जिसका मूल (निमित्त) अनादि पौद्गलिक कर्म है।

**भावार्थ :**ह द्रव्य प्राणों की परम्परा चलते रहने का अंतरंग कारण अनादि पुद्गल कर्म के निमित्त से होनेवाला जीव का विकारी परिणामन है। जबतक जीव देहादि विषयों के ममत्वरूप विकारी परिणामन को नहीं छोड़ता, तब तक उसके निमित्त से पुनः पुनः पुद्गल कर्म बंधते रहते हैं और उससे पुनः पुनः द्रव्यप्राणों का संबंध होता रहता है।

### गाथा १५० पर प्रवचन

अब, पौद्गलिक प्राणों की परम्परा की प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु कहते हैं।

कर्म से मलिन यह आत्मा जबतक देहप्रधान विषयों में ममत्व नहीं छोड़ता, तबतक बार-बार अन्य-अन्य प्राणों को धारण करता है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा आनन्दस्वरूपी है, ज्ञान ही उसका शरीर है और परिपूर्ण शुद्धस्वभाव ही उसका ध्येय है; परन्तु अज्ञानी जीव को उस ध्येय

की खबर नहीं है; इसलिये वह 'शरीर ही मैं हूँ' हूँ ऐसा विपरीत ध्येय करता है। उसने आत्मा का विषय छोड़कर, देहादिक को प्रधान विषय बनाया है। इसप्रकार शरीरादिक की एकत्वबुद्धि पौद्गलिक प्राणों की परम्परा का अन्तरंग हेतु है और पौद्गलिक कर्म उसका निमित्त कारण है।

आत्मा ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी है। अज्ञानी उस आत्मस्वभाव को चूककर शरीर-मन-वाणी से अपने को लाभ होना मानता है। शरीर से पर की दया पालन की जा सकती है, संकल्प-विकल्प धर्म में सहायता करेंगे हूँ इत्यादि प्रकार के भावों को देहाध्यास कहते हैं। वीतरागी चैतन्य उपयोग को चूककर राग की ममता करना पर्यायबुद्धि है। औदारिकादि शरीर तो देह है ही; परन्तु देह के निमित्त से होने के कारण संकल्प-विकल्प, विभावादि को भी यहाँ देह की कोटी में डाल दिया है। शुद्ध चैतन्य स्वभाव का ध्येय चूककर अज्ञानी जीव देह प्रधान विषयों का ध्येय करता है, जिससे उसे नये-नये प्राण धारण करके अनेक प्रकार के भवों में अनेक प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। इसतरह उसका संसार चालू रहता है।

अज्ञानी जीव संसारदशा में नये-नये प्राण धारण किया ही करता है, उसका अन्तरंग कारण पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाला जीव का विकारीभाव है।

ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव विकार का कारण नहीं है; अपितु अशुद्ध उपादान अथवा जीव की वर्तमान पर्यायबुद्धि ही विकार का वास्तविक कारण है और उसका निमित्त कारण पुद्गलकर्म है। कर्म इस जीव को विभाव नहीं कराता यह स्वयं अपनी पर्यायबुद्धि से विकारी परिणमन करता है और कर्म उसमें निमित्त है। इससे संसार परिभ्रमण चालू रहता है।

अज्ञानी जीव चैतन्य स्वभाव के भान बिना शरीर अथवा स्त्री-पुत्रादि के प्रति ममता करता है तथा देव-शास्त्र-गुरु से अथवा दया, दानादि के भाव से मुझे धर्म होगा हूँ ऐसा मानकर उनके प्रति भी ममता करता है। जबतक यह जीव इस ममतारूप विकारी परिणमन का परित्याग नहीं करता, तबतक विकार के निमित्त से बारम्बार आठों कर्मों का बंधन होता ही रहता है और इसी कारण पुनः-पुनः द्रव्यप्राणों का संबंध भी होता है। ●

### प्रवचनसार गाथा १५१

अब पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अन्तरङ्ग हेतु समझाते हैं हूँ

जो इन्द्रियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।

कम्महिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥१५१॥

( हरिगीत )

उपयोगमय निज आतमा का ध्यान जो धारण करे ।

इन्द्रियजयी वह विरतकर्मा प्राण क्यों धारण करें ॥१५१॥

अन्वयार्थ : हूँ [ यः ] जो [ इन्द्रियादिविजयीभूत्वा ] इन्द्रियादिका विजयी होकर [ उपयोगं आत्मकं ] उपयोग मात्र आत्मा का [ ध्यायति ] ध्यान करता है, [ सः ] वह [ कर्मभिः ] कर्मों के द्वारा [ न रज्यते ] रंजित नहीं होता; [ तं ] उसे [ प्राणाः ] प्राण [ कथं ] कैसे [ अनुचरंति ] अनुसरेंगे? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता।)

टीका : हूँ वास्तव में पौद्गलिक प्राणों के संतति की निवृत्ति का अन्तरङ्ग हेतु पौद्गलिक कर्म जिसका कारण (-निमित्त) है ऐसे 'उपरक्तपने का अभाव है। और वह अभाव जो जीव समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्यों के अनुसार परिणति का विजयी होकर, (अनेक वर्णोंवाले) 'आश्रयानुसार सारी परिणति से व्यावृत्त (पृथक् अलग) हुए स्फटिक मणि की भाँति, अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र अकेले आत्मा में सुनिश्चलतया बसता है उस जीव के होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि हूँ आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये व्यवहारजीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इसप्रकार उच्छेद करने योग्य हैं।

भावार्थ : हूँ जैसे अनेक रंगयुक्त आश्रयभूत वस्तु के अनुसार जो

१. उपरक्तपना हूँ विकृतपना, मलिनपना, रंजितपना

२. जिसमें स्फटिक मणि रखा हो वह वस्तु।



(स्फटिक मणि का) अनेकरंगी परिणमन हैं, उससे सर्वथा व्यावृत्त हुये स्फटिकमणि के उपरक्तपने का अभाव है, उसीप्रकार अनेकप्रकार के कर्म व इन्द्रियादि के अनुसार जो (आत्मा का) अनेक प्रकार का विकारी परिणमन है उससे सर्वथा व्यावृत्त हुये आत्मा के (जो एक उपयोगमात्र आत्मा में सुनिश्चलतया बसता है उसके) उपरक्तपने का अभाव होता है। उस अभाव से पौद्गलिक प्राणों की परम्परा अटक जाती है।

इसप्रकार पौद्गलिक प्राणों का उच्छेद करने योग्य हैं।

### गाथा १५१ पर प्रवचन

अब, पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अंतरंग हेतु समझाते हैं ह

जड़ इन्द्रियाँ आत्मा का स्वरूप नहीं, ऐसा ज्ञान करके इन्द्रियों में सुखबुद्धि हटायी, उसको इन्द्रियादिक पर विजय प्राप्त की ह ऐसा कहा जाता है। पर पदार्थों से सुखबुद्धि हटी यह नास्ति का कथन है। यहाँ सर्वप्रथम नास्ति से कथन किया, पश्चात् अस्ति से कथन किया है। जब आत्मा ज्ञाता-दृष्टारूप स्व-उपयोग में एकाग्र होता है, तब उसके पर्यायबुद्धि नष्ट हो जाती है ह ये दोनों कार्य एक साथ ही होते हैं।

प्रश्न ह पहले इन्द्रियों को जीतें फिर वन में जायें तो?

उत्तर ह इन्द्रियाँ तो जड़ हैं और वन भी जड़स्थान है। पत्नी, पुत्र, शरीर, इन्द्रियाँ ह ये सभी पर हैं वे तो छूटे ही पड़े हैं तथा बाह्य परिग्रह को जीतने की बात तो दूर अन्तरंग परिग्रह को भी छोड़ने की बात नहीं है। अंतरंग परिग्रह छोड़ूँ इस विकल्प से अथवा पर्याय के लक्ष्य से अंतरंग परिग्रह नहीं छूटता। मन तो जड़ है, उसे तो छोड़ना ही नहीं है; अपितु मन के निमित्त से होने वाले विभाव का भी निरोध नहीं करना है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है ह ऐसा भान करके चैतन्यस्वभाव में उपयोग जोड़ने से आत्मा में लीनता होती है और उसीसमय अंतरंग परिग्रह छूट जाता है और मन का निरोध हो जाता है।

नास्ति करे तो अस्ति होती है ह ऐसा नहीं है। अंतरंग परिग्रह मेरे में नहीं ऐसे नास्ति के जोर में ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की अस्ति का स्थापन नहीं होता; किन्तु मैं उपयोग स्वरूप हूँ ऐसी अस्ति की तरफ दृष्टि करने से रागादि की तरफ से नास्ति सहज ही हो जाती है। अंतरंग परिग्रह से अथवा विकार से हटा ह ऐसा कहना निमित्तमात्र है।

पर पदार्थ आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिए उनको तो जीतना भी नहीं है अब रही कषाय को जीतने की बात; जो कषाय भूत में हो गई, वह तो नष्ट हो गई, उसे जीतना बन नहीं सकता; और भविष्य तो आया ही नहीं, उसको जीतना रहा नहीं; किन्तु जो कषाय वर्तमान में उत्पन्न होकर वर्तमान समय में विद्यमान है, उसे किस प्रकार जीते? स्वभाव में उपयोग लगाने पर आत्मा में एकाग्रता होती है और राग की उत्पत्ति ही नहीं होती, तब राग को जीता अथवा इन्द्रियादिक पर विजय की ऐसा कथन करने में आता है।

वर्तमान राग के सद्भाव के समय राग का नाश करता हूँ ह ऐसा मानने वाला जीव सत् पर्याय को असत् मानकर मिथ्यात्व का सेवन करता है। राग के लक्ष्य से राग का नाश नहीं होता। मैं वीतराग स्वभावी ज्ञान-उपयोग स्वरूप हूँ ह ऐसा भान करके स्वयं में एकाग्र हो तो विकल्प का नाश हो जाता है।

इस गाथा में उपयोगमात्र आत्मा को ध्याने योग्य कहा है। उपयोगमात्र के ऊपर खास वजन है। आत्मा पाँच इन्द्रियों तथा प्राणरूप तो है ही नहीं; अपितु संकल्प, विकल्प, दया, दान स्वरूप भी नहीं है। वह तो जानने-देखने रूप सहज स्वभाव वाला है। उपयोगमात्र आत्मा को ध्याने से कर्म, शरीर और प्राण जीव से नहीं चिपकते। प्राणों से आत्मा को लाभ होगा यह मिथ्या मान्यता है। इसी कारण प्राण आत्मा से चिपकते हैं जैसे लौकिक में कहा जाता है कि चुड़ेल किसी को पुकारे और वह जवाब दे तो चुड़ेल उसको परेशान करती है; परन्तु जवाब नहीं दे तो उसको परेशान नहीं करती (यह तो दृष्टान्त है, कोई किसी को परेशान नहीं करता) उसी

प्रकार जो प्राणों को अपना मानता है, प्राण उसी से चिपकते हैं।

विकार सन्मुख दृष्टि रखकर विकारभाव रूप पुण्य की रुचि रखे अथवा ऐसा माने कि धर्म के लिए व्यवहार चाहिये तो यह सब ममतारूपी चुड़ेल को बुलाने जैसा ही है और “विकार को छोड़ूँ, विकार को छोड़ूँ” ऐसा विकल्प चुड़ेल को जवाब देने जैसा है। इसीकारण ममतारूपी चुड़ेल अज्ञानी आत्मा को परेशान करती है और उसके ज्ञानप्राण को नष्ट कर देती है और द्रव्य प्राण एक के बाद एक ममतारूपी चुड़ेल के पीछे आते ही रहते हैं और (संसारी) आत्मा को दुःखी करते हैं; परन्तु एक बार भगवान आत्मा शरीर, प्राण इत्यादि की तथा पुण्य-पापादि की ममता छोड़कर सम्पूर्ण उपयोग स्वयं के ज्ञानस्वभाव की तरफ लगाये और उपयोग मात्र आत्मा में लीनता करे तो ममतारूपी चुड़ेल परेशान नहीं करेगी और कर्म तथा जड़ प्राण उस धर्मी जीव से नहीं चिपकेंगे।

अज्ञानी जीव को एक अंगुली में जरा सी पीड़ा होती है तो बहुत तीव्र आकुलता करता है। इसे शरीर के रोम-रोम में तीव्र ममता है, जब इस सम्पूर्ण शरीर के छूटने का प्रसंग आयेगा क्या करेगा? इसे चैतन्यस्वरूप की खबर नहीं है; इसकारण तीव्र आकुलता का वेदन करता है और नये-नये शरीर को धारण करता रहता है। जब एकबार स्वयं को ज्ञाता-दृष्टा शक्ति का सागर मानकर ध्यान करे और शरीर की ममता छोड़े तो शरीर रहित दशा प्राप्त होगी, फिर दुबारा प्राण धारण नहीं करने पड़ेंगे।

### टीका पर प्रवचन

यह जीव अज्ञानदशा में बारम्बार पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वास और आयु ऐसे दश प्राणों को धारण करता है। इस परम्परा की निवृत्ति करना हो तो कर्म के निमित्त से होने वाले मिथ्यात्व राग-द्वेष आदि अंतरंग हेतुओं का अभाव करो। कर्म की समीपता के निमित्त से हुए उपाधि रूप विकारी भाव को उपराग अथवा उपरक्त भी कहते हैं। जब तक कर्म अथवा शरीरादि के ऊपर दृष्टि रहेगी तब तक मलिनता रहेगी और जब उस पर से दृष्टि उठाकर स्वभाव की दृष्टि करेगा मलिनता का

अभाव होगा और मलिनता का अभाव होने से प्राणों की परंपरा का अभाव होगा। अतः प्राणों के अभाव का मूल कारण मलिनता का अभाव है।

### ‘स्वभाव सन्मुखदृष्टि ही मलिनता के अभाव का उपाय’

जिसप्रकार जब स्फटिक मणि के पास में जवा पुष्प रखा हो तब स्फटिक मणि की लालिमारूप विकृति उसकी उससमय की योग्यता के कारण दिखाई देती है; परन्तु जब स्फटिक मणि को पुष्प से दूर करके देखते हैं तो स्फटिक मणि एकदम सफेद असली स्वरूप में दिखाई देती है और लालिमा रूपी विकृतदशा का उसमें अभाव होता है।

उसीप्रकार जीव परद्रव्यों में सुखबुद्धि करके स्वयं उनका अनुसरण करके मलिनता करता है। (यहाँ ऐसा नहीं कहा कि पर द्रव्य के कारण मलिनता होती है।) जो मिथ्यात्व राग-द्वेष पुण्य-पाप के परिणाम करता हुआ अत्यन्त विशुद्ध जानना देखना स्वभावरूप आत्मा में दृढ़ता पूर्वक लीनता करता है उसके मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय आदि मलिनता का अभाव हो जाता है।

स्वभाव कैसा है? परपदार्थ के अभावस्वरूप है। राग-द्वेष तथा उनकी अवस्था आत्मा का स्वरूप नहीं। जिसप्रकार ह्व स्फटिक शुद्ध है, उसीप्रकार आत्मा भी शुद्ध है, जानने-देखने के स्वभाववाला है, सुखसागर है, जो उसमें रमणता करता है, उसके संसार का अभाव होता है।

यह ज्ञेयतत्त्व अधिकार है। यहाँ अस्ति-नास्ति दोनों का ज्ञान कराया है। इन्द्रियों को जीतना, राग को जीतना ये सभी कथन नास्ति के हैं। कषाय को जीते वह जैन, यहाँ भी नास्ति की व्याख्या है। किसको जीतना? संसार उदयभाव है वह सीधा पदार्थ है उसको किस प्रकार जीतें? किस आधार से जीतें? परपदार्थ जीव को नहीं, पुण्य-पाप विकृत दशा है। आत्मा स्वयं सत्ता-स्वरूप अखण्ड पदार्थ है, विशुद्ध उपयोगमय है। ऐसी स्वभावबुद्धि करके स्वभाव में स्थिरता-एकाग्रता करने से संसाररूप उदयभाव अथवा पर्यायबुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती और राग-

द्वेष जीत लिये जाते हैं तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है फिर मलिनता का अभाव करना नहीं पड़ता। विजय प्राप्त की, यह कथन व्यवहारनय का है।

एक वृक्ष के ऊपर बंदर बैठा था और वह वृक्ष के झाड़ को स्वयं का मानता था। हवा के कारण सूखा पत्ता गिरता, उससे वह रोने लगता था; उसी प्रकार अज्ञानी जीव परपदार्थों को स्वयं का मानकर बैठा है, उसमें से एकाद का वियोग होता है तो रोता है, उससे ज्ञानी पुरुष पूँछते हैं कि एक चीज जाने से ही तू आर्तध्यान करता है तो जब सभी चीजों के अभाव का प्रसंग आयेगा तब तुम्हारी क्या दशा होगी? सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा तो शांति कैसे रखेगा, इसलिये कोई वस्तु तुम्हारी नहीं ऐसी सच्ची समझ कर। शरीर, लक्ष्मी, पुण्य-पाप आदि को रखने का प्रयास पर्याय बुद्धि है, उसे छोड़ स्वसन्मुख बुद्धि कर आत्मा सुख सागर है उसमें सुनिश्चितपने बस और स्थिर हो जाये तो विकल्प का संबंध रहेगा ही नहीं। मलिनता का अभाव होगा और सदा प्राण रहित होकर ज्ञान प्राण से जीयेगा।

इसप्रकार अत्यन्त विशुद्ध उपयोग मात्र आत्मा में लीनता ही प्राणों की परंपरा की निवृत्ति का अंतरंग हेतु है। गाथा १५० में कहा था कि देह प्रधान दृष्टि प्राणों की परंपरा का कारण है। गाथा १५१ में कहा है कि ज्ञान स्वभाव प्रधान दृष्टि ही प्राण के अभाव का कारण है अर्थात् वह संसार के नाश का उपाय है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि जिसे आत्मा को अत्यंत भिन्नपने साधना हो अथवा सिद्धदशा प्रगट करनी हो, उसे व्यवहार जीवत्व के हेतुभूत प्राणों का इस रीति से नाश करना चाहिए। पाँच इन्द्रिय शरीर, मन, वाणी सभी जड़ हैं वे आत्मा के स्वरूप नहीं; आत्मा ज्ञानस्वभाव है, उसकी प्रतीति करके एकाग्रता करना पूर्णपद की प्राप्ति का उपाय है। तीन काल में परमार्थ का पंथ एक ये ही है और इसी उपाय से प्राण रहित होते हैं।

भावार्थ हूँ जैसे अनेक रंगवाली चीज में स्फटिक मणी को डालते हैं

तो स्फटिकमणि में उन चीजों का जैसा रंग हो वैसा रंग दिखाई देता है; परन्तु उन रंगवाली चीजों से स्फटिकमणि को जुदा करने पर उसमें रंगबिरंगापन दिखाई नहीं देता; परन्तु वह सफेद दिखाई देती है, उसमें मलिनता का अभाव है। उसीप्रकार अनेक प्रकार के कर्म, इन्द्रिय इत्यादि के अनुसार विकाररूप परिणमन होता है; परन्तु जो आत्मा स्वयं के ज्ञानदर्शन उपयोग स्वभाव में रहता है, उसके विकारी परिणमन नहीं होता। वह विकार से भिन्न रहता है, उसके मलिनता नहीं रहती और उसके प्राणों की परंपरा समाप्त हो जाती है।

यथार्थ ज्ञान के बिना सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व बिना चारित्र नहीं होता, चारित्र बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान बिना सिद्धदशा नहीं होती। इसलिए सर्वज्ञ भगवान ने जैसा जाना है और कहा है, वैसा जानो। प्राणों से भिन्न होने का यही एक उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। ●

### सन्तों ने गजब काम किया है

संसार में स्त्री-पुत्र-व्यापारादि का लक्ष करने से तो पाप ही होगा और देव-शास्त्र-गुरु का लक्ष करने से पुण्य होगा। वह तो ठीक; परन्तु एकरूप द्रव्यसामान्य ध्रुव है उसमें गुणभेद का लक्ष करने जायेगा तब भी उसके लक्ष से विकल्प होगा, राग होगा। भाई, उस राग का तुझे दुःख होगा और ध्रुववस्तु सामान्य एकरूप चैतन्यस्वभाव है उसका लक्ष करने से भेद का लक्ष छूट जायेगा और तुझे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होगा। अहाहा! ध्रुवस्वभाव की महिमा का क्या कहना! संतों ने गजब काम किया है।

हूँ द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-११८

### प्रवचनसार गाथा १५२

अब फिर भी आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए व्यवहार जीवत्व के हेतु ऐसी जो गति विशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायों का स्वरूप कहते हैं ह

अत्थित्तिणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो ।

अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥१५२॥

( हरिगीत )

अस्तित्व निश्चित अर्थ की अन्य अर्थ के संयोग से ।

जो अर्थ वह पर्याय जो संस्थान आदिक भेदमय ॥१५२॥

अन्वयार्थ : ह [ अस्तित्वनिश्चितस्य अर्थस्य हि ] अस्तित्व से निश्चित अर्थ का (द्रव्य का) [ अर्थान्तरे संभूतः ] अन्य अर्थ में (द्रव्य में) उत्पन्न [ अर्थः ] जो अर्थ (भाव) [ स पर्यायः ] वह पर्याय है ह [ संस्थानादिप्रभेदैः ] कि जो संस्थानादि भेदों सहित होती है ।

टीका : ह स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से निश्चित एक अर्थका (द्रव्य का), स्वलक्षणभूत स्वरूप अस्तित्व से ही निश्चित ऐसे अन्य अर्थ में (द्रव्य में) विशिष्टरूप से (भिन्न-भिन्न रूप से) उत्पन्न होता हुआ जो अर्थ (भाव), वह अनेकद्रव्यात्मक पर्याय है वह अनेक द्रव्यात्मक पर्याय वास्तव में, जैसे पुद्गल की अन्य पुद्गल में (अनेक द्रव्यात्मक उत्पन्न होती हुई देखी जाती है उसी प्रकार, जीव की पुद्गल में संस्थानादि से विशिष्टतया (संस्थान इत्यादि के भेद सहित) उत्पन्न होती हुई अनुभव में अवश्य आती है और ऐसी पर्याय उत्पन्न (योग्य घटित, न्याययुक्त) है; क्योंकि जो केवल जीव की व्यतिरेक मात्र है ऐसी अस्खलित एकद्रव्यपर्याय ही अनेक द्रव्यों के संयोगात्मकरूप से भीतर अवभासित होती है ।

भावार्थ : ह यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न-भिन्न रहता है; तथापि जैसे पुद्गलों की अन्य पुद्गल के संबंध से स्कंधरूप

पर्याय होती है उसीप्रकार जीव की पुद्गलों के संबंध से देवादिक पर्याय होती है । जीव की ऐसी अनेकद्रव्यात्मक देवादिकपर्याय अयुक्त नहीं है; क्योंकि भीतर देखने पर, अनेक द्रव्यों का संयोग होने पर भी, जीव कहीं पुद्गलों के साथ एकरूप पर्याय नहीं करता, परन्तु वहाँ भी मात्र जीव की (पुद्गल पर्याय से भिन्न) अस्खलित (अपने से च्युत न होनेवाली) एकद्रव्यपर्याय ही सदा प्रवर्तमान रहती है ।

### गाथा १५२ पर प्रवचन

आत्मा त्रिकाल रहनेवाला पदार्थ है, उसको किसी ने बनाया नहीं है । आत्मा वह का वही है, वह नया उत्पन्न नहीं हुआ । वह तो स्वयं के स्वरूप के अस्तित्व से निश्चित किया हुआ है ।

जहाँ एक साथ अनंत जीव रहते हैं, वहाँ भी प्रत्येक आत्मा स्वयं के स्वरूप-अस्तित्व से जुदा-जुदा है और उसके कार्मण व तैजस शरीर स्वयं के स्वरूप अस्तित्व से जुदे-जुदे हैं । शरीर, मन, वाणी इत्यादि पुद्गल द्रव्य भी स्वयं के स्वरूप-अस्तित्व से जुदे-जुदे हैं । यद्यपि संसार-अवस्था में जीव और शरीर एकमेक संयोगरूप देखने में आते हैं । आत्मा जो शरीर धारण करता है, उसी आकार में देखने में आता है । यह उसकी अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है ।

जिसप्रकार एक पुद्गल परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर अनेक द्रव्यात्मक पर्याय धारण करता है । रोटी, दाल, भात के परमाणु के कारण शरीर अनेक द्रव्यात्मक अवस्था धारण करता हुआ देखने में आता है । दूसरे अनेक पुद्गल परमाणु पुस्तकरूप मकानरूप अनेक द्रव्यात्मक अवस्था धारण किये हुये प्रत्यक्ष देखने में आते हैं; उसीप्रकार आत्मा अनेक द्रव्यात्मक पर्यायरूप संसारदशा में उत्पन्न होता हुआ देखने में आता है । एकेन्द्रिय हो तो एकेन्द्रिय के आकाररूप, मनुष्य हो तो मनुष्य के आकाररूप अनेक द्रव्यात्मक अवस्था धारण करता हुआ देखने में आता है । जीव को ऐसी संयोगात्मक पर्याय बिल्कुल होती ही नहीं ह ऐसा कोई माने तो यह उसकी भूल है । कारण कि ऐसे जुदे-जुदे शरीरों के

आकारों में जीव उन आकाररूप उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष देखने में आता है। संसारदशा में जीव शरीर के संयोग बिना रहे ह्व ऐसा कभी हो नहीं सकता। एकगति से दूसरी गति में जाता हुआ विग्रहगति में भी तैजस और कार्मण शरीर साथ में होते ही हैं। इसलिए यह संयोगात्मक पर्याय न्याययुक्त है और वह अनुभव में आता है।

यह अनेक द्रव्यात्मक पर्यायपना भी जीव को होता हुआ भी जीव के चेतना स्वरूप से जुदा है। शरीर, कर्म इत्यादि रूपी पदार्थों से भी वह जुदा है। वह पुद्गल के दृष्टान्त से समझाने में आता है। एक पुद्गल परमाणु दूसरे पुद्गल परमाणु के साथ स्कंधरूप में देखने में आता हुआ भी उसमें एक-एक परमाणु स्वयं के स्वरूप अस्तित्व से दूसरे परमाणु से जुदा-जुदा है। हल्दी और चूने के संयोग से लाल अवस्था होती है; पर चूने से लाल अवस्था हुई ह्व ऐसा नहीं। हल्दी की स्वयं की योग्यता से उसके रंग गुण की अवस्था पीले में से लाल होती है।

इसप्रकार एक-एक परमाणु स्वतंत्र स्वरूप अस्तित्व से रहता है। रूप्यों में चाँदी का एक-एक परमाणु स्वतंत्र स्वरूप अस्तित्व से रहता है। बाह्य स्थूल अपेक्षा से अनेक द्रव्यात्मक पर्याय दिखती है; परन्तु एक-एक परमाणु की पर्याय जुदा-जुदा है। उसीप्रकार आत्मा की जुदी-जुदी गतियों में जुदे-जुदे शरीरों के आकाररूप पर्याय दिखाई देती है, अंदर में आत्मा जुदा है और शरीर जुदा है। शरीर के आकार शरीर के कारण हैं तथा आत्मा के आकार आत्मा के कारण हैं। शरीर के आकार के कारण जीव का आकार नहीं और जीव के आकार के कारण शरीर का आकार नहीं।

“आत्मा का स्वचतुष्टय आत्मा में है, शरीर में नहीं”

१. इसप्रकार अनंत गुणपर्याय का पिण्ड आत्मा का द्रव्य है। शरीर तो आत्मा का द्रव्य नहीं। आत्मद्रव्य का शरीर में अत्यंत अभाव है।

२. असंख्यप्रदेशपना आत्मा का स्वक्षेत्र है, शरीर का क्षेत्र आत्मा का नहीं, आत्मा के क्षेत्र का शरीर के क्षेत्र में अत्यंत अभाव है।

३. समय-समय का परिणमन आत्मा का स्वकाल है। शरीर का परिणमन आत्मा का नहीं, आत्मा के काल का शरीर के काल में अत्यंत अभाव है।

४. आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य इत्यादि त्रिकाल गुण आत्मा के भाव हैं; किन्तु शरीर के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुण आत्मा में नहीं। आत्मा के गुणों का शरीर के गुणों में अत्यंत अभाव है।

इसप्रकार आत्मा के स्वचतुष्टय का शरीर तथा कर्म के स्वचतुष्टय में अभाव है। शरीर तथा कर्म के जो द्रव्य-क्षेत्र-काल व भाव हैं उनकी आत्मा में नास्ति है। आत्मा के स्वचतुष्टय आत्मा में हैं तथा शरीर के स्वचतुष्टय शरीर में है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जुदापन तो सिद्ध होने के बाद होता है, पर शरीर होने तक तो आत्मा और शरीर एक ही है न?

उससे कहते हैं कि जो एक हो वह जुदा कभी नहीं होता, जो जुदा हो वह कभी एक नहीं होता। मृत्यु के समय शरीर यहीं पड़ा रहता है और जीव चला जाता है, वह जुदापन ही बताता है। शरीर और आत्मा एक हों तो जुदा नहीं होते। जो एक समय वह सौ समय। एक समय आत्मा शरीर से जुदा है तो तीन काल जुदा है। यदि एकसमय भी आत्मा का स्वरूप-अस्तित्व पर के लिए हो तो आत्मा का अस्तित्व ही साबित नहीं होगा।

अज्ञानी को अनादि की शरीरबुद्धि जाती नहीं। वह शरीर में अपनापन मानता है। शरीर के बिना कैसे रह सकते हैं ह्व ऐसा भ्रम अनादि से अज्ञान के कारण से है। शरीर के बिना जीव नहीं रहता तथा जीव बिना शरीर नहीं रह सकता ह्व ऐसी एकत्व बुद्धि अज्ञानी जीव करता है। पर की एकत्वबुद्धि के कारण संसार में भ्रमता है। संसार की अनुकूलता में एकत्वबुद्धि करके सुख माना; परन्तु पर से जुदा एकत्व की बात स्वलक्ष्य में कभी ली नहीं, विचार किया नहीं और अंतर परिणमन किया नहीं।

इन सभी संयोगात्मक द्रव्यपर्यायों में ज्ञातादृष्टा शुद्धस्वभावी आत्मा ही अंदर में तो लगातार दिखाई देता है। जैसे पानी एक प्रवाहरूप में

बहता है, वैसे इन सभी पर्यायों में, आकारों में ज्ञान जल का अस्खलित प्रवाह धारावाही अंदर बह रहा है। वह शरीर तथा कर्मों से एकदम भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होता है। यहाँ अस्खलित शब्द के ऊपर वजन दिया है। किसी भी समय आत्मा शरीर के द्रव्य-गुण-पर्यायों को छूता ही नहीं, उनसे सदा भिन्न ही रहता है और स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद रहता है। ऐसा निश्चय करने पर परपदार्थ से संयोगदृष्टि छूटती है और स्वभाव दृष्टि होती है। स्वयं की अल्पज्ञदशा में राग होते हुए भी वह क्षणिक है जीव का सदा/त्रिकाल स्वरूप नहीं है ऐसा निर्णय करने पर स्व के द्रव्यगुण जो शुद्ध अनादि-अनंत है, उनके ऊपर दृष्टि गये बिना रहती ही नहीं। इसी से संयोगबुद्धि और रागबुद्धि का नाश हो जाता है और स्वयं की यथार्थ प्रतीति होने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होते हैं और पूर्णरूप से अपने में लीन होने पर वीतरागदशारूप गतिरहित सिद्धदशा प्रगट होती है।

**भावार्थ** है प्रत्येक आत्मा और जड़ का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। आत्मा कर्म से और शरीर से भिन्न है। जिसप्रकार एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर स्कंधरूप हुआ दिखाई देता है; उसीप्रकार जीव देव, नारकी, मनुष्य इत्यादि रूप दिखाई देता है और वह संसारदशा में होने योग्य ही है। जीव के जैसे भाव होते हैं, वैसे ही कर्म बंधते हैं और कर्म के फल में शरीरादि निमित्तिक संबंध बनते हैं। जिसप्रकार पुद्गल के स्कंध में एक-एक परमाणु जुदा-जुदा है, उसीप्रकार अनेक शरीरों में होनेवाली पुद्गल की पर्यायों से भिन्न आत्मा स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद एक द्रव्य-पर्यायरूप सदा ही भिन्न दिखाई देता है।

अपने स्वरूप को जाने बिना जीव अज्ञान से सामायिक पाठ बोलता जाता है, कायोत्सर्ग करता है; परन्तु वह सच्ची सामायिक नहीं। उसके पाठ में “विसल्लिकरणेण” यह पाठ आता है, उसके अर्थ की खबर बिना ही मात्र बोलता है। इसमें मिथ्यात्व, माया और निदान है इन तीन प्रकार की शल्य से रहित होने को कहा है। शल्य किसे कहते हैं; उसकी

खबर बिना शल्य रहित कैसे होगा?

“शरीर की क्रिया जीव करता है, कर्म जीव को हैरान करता है, देव-गुरु-शास्त्र धर्म में सहायता करते हैं” इत्यादि मान्यताएँ ही शल्य हैं। अजीव को जीव मानना मिथ्यात्व है, जीव को अजीव मानना मिथ्यात्व है वह ऐसा पाठ बोलता है; परन्तु चैतन्य तो शरीर, मन, वाणी से भिन्न है वह ऐसी प्रतीति नहीं करता, उसको सामायिक अथवा धर्म नहीं होता। अनेक शरीरों के संयोग में भिन्न-भिन्न गतियों में उत्पन्न होता हुआ आत्मा अंदर ज्ञान चैतन्यस्वरूप अस्खलित स्वयं के स्वरूप का नाश किये बिना भिन्न ही विद्यमान है। आत्मा शरीर अथवा कर्म के साथ एकमेक नहीं हुआ है। आत्मा शरीरादि की क्रिया भी नहीं कर सकता। “ऐसा स्पष्ट जुदा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों का पिण्ड अंदर त्रिकाल प्रकाशित रहता है वह ऐसी श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन-सामायिक धर्म है।” ऐसी सामायिक बिना दूसरी कोई सामायिक सच्ची नहीं और इसके बिना चारित्र व तप सच्चा नहीं हो सकता। राग घटाने से पुण्य होता है; परन्तु धर्म नहीं होता और संसार का अंत नहीं आता।

इसप्रकार संयोगी पर्यायों में आत्मतत्त्व जुदा ज्ञेयतत्त्व है वह ऐसी श्रद्धा, ज्ञान करना ही धर्म का कारण है। ●

### उसी का अनुभव कर !

तीर्थंकर परमात्मा कहते हैं कि हमारी ओर देखने से हमारा लक्ष करने से तुझे राग होगा; वह राग दुःखरूप है, उसका फल दुःखरूप है; एक मात्र अनाकुल आनन्द का पिण्ड निज चैतन्यस्वभाव है, उसकी दृष्टि एवं अनुभव करने से तुझे आनन्द होगा; इसलिये उसी का अनुभव कर !

हृदयदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१३५

### प्रवचनसार गाथा १५३

अब पर्याय के भेद बतलाते हैं ह

गरणारयतिरियसुरा संठानादीहिं अण्णहा जादा ।

पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥१५३॥

( हरिगीत )

तिर्यच मानव देव नारक नाम नामक कर्म के ।

उदय से पर्याय होवें अन्य-अन्य प्रकार की ॥१५३॥

अन्वयार्थ :ह [ नरनारकतिर्यक्सुराः ] मनुष्य, नारक, तिर्यच और देव ह ये [ नामकर्मणः उदयादिभिः ] नामकर्म के उदयादिक के कारण [ जीवानां पर्यायाः ] जीवों की पर्यायें हैं ह [ संस्थानादिभिः ] जो कि संस्थानादि के द्वारा [ अन्यथा जाताः ] अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं ।

टीका :ह नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव ह ये जीवों की पर्यायें हैं । वे नामकर्मरूप पुद्गल से विपाक के कारण अनेक द्रव्यों की संयोगात्मक हैं; इसलिये जैसे तुष की अग्नि और अङ्गार इत्यादि अग्नि की पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारों से अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं, उसीप्रकार जीव की वे नारकादि पर्यायें संस्थानादि के द्वारा अन्यान्य प्रकार की ही होती हैं ।

### गाथा १५३ पर प्रवचन

संसारदशा में जीव नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव की अवस्थाओं को धारण करता, वे जीव की अवस्थायें उदयभाव हैं । भिन्न-भिन्न अरूपी आकार में जीव स्वयं स्वयं की योग्यता से होता है । जीव ने संसारदशा में पूर्व में जिसप्रकार के भाव किये, उसीप्रकार के नामकर्मों का बंध हुआ; फिर उसी नामकर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव भिन्न-भिन्न गतियों में भिन्न भिन्न शरीरों में, भिन्न-भिन्न आकारों में संयोगरूप रहता है । जैसे पानी जिस बर्तन में रखा हो उसी बर्तन के आकाररूप स्वयं की योग्यता से हो जाता है, वैसे ही आत्मा जिस शरीर में जाता है, उसी के आकाररूप

स्वयं के कारण से संयोगात्मक होकर रहता है ह ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है ।

जिसप्रकार सभी आकारों में अग्नि तो सामान्य है; किन्तु वह स्वयं की योग्यता के कारण उन-उन संयोगों में भिन्न-भिन्न दिखाई देती है; उसीप्रकार जीव नरक, देव, तिर्यच एवं मनुष्यरूप पर्यायों से परिणमित होता हुआ भिन्न-भिन्न आकाररूप दिखाई देता है, एक पर्याय में भी भिन्न-भिन्न आकार दिखाई देते हैं । शरीर में हाथ कांपते हों अथवा पैर कांपने से आत्मा के आकार स्वयं के कारण से संकोच से दिखाई देते हैं, शरीर के कारण से नहीं । इसप्रकार जीव का भिन्न-भिन्न आकार होता है और उसमें नाम-कर्म का निमित्त होता है ।

जीव भिन्न-भिन्न आकाररूप होता है, वे आकार नामकर्म ने नहीं परिणमाये हैं । नामकर्म तो पुद्गल है और जीव चेतन है । वास्तव में कर्म का उदय कर्म में हैं और जीव की गति का उदयभाव जीव में है । कर्म के कारण वे आकार नहीं हुए । कर्म के फल में देवादि का शरीर भिन्न-भिन्न आकाररूप हुआ; इसलिए आत्मा का आकार उनरूप हुआ हो ह ऐसा भी नहीं । आत्मा की व्यंजनपर्याय और पुद्गल की व्यंजनपर्याय भिन्न-भिन्न है । एक द्रव्य की पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय में अत्यन्त अभाव है । जैसे बर्तन में रखे हुए पानी का आकार बर्तन जैसा होने पर भी पानी बर्तनरूप नहीं हुआ है । पानी और बर्तन भिन्न-भिन्न ही हैं । लकड़ी में रहने वाली अग्नि लकड़ी के आकाररूप होती हुई लकड़ी से भिन्न है । यदि लकड़ी और अग्नि एक हो तो अग्नि बुझते ही लकड़ी का नाश होना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं हो सकता; इसलिए लकड़ी और अग्नि एक नहीं । उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयं के कारण क्षेत्रान्तर गमन करता है और शरीर यहीं पड़ा रह जाता है । यदि शरीर और आत्मा एक हों तो आत्मा के साथ शरीर भी जाना चाहिए; परन्तु वह शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है ह ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है । यदि दोनों एक हों तो कभी भिन्न न हों । भिन्न हैं तभी भिन्न होते हैं ।

यहाँ कोई शंका करता है कि आत्मा शरीर में रहता है और शरीर से जुदा दिखाई नहीं देता तो आत्मा को शरीर से जुदा कैसे मानें? भाई ! आत्मा तो अरूपी ज्ञान-दर्शनादि का पिण्ड है और शरीर रूपी, स्पर्श, रस, गंध व वर्ण वाला है। एक क्षेत्र में संयोग होने पर भी अरूपी आत्मा उस शरीर में नहीं रहता। आत्मा तो आत्मा में रहता है। जैसे बम के गोलों में से अग्नि निकलने पर गोला पड़ा रहता है, वैसे ही चैतन्य के निकलने पर शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और उसका भिन्नपना दिखाता है। व्यवहार से भी शरीर आत्मा का नहीं। शरीर मकानरूप है, उसमें यह आत्मा मेहमान होकर स्वयं के आयुष्क प्रमाणकाल रहता आया है; परन्तु कोई जीव शरीर को अपना समझ के मालिक माने तो वह जीव मूर्ख और चोर है। शरीर रूप वस्तु पुद्गल के घर की है; यदि जीव उसको अपना माने तो मिथ्यात्व का अनंत पाप लगता है।

शंका हू अज्ञानी जीव दलील करता है ' जैसे खाना और बोलना दोनों कार्य एक साथ नहीं बन सकते; उसीप्रकार संसार का काम करना और धर्म करना ये दोनों कार्य एक साथ कैसे हो सकते हैं?

समाधान हू शरीर के कोई कार्य जीव नहीं कर सकता। वह तो स्वयं के भाव मात्र करता है। अनादिकाल से जीव ने शरीर को अपना माना है, यह मान्यता दूर करने योग्य है। अज्ञानी जीव शरीर के कर्तृत्वपने रूप भाव करता है, वही संसार है तथा शरीर को आत्मा से भिन्न मानना ही धर्म है। आत्मा को पर से भिन्न मानने पर ज्ञान स्वयं में एकाग्र होता है और सूक्ष्म होता है। ●

भाई! यह शरीर के अवयव पृथक् हो जायेंगे, कोई शरण नहीं देगा हू शरणभूत वस्तु पकड़ में नहीं आयेगी। प्रथम पदार्थ की स्वतंत्रता जैसी है वैसी स्वीकार करे और फिर कुलॉट लगाकर अंतर में जाये तब चैतन्यस्वभाव पकड़ में आता है।

हू द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१४६

### प्रवचनसार गाथा १५४

अब, आत्मा का अन्य द्रव्य के साथ संयुक्तपना होने पर भी अर्थ निश्चायक अस्तित्व को स्व-पर विभाग के हेतु के रूप में समझाते हैं।

तं सबभावणिबद्धं द्रव्यसहावं तिहा समक्खादं।

जाणादि जो सवियप्यंण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥१५४॥

( हरिगीत )

त्रिधा निज अस्तित्व को जाने जो द्रव्यस्वभाव से।

वह हो न मोहित जान लो अन-अन्य द्रव्यों में कभी ॥१५४॥

अन्वयार्थ :हू [ यः ] जो जीव [ तं ] उस (पूर्वोक्त) [ सद्भावनिबद्धं ] अस्तित्व निष्पन्न, [ त्रिधा समाख्यातं ] तीन प्रकार से कथित, [ सविकल्पं ] भेदोंवाले [ द्रव्य स्वभावं ] द्रव्यस्वभाव को [ जानाति ] जानता है, [ सः ] वह [ अन्यद्रव्ये ] अन्य द्रव्य में [ न मुह्यति ] मोह को प्राप्त नहीं होता।

टीका :हू जो, द्रव्य को निश्चित करनेवाला, स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व कहा गया है वह वास्तव में द्रव्य का स्वभाव ही है; क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व-निष्पन्न (अस्तित्व का बना हुआ) है। द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययरूप से त्रयात्मक भेदभूमिका में आरूढ़ ऐसा यह द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ, परद्रव्य के प्रति मोह को दूर करके स्व-पर के विभाग का हेतु होता है, इसलिये स्वरूप-अस्तित्व ही स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये पद-पद पर अवधारना (लक्ष्य में लेना) चाहिये। वह इसप्रकार है :हू

(१) चेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा जो द्रव्य, (२) चेतना विशेषत्व (चेतना का विशेषपना) जिसका लक्षण है ऐसा जो गुण

१. अर्थ निश्चायक हू द्रव्य का निश्चय करनेवाला (द्रव्य का निर्णय करने का साधन) जो स्वरूपास्तित्व है वह स्वपर का भेद करने में साधनभूत है, इसप्रकार इस गाथा को समझाते हैं।

२. त्रयात्मक हू तीन स्वरूप तीन के समूहरूप (द्रव्य का स्वभाव-द्रव्य, गुण और पर्याय ऐसे तीन भेदों वाला तथा ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय हू ऐसे तीन भेदोंवाला है।



और (३) चेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी जो पर्याय ह्व यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप-अस्तित्व), तथा (१) 'पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करनेवाले चेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य और (२-३) चेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप से जो उत्पाद और व्यय ह्व यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं वास्तव में यह अन्य हूँ, (अर्थात् मैं पुद्गल से ये भिन्न रहा)। और (१) अचेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा जो द्रव्य, (२) अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा जो गुण और (३) अचेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी जो पर्याय ह्व यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप अस्तित्व) तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करने वाले अचेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य और (२-३) अचेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप से जो उत्पाद और व्यय ह्व यह त्रयात्मक ऐसा स्वरूप-अस्तित्व जिस पुद्गल का स्वभाव है वह वास्तव में (मुझसे) अन्य है। (इसलिये) मुझे मोह नहीं है; स्वपर का विभाग है।

**भावार्थ :** ह्व मनुष्य, देव इत्यादि अनेकद्रव्यात्मक पर्यायों में भी जीव का स्वरूप अस्तित्व और प्रत्येक परमाणु का स्वरूप-अस्तित्व सर्वथा भिन्न-भिन्न है। सूक्ष्मता से देखने पर वहाँ जीव और पुद्गल का स्वरूप-अस्तित्व (अर्थात् अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय) स्पष्टतया भिन्न जाना जा सकता है। स्व-पर का भेद करने के लिये जीव को इस स्वरूपास्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य है। यथा ह्व यह (जानने में आता हुआ) चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय और चेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है ऐसा मैं इस (पुद्गल) से भिन्न रहा; और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है ऐसा पुद्गल यह (मुझसे) भिन्न रहा। इसलिये मुझे पर के प्रति मोह नहीं है; स्व-पर का भेद है।

१. पूर्व अर्थात् पहले का और उत्तर अर्थात् बाद का। (चेतन पूर्व और उत्तर की दोनों पर्यायों को स्पर्श करता है, इस अपेक्षा से ध्रौव्य है, बाद की अर्थात् वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है और पहले की पर्याय की अपेक्षा से व्यय है।)

### गाथा १५४ पर प्रवचन

प्रत्येक द्रव्य का स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व प्रत्येक द्रव्य को निश्चित करता है। आत्मा का स्वरूप-अस्तित्व आत्मा को निश्चित करता है और जड़ का स्वरूप-अस्तित्व जड़ को निश्चित करता है। आत्मा स्वयं से ज्ञात होने वाला पदार्थ है। आत्मा की प्राप्ति पुद्गल परमाणुओं के कारण नहीं होती तथा पुद्गल परमाणुओं की प्राप्ति आत्मा के कारण नहीं होती। द्रव्य का वास्तविक स्वभाव स्वरूप-अस्तित्व है; क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व से बना है।

द्रव्य का स्वभाव द्रव्य, गुण तथा पर्याय ह्व ऐसा तीन भेदवाला एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।

द्रव्य अनंत शक्तियों का पिण्ड है; ज्ञान, दर्शन इत्यादि शक्तियाँ अथवा स्पर्श, रस आदि गुण हैं और समय-समय में होने वाली अवस्था पर्याय है। सदा कायम रहने वाला गुण अथवा द्रव्य ध्रौव्य है, नवीन अवस्था का उपजना उत्पाद है और पूर्व की अवस्था का नाश व्यय है। जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जीव में स्वयं के कारण से होते हैं। पुद्गल के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय पुद्गल में स्वयं के कारण से होते हैं।

जैसे एक परमाणु की पर्याय जीव के कारण से नहीं होती; वैसे ही दूसरे परमाणु की पर्याय भी जीव के कारण से नहीं होती। जीव भाषा की क्रिया को नहीं कर सकता, शरीर को चला नहीं सकता। स्त्री, कुटुंब, मकान, देव, गुरु, शास्त्र इनके द्रव्य, गुण, पर्याय स्वयं में रहते हैं। जीव का अनंत पर-पदार्थों के साथ कोई भी संबंध नहीं ह्व ऐसा द्रव्य-स्वभाव ही निश्चित करता है। द्रव्य-स्वभाव का ज्ञान पदार्थों में सुखबुद्धिरूप मोह का नाश करता है और स्व-पर के भेद-विज्ञान का कारण होता है। दूसरी अन्य कोई क्रिया अथवा शुभराग भेद-विज्ञान का हेतु है ही नहीं। मात्र एक द्रव्य-स्वभाव का ज्ञान ही भेद-विज्ञान का कारण है।

अज्ञानी जीव यथार्थ ज्ञान नहीं करता और औदयिक क्रिया में धर्म मानता है। तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र है कि ह्व "निःशल्योव्रती" अर्थात्

व्रतादि के परिणाम मिथ्यात्वादि शल्य रहित होते हैं। मिथ्यात्व छोटे बिना धर्म नहीं होता और उसके व्रत-प्रत्याख्यान सच्चे नहीं होते। जड़ की पर्याय आत्मा करता है और आत्मा की पर्याय जड़ करता है ह्व ऐसी मान्यता ही मिथ्यात्व शल्य है। पर-पदार्थों के प्रति सावधानी ही शल्य है। जैसे जो पुत्र पिता की आज्ञा न माने तो वह सुपुत्र नहीं; बल्कि कुपुत्र है। वैसे ही महान तीर्थंकर महावीर पिता की माला फेरकर भक्ति करे; किन्तु जो उनकी आज्ञा है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप-अस्तित्व से जुदा है, उसको यथार्थ जानने का पुरुषार्थ नहीं करे और जुदा नहीं जाने तो वह उनकी आज्ञा को नहीं मानता होने से भगवान को ही नहीं मानता; इसलिए वह जैन नहीं।

जीव के स्वरूप-अस्तित्व से प्रत्येक ज्ञेय को भिन्न-भिन्न जानकर यथार्थ निर्णय करना चाहिए। आत्मा सदा ही अपने द्रव्य-गुण पर्याय में रहता है, वह शरीर के द्रव्य-गुण-पर्यायों को कभी स्पर्श भी नहीं करता। छद्मस्थ जीव प्रदेश इत्यादि को भले ही प्रत्यक्षपने न जान सके; परन्तु परोक्षज्ञानपूर्वक केवली भगवान के जैसी ही प्रतीति कर सकता है। आत्मा प्रतिक्षण शरीरादि पदार्थों से जुदा है ह्व ऐसा भेदज्ञान कराते हैं; इसलिए स्व-पर के विभाग की परिपूर्णता के लिए पर्याय-पर्याय में स्वरूप-अस्तित्व को ख्याल में लेना चाहिए।

यहाँ समय-समय में ख्याल में लेना ह्व ऐसा कथन है। उसमें समय-समय में इस शब्द पर वजन है। यह ज्ञेय अधिकार है। जीव की जो-जो पर्याय हो रही है वह ज्ञेय है, वहाँ प्रत्येक पर्याय में सावधान रहो और पुरुषार्थ करो ह्व ऐसा कहने का आशय है। क्षायिक सम्यग्दर्शन हो तो चारित्र होगा, मुनिपना आवे तो केवलज्ञान होगा ह्व ऐसा मानकर पराश्रित नहीं होना। यह द्रव्य परिपूर्ण शुद्ध होकर केवलज्ञान प्राप्त न करे तब तक पर्याय-पर्याय में स्व-पर का भेद-विज्ञान करो, पर्याय-पर्याय में मैं पर से जुदा हूँ ह्व ऐसा ज्ञान करके पुरुषार्थ करो। इसप्रकार प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ का स्वरूप-अस्तित्व स्व-पर का भेद-विज्ञान कराता है।

प्रत्येक आत्मा और परमाणु भिन्न-भिन्न पदार्थ है। कोई किसी का

कर्त्ता नहीं है। आत्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टास्वरूप पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ को उसके स्वरूप-अस्तित्व से भिन्न जानने से स्व-पर का भेद विज्ञान होता है। स्वरूप-अस्तित्ववाला स्वभाव द्रव्य-गुण-पर्यायपने तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययपने इन तीन स्वरूप है। यहाँ पहले चेतन द्रव्य का तीनपने स्वरूप कहते हैं। भेदविज्ञानी जीव स्वयं के आत्मा को कैसा मानता है ह्व वही कहते हैं :ह्व

### चेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप

चेतनद्रव्य :

आत्मा चैतन्यस्वरूप है, त्रिकाल, सदृश-एकरूप रहनेवाला पदार्थ है। शरीर, धन, कुटुंब, कर्म ह्व ये आत्मद्रव्य नहीं, वे तो अचेतन द्रव्य हैं। दया-दानादि के भाव पुण्यतत्त्व हैं और हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव पापतत्त्व हैं। दोनों आस्रव, बंध एवं विकार तत्त्व हैं, चेतन द्रव्य नहीं है। नवीन प्रगट होने वाला संवर एवं निर्जरा भी पर्याय है, द्रव्य नहीं। नव तत्त्वों को अथवा छह द्रव्यों को जाननेवाला अनादि-अनंत, ज्ञाता-दृष्टास्वरूप चेतनत्व सामान्य, जिसका लक्षण है ह्व ऐसा आत्मा चेतन द्रव्य है।

चेतन का गुण ह्व

चेतन आत्मा का विशेष गुण है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि करना आत्मा का गुण नहीं। जड़ पदार्थों का ग्रहण-त्याग करना आत्मा का स्वभाव नहीं। एक आत्मा दूसरे आत्मा का काम कर सकता है, लाभ-नुकसान कर सकता है अथवा दूसरा आत्मा इस आत्मा का काम कर सकता है, लाभ-नुकसान कर सकता है ह्व ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं। जैसे सोने में पीलापन, चिकनापन और वजन गुण हैं; वैसे ही आत्मा में ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं। दूसरे जीवों की तथा जड़-शरीरादि की जो-जो अवस्था होती है, उसको जानना मात्र जीव का स्वभाव है; परन्तु पर की पर्याय में फेरफार करने का जीव का स्वभाव नहीं।

चेतन की पर्याय ह्व

ज्ञान की क्रिया करना ही आत्मा की पर्याय का लक्षण है। चेतनपने

का भेद जीव का लक्षण है। ज्ञान की पूर्व अवस्था का नाश होकर नवीन अवस्था का उत्पाद होना चेतन की पर्याय है। तीन काल में जीव में मात्र ज्ञान-क्रिया ही भासित होती है।

शरीर की पर्याय अथवा वाणी की पर्याय आत्मा की है ही नहीं; किन्तु शुभाशुभ भाव भी आत्मा के नहीं हैं। इसप्रकार जड़ और विकार से भिन्न आत्मा का श्रद्धान करो, उसका ज्ञान करो और उसमें स्थिर हो जाओ, वही मोक्षमार्ग है। चेतनपने का व्यतिरेक ही चेतनपर्याय का लक्षण कहा है। महाव्रतादि के परिणाम को जाननेवाली पर्याय ही चेतन की पर्याय है।

इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय हूँ इन तीन के समूहस्वरूप चेतन का स्वरूप अस्तित्व कहा। अब चेतन के ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय का स्वरूप कहते हैं।

### ध्रौव्य हूँ

चेतन पहले की और बाद की दोनों पर्यायों का स्पर्श करता है, इस अपेक्षा चेतन ध्रौव्य है। ध्रुव अर्थात् नित्य, निश्चल, त्रिकाल रहने वाला पदार्थ। चेतन में पुरानी अवस्था का नाश होकर नवीन अवस्था का उत्पाद होता है, दोनों में चेतन सदा रहता है; इसलिए चेतन ध्रुव है। चेतन स्वयं की पूर्व तथा वर्तमान अवस्था को स्पर्श करता है; किन्तु जमीन, पैसा, शरीर, वाणी इन्द्रियाँ इत्यादि जड़ पदार्थों की अवस्था को तथा दूसरी आत्मा की अवस्था को कभी स्पर्श नहीं करता। पुण्य-पाप क्षणिक उपाधि है, उन विकारी पर्यायों को चेतन कभी भी स्पर्श नहीं करता; क्योंकि चेतनपने का व्यतिरेक विकारी पर्याय का लक्षण नहीं कहा। भरतचक्रवर्ती गृहस्थाश्रम में थे, वहाँ पुण्य-पाप की पर्यायें तो बहुत थीं; किन्तु सम्यक्भान था कि स्त्रियों का शरीर तो जड़ है, मैं उनका स्पर्श नहीं करता, उनके आत्मा का भी स्पर्श नहीं करता। खाने-पीने की सामग्री का स्पर्श नहीं करता। क्षणिक-सामग्रियाँ पुण्य-पाप के फलस्वरूप हैं, उनको भी मैं स्पर्श नहीं करता। मैं तो वैभव के ढेर को तथा विकार को जानता हूँ, तथा मेरी चेतन पर्याय एक के पीछे एक होती है, उसका स्पर्श

करता हूँ। मैं तो मेरे चेतनस्वभाव को त्रिकाल रखने वाला ध्रुव पदार्थ हूँ। ऐसी ध्रुवस्वभाव की प्रतीति बाह्य में गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी प्रत्येक जीव कर सकता है।

### उत्पाद-व्यय हूँ

चेतनपने की अवस्था का उत्पाद होना और पूर्व की अवस्था का नाश होना, वह उत्पाद-व्यय का स्वरूप है। शरीर की अवस्थारूप से उत्पन्न होना चेतन का उत्पाद तो है ही नहीं; अपितु दया-दानादि भावों का उत्पाद भी चेतन का उत्पाद नहीं है। शरीर और दया-दानादि भावों को जाननेवाली अवस्था का उत्पाद ही चेतन का उत्पाद है।

शरीर का व्यय होना चेतन का व्यय नहीं तथा शुभाशुभ भावों का व्यय भी चेतन का व्यय नहीं। शरीर की अवस्था पूर्व में थी; पुण्य-पापादि के भाव पूर्व में थे, उनका जो ज्ञान पूर्व अवस्था में था वही वर्तमान-अवस्था में नष्ट हुआ, उस नाश को पर्यायदृष्टि से चेतन का व्यय कहते हैं।

इसप्रकार ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय इन तीन के समूह-स्वरूप चेतन का स्वरूप कहा।

“स्वरूप-अस्तित्व समझे बिना बाह्य त्याग अथवा तपश्चर्या अरण्य रुदन समान है।” अज्ञानी जीव शरीर और आत्मा में भेद नहीं समझता। वह मानता है कि आत्मा है तो भाषा बोलते हैं किन्तु आत्मा और जड़पदार्थ स्वयंसिद्ध भिन्न-भिन्न स्वरूप अस्तित्ववाले हैं जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव जड़ में हैं और चेतन के उत्पाद-व्यय-ध्रुव चेतन में हैं। दया-दानादि के भाव विकार हैं; किन्तु यह अज्ञानी उनसे धर्म होना मानता है। वह स्वरूप-अस्तित्व को समझता नहीं है। शुभभाव से स्वर्गादिक मिलता है; किन्तु धर्म नहीं होता। जैसे कोई जंगल में रुदन करे; किन्तु वहाँ उसे कोई सम्हालने वाला अथवा रुदन मिटानेवाला नहीं है। अर्थात् रुदन नहीं मिटेगा वैसे ही कोई स्वरूप-अस्तित्व के भाव बिना बाह्य व्रत और तप करे तो उसका संसार चालू ही रहेगा, धर्म की प्राप्ति नहीं होगी, वे व्रतादि व्यर्थ सिद्ध होंगे।

देखो! धर्मी जीव अन्यत्व भावना भाता है। वह मानता है कि मेरा द्रव्य-गुण-पर्याय तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मेरे कारण से हैं और मेरे में हैं एवं जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जड़ के कारण हैं और जड़ में है। मैं चेतन हूँ, जड़ के कारण मेरी अवस्था नहीं और मेरे कारण जड़ की अवस्था नहीं। लक्ष्मी, मकान, दुकान, देव-गुरु-शास्त्र, शरीर एवं कर्म से मैं जुदा हूँ। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय उनमें हैं। मेरा और उन द्रव्यों का कोई संबंध नहीं। शुभाशुभ भाव मेरी चेतन पर्याय में नहीं। सभी को जाननेवाली मेरी चेतनपर्याय है उससे मैं सभी को मात्र जानता हूँ। मैं शरीर कर्म विकार से जुदा ज्ञानस्वभावी चेतन द्रव्य हूँ। 'मैं सभी से जुदा हूँ' धर्मी जीव ऐसा भावना भाता है।

अनंत ज्ञानी कहते हैं कि स्वरूप-अस्तित्व से भेदज्ञान करना धर्म है। ज्ञानी स्वयं में आकर भेद-विज्ञान पूर्वक भावना भाता है। मैं अनुकूल-प्रतिकूल संयोगरूप नहीं, शरीरादिरूप नहीं, अल्प राग-द्वेष होते हैं, वह भी मैं नहीं। मैं तो देह-देवल में चैतन्य ज्ञानस्वरूप विराजता हूँ हूँ ऐसा भान पात्र जीव कर सकता है। प्रथम ऐसा भान हो; फिर स्थिरता हो, पश्चात् मुनिपना अंगीकार करके वीतरागदशा को प्राप्त करता है।

इसप्रकार स्वरूप-अस्तित्व स्वभाववाले चेतनद्रव्य को स्वज्ञेयरूप और परज्ञेय को परज्ञेयरूप जानना सम्यग्ज्ञान है और वही धर्म है।

धर्मीजीव भावना भाता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप चैतन्य आत्मा हूँ; शरीर, लक्ष्मी, मन, वाणी, कुटुंब आदि कोई मेरे नहीं हैं मेरा और इनका कोई संबंध नहीं। शरीर तो अचेतन पुद्गलद्रव्य है; दाल, भात, रोटी इत्यादि में से बनता है और उसकी राख हो जाती है। मैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र को आश्रय देने वाला हूँ और ज्ञान, दर्शन, चारित्र मेरा आश्रय लेनेवाले हैं। पर-पदार्थ धन, लक्ष्मी, मकान, स्त्री, कुटुंब आदि चेतन और अचेतन पदार्थ मेरे आश्रय में नहीं रहते और मैं उनका आश्रयदाता भी नहीं हूँ। मैं उन सभी पदार्थों की अवस्था का कर्ता नहीं हूँ। पुण्य-पाप के भाव जीवतत्त्व नहीं है। मैं हूँ तो कुटुंब चलता है अथवा शरीर चलता है हूँ ऐसा मैं नहीं मानता। मैं तो उन शरीरादि अचेतन पदार्थों से जुदा हूँ।

धर्मी जीव अचेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय से स्वयं को जुदा मानता है। अब यहाँ अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप कहते हैं।

**अचेतन द्रव्य हू**

अचेतनपना अर्थात् ज्ञान नहीं होना हू जड़पना। अचेतनपने की एकरूपता जिसका लक्षण है, वह अचेतनद्रव्य है। शरीर, मन, वाणी, कर्म इत्यादि अचेतन हैं।

रोग शरीर में होता है, आत्मा में नहीं; परन्तु अज्ञानी जीव अचेतन शरीर को स्वयं का मानकर सुख-दुःख की कल्पना करता है। रोग मिटाने की तीव्र इच्छा होने पर भी जीव उसको मिटा नहीं सकता। पेट में दर्द हो, उसके लिए लाखों रुपये खर्च करे तो क्या दर्द मिटेगा? पत्नी-पुत्र सभी प्रयास करें; परन्तु पेट के दर्द को मिटाने की सामर्थ्य किसी में नहीं।

अज्ञानी जीव पैसा मिलने से मैं बड़ा हो गया हूँ ऐसा मानता है। आत्मा के भान बिना करोड़पति बड़ा मजदूर और बड़ा भिखारी है। साधारण मनुष्य छोटा मजदूर और छोटा भिखारी है। जैसे पायखाने (संडास) में बहुत सारी विष्टा इकट्ठी हो जाये तो उसको रखने योग्य कोई नहीं मानता। वैसे ही पैसा विष्टा समान है बहुत विष्टा इकट्ठा करनेवाला जैसे मूर्ख है, वैसे ही पैसों में ममता करनेवाला और उसमें सुख माननेवाला मूर्ख ही है। धर्मी जीव विचारता है कि मेरा सुख अचेतन में नहीं, मैं तो अचेतनद्रव्यों से जुदा हूँ।

**गुण हू**

अचेतनद्रव्य का गुण अचेतनपना है हू जड़पना है; सुख देना उसका गुण नहीं। पैसा, शरीर, कर्म, आहार, पानी इत्यादि अचेतन द्रव्य आत्मा को कोई लाभ अथवा नुकसान नहीं करते। अज्ञानी जीव मानता है कि रुपये आवें तो घर-परिवार पलता हैं, जावें तो नहीं पलता; किन्तु भाई वह (रुपया) तुम्हारी वस्तु ही नहीं है, पुण्य के कारण आती है और पाप के निमित्त से जाती है। उनमें सुख-दुःख देने का गुण है ही नहीं।

धर्मीजीव विचार करता है कि मेरा ज्ञान, सुखादि गुण मेरे में हैं;

शरीर, लक्ष्मी आदि कर्म में नहीं, उनमें तो अचेतनपना है। मेरा चेतनगुण अचेतनगुण से जुदा ही है।

### पर्याय ह

अचेतनद्रव्य की पर्याय का लक्षण अचेतनपने का व्यतिरेक है। शरीर, मन, वाणी, कर्म की अवस्था एक के बाद एक होती है, वह जीव के कारण नहीं; बल्कि अचेतनद्रव्य से होती है। अज्ञानी मानता है कि शरीर का ध्यान रखें तो वह निरोग रहता है। “समय बदलने पर सब बदल जाते हैं” पहले मुझसे मिलने बहुत से लोग आते थे और अब लक्ष्मी गई तो कोई पूछता भी नहीं है। उससे कहते हैं हूँ भाई! वह तो जड़ लक्ष्मी की अवस्था तथा पुण्य कर्म की हूँ अचेतन की अवस्था का फेरफार था, वह तुम्हारे हाथ की बात नहीं। शरीर की निरोगता अचेतन की पर्याय है, वह भी तेरे होशियारी की बात नहीं।

धर्मी जीव विचार करता है कि मेरे ज्ञान की पर्याय बदलती है; किन्तु मैं अचेतनद्रव्य की अवस्था को नहीं बदलता। मेरी चेतनपर्याय अचेतनद्रव्यों की पर्याय से जुदी है।

इसप्रकार अचेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय अचेतन में हैं। मेरा चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय अचेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय से जुदा है।

इसीप्रकार धर्मी जीव अचेतन के ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय से स्वयं को भिन्न मानता है।

### ध्रौव्य ह

जड़ द्रव्य की पूर्व और उत्तर अवस्था में अचेतनपने का स्पर्श है, उसे ध्रौव्य कहते हैं। दोनों (पूर्व-उत्तर) अवस्था में अचेतनपना सामान्य-सदृश रहता है। जैसे हूँ रोटी, दाल, भात बदलकर लोही रूप हो जाते हैं और उन दोनों अवस्थाओं में वही परमाणु विद्यमान रहते हैं वैसे ही शरीर बदलकर राखरूप होता है, उन दोनों अवस्थाओं में अचेतन परमाणु विद्यमान रहते हैं।

अज्ञानी मानता है कि आत्मा था तो शरीर कायम रहा। मकान, लक्ष्मी इत्यादि को आत्मा कायम रखता है। शरीर को आत्मा स्थिर

रखता है; किन्तु शरीर, मकान, लक्ष्मी इत्यादि अचेतन द्रव्य हैं, उनकी एक के बाद एक अवस्था होती है, उनको अचेतन द्रव्य ही स्पर्श करता है; आत्मा उनका स्पर्श नहीं करता अर्थात् उनको कायम नहीं रखता। शरीर की अच्छी से बुरी अवस्था हुई, उसमें अचेतन परमाणु ध्रुव रहते हैं। शरीर की गमनक्रिया के बाद स्थिति हुई, उन दोनों अवस्थाओं को शरीर स्पर्श करता है, आत्मा उसको स्पर्श नहीं करता; इसलिए शरीर के स्थिर होने से आत्मा में धर्म नहीं होता।

भरत चक्रवर्ती ज्ञानी थे, वे मानते थे कि राज्य, बाग, महल सभी अचेतन द्रव्य हैं, उनकी रक्षा करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं। वे पदार्थ उनके ध्रुवपने से कायम रहते हैं। मैं तो अपनी जानने-देखने की सभी अवस्थाओं में चेतनपने ध्रुवरूप से कायम हूँ। मैं यह चेतनध्रुव-अचेतनध्रुव से जुदा हूँ हूँ ऐसा ज्ञानी मानता है।

### उत्पाद व्यय ह

जड़ की पूर्व अवस्था का नाश तथा नवीन अवस्था का उत्पादन हूँ दोनों अवस्थाओं में अचेतनपना है। भाषावर्णारूप पुद्गल की अवस्था थी, वह नष्ट हुई और उसका शब्दरूप में उत्पाद हुआ अथवा जवान शरीर की अवस्था का व्यय और वृद्धावस्था का उत्पाद हुआ हूँ दोनों में अचेतनद्रव्य स्वयं व्यय और उत्पादरूप होता है; किन्तु चेतन आत्मा था, इसलिए अचेतनद्रव्य में उत्पाद-व्यय हुआ हूँ ऐसा नहीं है।

अज्ञानी दलील करता है कि मैंने अपने बाहुबल से पैसा कमाया, आत्मा है तो भाषा उत्पन्न होती है, आत्मा के बिना भाषा कैसे हो सकती है? मुर्दे से बुलाकर दिखाओ।

उससे कहते हैं कि भाई! भाषा तो जड़ है, उसके उत्पाद-व्यय परमाणु के कारण से होते हैं; चेतन द्रव्य के कारण नहीं। आत्मा में शब्द की खान नहीं। शब्द अचेतन की पर्याय है, आत्मा चेतन है, इसलिए आत्मा बोलता नहीं। पैसा जड़ है, उसको रखना तुम्हारे हाथ की बात हो तो पाप के उदय के समय उसे क्यों जाने देते हो? उसे रखे रहो न? किन्तु वह नहीं हो सकता। इसलिए विचार करो कि जड़ की अवस्था जड़ से उत्पन्न होती है।

धर्मी जीव विचार करता है कि शरीर, लक्ष्मी, भाषा इत्यादि अचेतन के उत्पाद-व्यय अचेतन द्रव्यों से होते हैं, मेरे से नहीं होते। मैं चेतन द्रव्य हूँ, मेरे चेतनपने के उत्पाद-व्यय को मैं करता हूँ। मेरे चेतन का उत्पाद-व्यय इस अचेतन के उत्पाद-व्यय से जुदा ही है।

इसप्रकार अचेतन द्रव्य के ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय अचेतन में हैं।

**सम्यग्ज्ञानरूपी एक ही चिनगारी अनंत संसार का नाश कर देती है।** अचेतन द्रव्यों को आत्मा कायम नहीं रख सकता, बचा नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। यद्यपि साधकदशा में अल्पराग होता है; किन्तु वह राग उन वस्तुओं के कारण नहीं होता तथा राग हुआ इसकारण वे वस्तुएँ आती हैं हूँ ऐसा भी नहीं। पुण्य धर्म नहीं है, वह आत्मा में भी नहीं है। यदि पुण्य आत्मा में हो तो सिद्ध में भी होना चाहिए; किन्तु सिद्ध तो पुण्य से रहित हैं; इसलिए पुण्य-पाप आत्मा का स्वरूप नहीं है। इस चेतन को अचेतनद्रव्य से तथा राग से भिन्न जानना ही धर्म है।

जैसे माचिस की एक तीली है, उसमें सफेद लकड़ीवाले भाग में से अग्नि उत्पन्न नहीं होती; किन्तु ऊपर जो लाल बारुद है, उसके बारुद-रोगन घिसने से अग्नि प्रगट होती है; वैसे ही शरीर, मन, वाणी, पुण्य-पाप माचिस की सफेद लकड़ी जैसे हैं, उनको घिसने से अर्थात् उनमें एकाग्र होने से धर्म नहीं होता; किन्तु आत्मा अचेतन से जुदा और पुण्य-पाप से रहित चिदानन्दस्वरूप है, उसमें एकाग्र होने से धर्मरूपी पर्याय प्रगट होती है। जैसे एक छोटी माचिस (सींक) लाखों मन घास को जला देती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रगट एक ही पर्याय अनंत संसार का नाश कर देती है। **“समझ पीछे सब सरल है”** अर्थात् समझ से सबकुछ सरल हो जाता है। जैसे लौकिक पढ़ाई के लिए जीव वर्षों लगा देता है, वैसे ही आध्यात्मिक पढ़ाई के लिए भी समय देना चाहिए।

धर्मी जीव विचार करता है कि समस्त अचेतन द्रव्य मुझसे जुदे हैं, इसलिए उनके प्रति मुझे मोह नहीं है। उनमें मैं सुख-दुःख नहीं मानता। चेतन पदार्थ ही मैं हूँ और शरीर, लक्ष्मी, मन, वाणी इत्यादि अचेतन हैं, वे पर हैं। यह स्व-पर का विभाग है।

इसप्रकार स्व-पर का विभाग करना ही सम्यग्ज्ञान है और धर्म का कारण है।

**भावार्थ ह**

मनुष्य, देव इत्यादि अनेक द्रव्यात्मक पर्यायों में भी जीव का स्वरूप-अस्तित्व और प्रत्येक परमाणु का स्वरूप-अस्तित्व बिलकुल जुदा है। सूक्ष्मता से विचार करें तो जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय तथा पुद्गल अपने-अपने कारण से परिणमन कर रहे हैं।

मैं तो सिद्धों की जाति का हूँ। बाहर मनुष्य-देव के शरीर दिखाई देते हैं, वे मेरी जाति के नहीं हैं हूँ ऐसा स्व-पर का भेद करना ही सम्यग्ज्ञान और धर्म है।

जैसे लौकिक में मैं **दस्सा श्रीमाणी बनिये** की जाति का हूँ हूँ ऐसा भूलते नहीं हैं, वैसे ही आत्मा सिद्ध चैतन्य की जाति का है। ज्ञाता-दृष्टा, निर्विकल्प, स्वयं का स्वरूप सिद्ध समान है हूँ ऐसा सर्वप्रथम निश्चित करो। सिद्धदशा स्वयं में से प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती।

संयोग कर्म से मिलते हैं; पुरुषार्थ से नहीं। जड़ पदार्थों की अवस्था जीव नहीं कर सकता। दुकान पर ध्यान रखने से पैसा मिलता है और ध्यान नहीं रखने से पैसा नहीं मिलता हूँ ऐसा नहीं है। पूर्व के पुण्योदय से पैसा मिलता है। लोक में ऐसा कहा जाता है कि **अनाज के दाने-दाने पर खानेवाले का नाम लिखा है** अर्थात् अनाज के जो कण जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिसके संयोग में आने योग्य हैं, वे उसी के संयोग में आते हैं और अनाज का जो कण जब आने योग्य न हो, तब नहीं आता। परपदार्थों में जीव का पुरुषार्थ काम नहीं आता।

धर्म पुरुषार्थ से होता है, कर्म से नहीं। कोई ऐसा माने कि भाग्य में हो तो धर्म होगा तो यह बात खोटी है। संयोग मिलने में पुण्यकर्म निमित्त है; किन्तु राग करना अथवा सच्ची समझ करना कर्म के आधीन नहीं है। शुभ-अशुभ भाव जीव स्वयं करता है। ये भाव पर के आधीन नहीं होते। जैसे भाव जीव स्वयं करता है, वैसे भाव होते हैं। संसार के भाव छोड़कर धर्म के भाव भी स्वयं करे तो हो सकते हैं। शरीर इत्यादि अचेतन पदार्थ

और अन्य जीव इस आत्मा से भिन्न हैं तथा पुण्य-पाप विकृतदशा है। आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप, पुण्य-पाप से रहित है वह ऐसी श्रद्धा, ज्ञान, स्थिरता करके स्वयं सम्यक् भाव करना ही धर्म है। वह कर्म के आधीन नहीं तथा अन्य जीव एवं परपदार्थ के आधीन भी नहीं, वह तो स्वयं के सच्चे पुरुषार्थ के आधीन है।

धर्मी जीव चेतन और अचेतन का विभाग करता है। वह विचार करता है कि मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय चेतन स्वभाववाले हैं तथा पुद्गल के द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय अचेतन स्वभाववाले हैं। अचेतनस्वभाववाला शरीर मुझे जुदा है।

जैसे कोई बनिया बिना पुत्रवाला हो और उसके पास में कोई नीची जातिवाला लड़का आये तो उसको वह गोद नहीं लेता; अपितु स्वयं के कुटुम्ब का अथवा उच्च जाति के लड़के को गोद लेता है। इस दृष्टान्त से धर्मी जीव विचार करता है कि मेरी जाति शुद्धचैतन्य सिद्ध की जाति है। पुण्य-पाप विकृतदशा नीची जाति के हैं। शरीर लक्ष्मी पुण्य-पाप मेरे चिदानन्द स्वभाव के वारिस नहीं बन सकते। वे मेरे वारिस बनें उनमें ऐसी ताकत नहीं। मेरे स्वभाव में एकाग्रता होने पर जो निर्मल पर्याय प्रगटे, वह मेरे स्वभाव की वारिस बने वह ऐसी है। कोई जड़ बंगले को कायम रखना चाहे तो वह सदा नहीं रहता। मेरा तत्त्व तो मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय से एकमेक है, उसका पर के साथ संबंध नहीं है; अतः मुझे पर के प्रति ममत्व नहीं है। जैसे संसार में दो भाई आपस में बटवारा करते हैं, वैसे ही ज्ञानी जीव बटवारा करता है। ज्ञाता-दृष्टा आत्मा ज्ञान-दर्शन शक्ति और चैतन्यपर्याय मेरी है। शरीर, कर्म, लक्ष्मी अचेतन होने से मेरे नहीं। नौकर-चाकर, पुत्र, कुटुंब पर हैं। मेरा और उनका कोई संबंध नहीं। पुण्य-पाप उपाधिभाव हैं, उनमें सुख नहीं। सुख तो मेरे ज्ञानस्वरूप में है। इसलिए वे सभी पर हैं वह ऐसा स्व-पर का बटवारा धर्मीजीव करता है।

इसप्रकार स्वरूप-अस्तित्व से प्रत्येक ज्ञेय को जुदा जानना, ही सम्यग्ज्ञान है और धर्म का कारण है। ●

### प्रवचनसार गाथा १५५

अब, आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिए परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं वह

अप्या उवयोगप्या उवओगो गाणदंसणं भणितो ।

सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥१५५॥

( हरिगीत )

आतमा उपयोगमय उपयोग दर्शन-ज्ञान हैं ।

अर शुभ-अशुभ के भेद भी तो कहे हैं उपयोग के ॥१५५॥

अन्वयार्थ :ह [ आत्मा उपयोगात्मा ] आत्मा उपयोगात्मक है; [ उपयोगः ] उपयोग [ ज्ञानदर्शनं भणितः ] ज्ञान-दर्शन कहा गया है; [ अपि ] और [ आत्मनः ] आत्मा का [ सः उपयोगः ] वह उपयोग [ शुभः अशुभः वा ] शुभ अथवा अशुभ [ भवति ] होता है।

टीका :ह वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोगविशेष है। प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है, क्योंकि वह चैतन्य-अनुविधायी उपयोग चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम है। और वह उपयोग ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य साकार और निराकार ऐसा उभयरूप है। अब इस उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं, उसमें शुद्धोपयोग निरुपराग (निर्विकार) है; और अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है। और वह अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का है; क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप ऐसा दो प्रकार का है (अर्थात् विकार मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप ऐसा दो प्रकार का है।)

१. उपयोग विशेष ह उपयोग का भेद प्रकार या अमुक प्रकार का उपयोग। (अशुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है, यह १५६वीं गाथा में कहेंगे)

२. साकार ह आकारवाला या भेदवाला सविकल्प विशेष।

३. निराकार ह आकार रहित, भेद रहित, निर्विकल्प, सामान्य।

**भावार्थ :** ह्म आत्मा उपयोगस्वरूप है। प्रथम तो उपयोग के दो भेद हैं ह्म शुद्ध और अशुद्ध। और फिर अशुद्ध उपयोग के दो भेद हैं, शुभ तथा अशुभ।

### गाथा १५५ पर प्रवचन

वास्तव में अशुद्ध उपयोग ही आत्मा को संयोग ह्म शरीर, कुटुंब, पैसा इत्यादि प्राप्ति का कारण है। दया, दान, पूजा इत्यादि के भाव शुभ उपयोग हैं और हिंसा, झूठ, चोरी व भोग के भाव अशुभ उपयोग हैं। ये दोनों (शुभ-अशुभ) अशुद्ध उपयोग हैं। इनसे नया जड़कर्म बंधता है और उसके कारण बाह्य-संयोग मिलते हैं; किन्तु उनसे आत्मस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती।

उपयोग आत्मा का स्वभाव है। कितने ही जीवों को उपयोग की खबर भी नहीं। उपयोग स्वयं के दर्शन-ज्ञान की अवस्था है। जैसे कोई स्वयं के बुजुर्गों से सलाह लेकर किन्हीं कार्यों के संबंध में जान लेता है; लेकिन स्वयं के स्वभाव में क्या भरा है, उसको नहीं जानता, इसकारण उसको धर्म व शांति नहीं मिलती।

जीव बाहर की वस्तुओं का उपयोग नहीं कर सकता, कारण कि वे पर पदार्थ हैं, उनका मिलना अथवा नहीं मिलना जीव के हाथ की बात नहीं। परपदार्थ मिल नहीं सकते तथा उनका उपयोग भी नहीं किया जा सकता। अज्ञानी अज्ञान से मानता है कि ये सभी वस्तुएँ मैंने उपयोग में लीं, किन्तु वह स्वयं में विपरीत भाव करके कल्पना करता है।

उपयोग तो आत्मा का स्वभाव है। चैतन्य का अनुसरण करनेवाला परिणाम है। यह परिणाम शरीर, इन्द्रिय व मन का अनुसरण नहीं करता; अपितु चैतन्य का अनुसरण करता है ह्म ऐसा कहा है। यह बात लक्ष्य में लेनेयोग्य है। उपयोग दो प्रकार का है ह्म

**ज्ञान उपयोग** ह्म साकारपने का नाम ज्ञानोपयोग है। आकार सहित

का यह अर्थ नहीं कि जड़ का आकार ज्ञान में आता है; किन्तु ज्ञान भेद और प्रभेद सहित प्रत्येक वस्तु को जुदा-जुदा जानता है। इसलिए ज्ञान-उपयोग को साकार कहा है। देखो ! यह जीव है, यह जड़ है इत्यादि भेद से जानना, वह ज्ञान है।

**दर्शन उपयोग** ह्म निराकारपने का नाम दर्शनोपयोग है। निराकार का यह अर्थ नहीं कि किसी भी चीज का भेद नहीं होता, सामान्य सत्ता का अवलोकन ही दर्शनोपयोग है। यह जीव है कि अजीव है अथवा यह द्रव्य है ह्म ऐसा कोई भेद हुए बिना सामान्य अवलोकनरूप उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं। यहाँ दर्शन अर्थात् श्रद्धागुण की बात नहीं। श्रद्धा का उपयोग नहीं होता। दर्शन अर्थात् सामान्य अवलोकन उसकी बात है।

अब चारित्र की प्रधानता से उपयोग के भेद कहते हैं।

१. **शुद्धोपयोग** ह्म आत्मा ज्ञान स्वरूप है, शरीरादि जड़ हैं, पुण्य-पाप आत्मा के स्वरूप नहीं ह्म ऐसी प्रतीति और ज्ञान सहित शुद्धस्वभाव में रमणता हुई, उसको शुद्धोपयोग कहते हैं और वही धर्म है।

२. **अशुद्धोपयोग** ह्म आत्मा ज्ञानस्वरूप है ह्म ऐसा न जानकर पर-पदार्थ की तरफ स्वयं के परिणाम विकारसहित होना, उसको अशुद्धोपयोग कहते हैं। वह अशुद्धोपयोग दो प्रकार का है ह्म १. शुभोपयोग, २. अशुभोपयोग।

**शुभोपयोग** ह्म स्वयं के शुद्ध स्वभाव की तरफ उपयोग न करके जीव दया-दानादि मंद कषायरूप परिणाम में जुड़ता है, उसको शुभोपयोग कहते हैं और वह पुण्य भी अधर्म है।

**अशुभोपयोग** ह्म स्वयं के शुद्धस्वभाव की तरफ उपयोग न करके तीव्र कषायरूप परिणाम में जीव जुड़ता है, उसे अशुभोपयोग कहते हैं और वह पाप है।

लोग दया, दान, व्रत व पूजा के भाव को धर्म कहते हैं और उससे मोक्ष होगा ह्म ऐसा कहते हैं। यहाँ भगवान ने उन भावों को अशुद्धोपयोग कहा और वह अधर्म का अर्थात् संसार का कारण है ह्म ऐसा कहा है।



भगवान कहते हैं कि ऐसा अज्ञानी जीव नहीं मानता, भगवान का कहना माने तो स्वयं भगवान बन जाये।

**भावार्थ** ह्म आत्मा उपयोगस्वरूप है। प्रथम तो उपयोग के दो भेद हैं ह्म शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्धोपयोग के भी दो भेद हैं ह्म एक शुभोपयोग और दूसरा अशुभोपयोग।

यह ज्ञेय अधिकार है। पुण्य-पाप रहित निर्विकारी शुद्ध उपयोग वह धर्म का कारण और पुण्य-पाप सहित विकारी अशुद्ध उपयोग वह संसार का अर्थात् नवीन संयोग का कारण है। ●

बालकों! देखो बच्चों! मैं तुम्हें बालक नहीं मानता, भगवानस्वरूप मानता हूँ। आत्मा तो भगवानस्वरूप है; बालक आदि तो शरीर की अवस्था है और राग होता है वह क्षणिक विकारी दशा है, उसके पीछे शक्तिरूप भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप में विराजता है। अन्तर में पूर्णानन्द का नाथ भगवानस्वरूप में विराजता है। उसका ध्यान करने से पर्याय में भगवान प्रगट होता है। प्राप्य की प्राप्ति होती है। ऐसे चैतन्यभगवान का स्वरूप सुनते-सुनते उसकी रुचि से सत् के संस्कार पड़ते जाते हैं और फिर वे संस्कार बढ़ते-बढ़ते बाहर आयेंगे। जिस प्रकार मिट्टी के कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरती हैं वे पहले दिखायी नहीं देती, किन्तु अधिक बूँद गिरते रहने से घड़े में पानी बाहर दिखने लगता है।

**ह्म द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१३७-१३८**

### प्रवचनसार गाथा १५६

अब यह कहते हैं कि इनमें कौन सा उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है ह्म

**उवओगो यदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।**

**असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥१५६॥**

( हरिगीत )

उपयोग हो शुभ पुण्यसंचय अशुभ हो तो पाप का।

शुभ-अशुभ दोनों ही न हो तो कर्म का बंधन न हो ॥१५६॥

**अन्वयार्थ** :ह्म [ उपयोगः ] उपयोग [ यदि हि ] यदि [ शुभः ] शुभ हो [ जीवस्य ] तो जीव के [ पुण्यं ] पुण्य [ संचयं याति ] संचय को प्राप्त होता है [ तथा वा अशुभः ] और यदि अशुभ हो [ पापं ] तो पाप संचय होता है। [ तयोः अभावे ] उनके (दोनों के) अभाव में [ चयः नास्ति ] संचय नहीं होता।

**टीका** :ह्म जीव को परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्ध उपयोग है। और वह विशुद्ध तथा संक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभ रूप से द्विविधता को प्राप्त होता हुआ, जो पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है ऐसा जो परद्रव्य उसके संयोग के कारणरूप से काम करता है। (उपराग मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप से दो प्रकार का है, इसलिये अशुद्ध उपयोग भी शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार का है; उसमें से शुभोपयोग पुण्यरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है और अशुभोपयोग पापरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है।) किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है; और वह तो परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है। (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं है।)

### गाथा १५६ पर प्रवचन

अशुद्धोपयोग संसार का कारण है। संसार में जीव को शरीर, मन, वाणी, गति इत्यादि बाह्य संयोग मिलते हैं, उनका कारण अशुद्धोपयोग है। स्वयं के स्वभाव को न जानकर परपदार्थ के प्रति होनेवाले अशुद्धोपयोग परिणाम दो प्रकार के है ह

१. शुभोपयोग ह कषाय की मंदता को शुभ-उपयोग कहते हैं। उसके फल में पुण्य का बंध होता है। उससे देव, मनुष्य इत्यादि भव तथा अनुकूल संयोग मिलते हैं; किन्तु धर्म नहीं होता।

२. अशुभोपयोग ह कषाय की तीव्रता को अशुभोपयोग कहते हैं। उसके फल में असातावेदनीय इत्यादि पाप प्रकृतियों का बंध होता है और उसके निमित्त से नरक इत्यादि भव तथा प्रतिकूल संयोग मिलते हैं।

जैसे पानी के जोर से बाढ़ आ जाये तो मनुष्य अकड़ जाता है वैसे ही अज्ञानी जीव पुण्य के अहंकार में अथवा पाप की दीनता में लीन होता है तो संसार में भ्रमण करता है। जिस भाव से कर्म बंधता है, भले ही वह उत्कृष्ट शुभ हो तो भी धर्म का कारण नहीं हो सकता। शुभादि से देवगति मिलती है और अशुभ से नरकादि गति मिलती है; किन्तु गति रहित अवस्था दोनों से नहीं होती।

दुनियाँ में श्रेष्ठ कौन है ? लौकिक में पैसेवाले मनुष्य को श्रेष्ठी अथवा सेठ कहते हैं, वह श्रेष्ठ नहीं; अपितु जिसने आत्मा का भान किया है और स्वयं को ज्ञानस्वरूप माना है, तथा जिसने पुण्य-पाप रूप अशुद्धोपयोग को करनेयोग्य नहीं मानकर पुण्य से रुचि हटायी है और एकमात्र स्वभाव को आदरयोग्य माना है, वही जीव श्रेष्ठ है; बाकी मिथ्यादृष्टि जीव हेंठ हैं।

जिसप्रकार मल व मूत्र शरीर का मूल स्वरूप नहीं है, सम्हाल कर रखने लायक वस्तु नहीं है; उसीप्रकार पुण्य और पाप मल व मूत्र समान हैं, वे आत्मा के ज्ञानशरीर नहीं है। पुण्य और पाप ज्ञान की निरोगता के चिह्न नहीं; किन्तु रोग हैं ह ऐसा अशुद्धोपयोग को जो हेय मानकर स्वयं के

ज्ञानस्वरूप को त्रिकाल स्वीकार करनेयोग्य मानता है, वही जीव श्रेष्ठ है अर्थात् ज्ञानी है।

इसप्रकार शुभ और अशुभ दोनों उपयोगों को अभाव करनेयोग्य जानकर शुद्ध ज्ञान-स्वभाव को स्वीकार करना और स्थिरता करना शुद्ध-उपयोग है। ज्ञानी जीव सर्वप्रथम शुभ और अशुभ की श्रद्धा से नकार करता है। साधकदशा में पुण्य-पाप होने पर भी उसका नकार वर्तता है। समकित, ज्ञान और अंशमात्र स्वरूपाचरण चारित्र शुद्धोपयोग है और विशेष आगे बढ़ती हुई स्वभाव में लीनता होने से शुद्धोपयोग विशेष होता है। शुद्धोपयोग कर्मबंधन का कारण नहीं तथा परद्रव्य के संयोग का भी कारण नहीं। पूर्ण शुद्धोपयोग होने पर सर्वथा मोक्षदशा उत्पन्न होती है, जिससे सर्वथा परद्रव्य के संयोग से रहित होता है।

इसप्रकार शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं, अपितु धर्म का कारण है और मोक्ष की प्राप्ति कराता है।

इसप्रकार अशुभ और शुभ उपयोग ह दोनों आत्मा की विकारी पर्याय हैं और संसार का कारण हैं। शुद्धोपयोग आत्मा की निर्मल पर्याय है और वह मोक्ष का कारण है। ये तीनों पर्यायें ज्ञेय हैं, उनका ज्ञान करके स्वयं में शुद्धोपयोग प्रगट करना ही धर्म है। यह इस गाथा का सार है।●

### तू पामर नहीं प्रभु है!

आत्मा का गुणगान करते-करते भगवान हो जाते हैं। कोई क्रियाकाण्ड करते रहने से भगवान नहीं हुआ जाता, किन्तु गुणी ऐसे भगवान का गुणगान करने से, महिमा करने से भगवान हो जाते हैं। अनंत गुणों की महिमा गाते-गाते अनंत जीव केवली हो गये हैं। अनंत गुणरत्नों के भण्डार खुल गये हैं। भाई! तू पामर नहीं किन्तु प्रभु है, उसके स्वरूप का गुणगान कर।

ह द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९१

### प्रवचनसार गाथा १५७

अब शुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं ह

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।

जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥

( हरिगीत )

श्रद्धान सिध-अणगार का अर जानना जिनदेव को ।

जीवकरुणा पालना बस यही है उपयोग शुभ ॥१५७॥

अन्वयार्थ :ह [ यः ] जो [ जिनेन्द्रान् ] जिनेन्द्रों को [ जानाति ] जानता है, [ सिद्धान् तथैव अनागारान् ] सिद्धों तथा अनागारों की (आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की) [ पश्यति ] श्रद्धा करता है, [ जीवेषु सानुकम्पः ] और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है, [ तस्य ] उसके [ सः ] वह [ शुभः उपयोगः ] शुभ उपयोग है ।

टीका :ह विशिष्ट (विशेष प्रकार की) क्षयोपशम दशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ उपराग का ग्रहण किया होने से, जो (उपयोग) परम भट्टारक महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अर्हत, सिद्ध और साधु की श्रद्धा करने में तथा समस्त जीवसमूह की अनुकम्पा का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है ।

### गाथा १५७ पर प्रवचन

प्रवचनसार ज्ञान अधिकार की गाथा ८० में कहा था कि जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह स्वयं के आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नष्ट हो जाता है । वहाँ ज्ञान अधिकार था । जो अरहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय को विकल्प रहित स्वयं के ज्ञान में ज्ञान से जाने, उसका दर्शनमोह नष्ट हो जाता है । यहाँ पंचपरमेष्ठी स्वयं के ज्ञान में परज्ञेय हैं, स्वज्ञेय नहीं । परज्ञेय की तरफ उपयोग होने से शुभराग

१. उपराग का अर्थ गाथा १२६ की टिप्पणी में देखें ।

उत्पन्न होता है । ज्ञानी जीव को निज स्वभाव का भान होता है पश्चात् पंचपरमेष्ठी की तरफ के विकल्प को शुभराग कहते हैं । यहाँ ज्ञानी के शुभ-उपयोग की बात है; अज्ञानी की बात नहीं, कारण कि अज्ञानी जीव आत्मा को जाने बिना पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा करता है, वह सच्ची श्रद्धा नहीं है ।

यहाँ खास प्रकार के क्षयोपशमभाव को लिया है । राग की मंदता करके अज्ञानी को सामान्य उघाड़ होता है, यहाँ उसकी बात नहीं; अपितु ज्ञानी के क्षयोपशमभाव की बात है ।

क्षयोपशम सम्यक्त्व में मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय का उदय नहीं होता; किन्तु सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति का उदय होता है; इसलिए दर्शनमोहनीय का उदय इस गाथा में कहा है ।

जब जीव स्वयं के स्वभाव में स्थिर नहीं हो पाता तब सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति और चारित्रमोहनीय प्रकृति का निमित्त पाकर क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव का उपयोग पंचपरमेष्ठी की तरफ बसनेवाला होता है ।

कर्म के उदय के कारण अथवा स्वभाव का अनुसरण करके राग नहीं होता, किन्तु स्वयं पर का लक्ष्य करे तो उसमें सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति और चारित्रमोहनीय प्रकृति उदयरूप में निमित्त होती है । जो भाव पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा करने में तथा सभी जीवों के प्रति अनुकम्पा करने में प्रवर्तता है, वह भाव शुभभाव कहा जाता है ।

जो सर्वज्ञ, परम पूजनीय, देवाधिदेव, परम जिन हैं जिनको तीन काल, तीन लोक का ज्ञान प्रगट हुआ है ह ऐसे परम ऐश्वर्यवान अर्हत तथा सिद्ध हैं । उनका अनुसरण करते हुए मुनि ह आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं ह ऐसे पंचपरमेष्ठी की ज्ञानी श्रद्धा करता है, उसके हृदय में सभी जीवों के प्रति अनुकम्पा वर्तती है । यद्यपि अनंत जीवों के प्रति अनुकम्पा का भाव नहीं हो सकता; परंतु ज्ञानस्वभाव के भानसहित अनुकम्पा का विकल्प उठता है; इसलिये ऐसा कहा जाता है कि उसको सभी की तरफ

अनुकंपा वर्तती है। इसप्रकार ज्ञानी जीव को होनेवाला शुभ उपयोग पुण्य बंध का कारण है।

समयसार में सम्यग्दृष्टि को होनेवाले शुभभावों को बंध का कारण नहीं कहा। वहाँ दर्शनप्रधान अधिकार होने से अस्थिरता के कारण होनेवाले शुभभाव को गौण करके दृष्टि में शुभभाव का निषेध किया है। इस अपेक्षा से शुभभावों को बंध का कारण नहीं कहा। यहाँ सम्यग्दृष्टि के शुभभाव को शुभ; किन्तु वह एक ज्ञेय मात्र है और उसका फल पुण्यबंध है हू ऐसा ज्ञान कराया है।

### प्रकाश व अंधकार

जिसप्रकार सूर्य का प्रकाश और अन्धकार दो बिलकुल भिन्न वस्तुएँ हैं। उसीप्रकार सहजात्मस्वरूप अकेला ज्ञानस्वभाव है, वह सूर्य समान है और दया-दानादि के विकल्प अंधकार जैसे हैं, उनकी ज्ञानसूर्य से बिलकुल भिन्नता है। सहजात्मस्वरूप अर्थात् जो स्वाभाविक है, प्राकृतिक है, अकृत्रिम है हू ऐसे स्वभाव की और राग की एकता तीनकाल में नहीं है। क्या किया जाये ! केवलियों का विरह हुआ, अवधिज्ञानी भी कोई रहे नहीं, जगत् को चमत्कारिक लगे हू ऐसा कुछ रहा नहीं। सत्य को स्वीकारना जगत् को कठिन लगता है; ऐसा परम सत्य स्वीकारनेवाले भी महाभाग्यशाली हैं।

हू द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१३७

### प्रवचनसार गाथा १५८

अब अशुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं हू

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुष्टगोष्टिजुदो ।

उगो उम्मगपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥१५८॥

( हरिगीत )

अशुभ है उपयोग वह जो रहे नित उन्मार्ग में ।

श्रवण-चिंतन-संगति विपरीत विषय-कषाय में ॥१५८॥

अन्वयार्थ : हू [ यस्य उपयोगः ] जिसका उपयोग [ विषयकषा-यावगाढः ] विषय-कषाय में अवगाढ (मग्न) है [ दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्ट-गोष्टियुतः ] कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, [ उग्रः ] उग्र है तथा [ उन्मार्गपरः ] उन्मार्ग में लगा हुआ है, [ सः अशुभः ] उसका वह अशुभोपयोग है।

टीका : हू विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभ उपराग को ग्रहण करने से, जो (उपयोग) परम भट्टारक, महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अर्हंत, सिद्ध और साधु के अतिरिक्त अन्य हू उन्मार्ग की हू श्रद्धा करने में तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है।

### गाथा १५८ पर प्रवचन

इस गाथा में मिथ्यादृष्टि के अशुभ-उपयोग की बात है। अज्ञानी जीव दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मों के उदय काल में स्वयं मिथ्यात्व सहित अशुभभाव करता है।

अज्ञानी जीव सर्वज्ञ, देवाधिदेव अरहंत, सिद्ध तथा मुनि की श्रद्धा नहीं करता और सर्वज्ञ से विरुद्ध कहे जानेवालों की श्रद्धा करता है। जो जीव पुण्य से धर्म मानता है, निमित्त से लाभ मानता है, वह जैन नहीं, उसको पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा नहीं, वह तो भगवान का विरोध करता है। अज्ञानी जीव विषय-कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करता हुआ प्रवर्तता है, वह अशुभ-उपयोग है।

**कषाय :** ह्य मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणाम को कषाय कहते हैं।

**कुश्रवण :** ह्य रागी देव और रागी गुरु का कथन सुनना कुश्रवण है। सच्चे शास्त्र बांचकर “निमित्त होय तो लाभ हो, पुण्य से धर्म होता है” ऐसा उपदेश दे तो उसका श्रवण भी कुश्रवण है।

**कुविचार :** ह्य कुश्रवण सुनकर स्वयं विचार करे कि “यह श्रवण तो बहुत अच्छा था।” स्वयं के ज्ञानस्वभाव से विरुद्ध, विपरीत ज्ञान, श्रद्धान और आचरण को पुष्ट करे ह्य ऐसा खोटा विचार एक के बाद एक करता है, वह कुविचार है।

**कुसंग :** ह्य कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र की रुचि और उनमें प्रेम करना तथा धर्मबुद्धि से उनका और उनके अनुयायियों का समागम करना कुसंग है।

**उग्रता :** ह्य मिथ्यात्व सहित हिंसा, झूठ व चोरी के भाव उग्रता है।

सर्वज्ञदेव जो सत्यस्वरूप कहते हैं, अज्ञानी उससे विपरीत मार्ग की श्रद्धा करता है। सर्वज्ञ भगवान ने सभी वस्तुओं का स्वरूप स्वतंत्र कहा है; किन्तु अज्ञानी जीव कहता है कि आत्मा हो तो शरीर चलता है। शरीर की क्रिया से तथा बाह्य से धर्म होता है, इत्यादि मान्यता उन्मार्ग है। जो जीव ऐसे उन्मार्ग की श्रद्धा करता है, खोटे मार्ग की प्रशंसा करता है तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रतारूप आचरण में प्रवर्तता है, वह अज्ञानी है, उसको अशुभ उपयोग कहा है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा का विरोध तीव्र अशुभ-उपयोग है। अज्ञानी जीव बाह्य से लाखों रुपये खर्च करता हो, तीर्थयात्रा करे, मंदिर बनवाये और लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि “तुम तो धर्म के आधार हो, प्रभावना करनेवाले हो” इत्यादि। किन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा को जाने बिना बाह्य से धर्म मानने वाला अज्ञानी जीव द्रव्य तथा भाव से धर्म की जरा भी प्रभावना नहीं करता; अपितु मिथ्यात्वरूप पाप की ही प्रभावना करता है, कारण कि वह आत्मतत्त्व का विरोध करता है; जो कि तीव्र अशुभ परिणाम है।

इसप्रकार अज्ञानी अशुभ उपयोग करता है, उसका ज्ञान करके पंचपरमेष्ठी जैसा कहते हैं, वैसा वस्तुस्वरूप यथार्थ जानो। ●

## प्रवचनसार गाथा १५९

अब, परद्रव्य के संयोग का जो कारण (अशुद्धोपयोग) उसके विनाश का अभ्यास बतलाते हैं ह्य

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुतो ण अण्णदवियम्हि ।

होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं ज्ञाए ॥१५९॥

( हरिगीत )

आतमा ज्ञानात्मक अनद्रव्य में मध्यस्थ हो।

ध्यावे सदा ना रहे वह नित शुभ-अशुभ उपयोग में ॥१५९॥

**अन्वयार्थ :** ह्य [ अन्यद्रव्ये ] अन्य द्रव्य में [ मध्यस्थः ] मध्यस्थ [ भवन् ] होता हुआ, [ अहम् ] मैं [ अशुभोपयोगरहितः ] अशुभोपयोग रहित होता हुआ तथा [ शुभोपयुक्तः न ] शुभोपयोगयुक्त नहीं होता हुआ [ ज्ञानात्मकम् ] ज्ञानात्मक [ आत्मकं ] आत्मा को [ ध्यायामि ] ध्याता हूँ।

**टीका :** ह्य जो यह (१५६वीं गाथा में) परद्रव्य के संयोग के कारणरूप में कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द-तीव्र उदयदशा में रहनेवाले परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारण से नहीं। इसलिये यह मैं समस्त परद्रव्य में मध्यस्थ होऊँ। और इसप्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ अथवा अशुभ ऐसा जो अशुद्धोपयोग उससे मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है, ऐसा होता हुआ, उपयोगात्मा द्वारा (उपयोगरूप निज स्वरूप से) आत्मा में ही सदा निश्चल रूप से उपयुक्त रहता हूँ। यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है।

## गाथा १५९ पर प्रवचन

स्वरूप में लीनता शुभाशुभ भाव का नाश करती है। गाथा १५६ में कहा था कि स्व तरफ से च्युत होकर पर तरफ बसनेवाला उपयोग

अशुद्धोपयोग है और वह परद्रव्य के संयोग का कारण है, वह स्वभाव का अनुसरण नहीं करता; किन्तु द्रव्यकर्म के तीव्र-मंद उदय को अनुसरण करके आत्मा स्वयं अटकता है, तब अशुद्धोपयोग होता है; किन्तु दूसरे कोई पदार्थ अथवा कर्म के कारण अशुद्धोपयोग नहीं होता। आचार्य कहते हैं कि पंचपरमेष्ठी इत्यादि सभी परद्रव्यों में मैं अत्यंत मध्यस्थ होता हूँ।

इसप्रकार मैं मध्यस्थ होता हूँ, जिससे मेरी परिणति परद्रव्य के अनुसार नहीं होती तथा मैं शुभ और अशुभ उपयोग से मुक्त होता हूँ और मैं अपने शुद्ध आत्मद्रव्य में लीन रहता हूँ। मुझे शुद्धोपयोग प्रगट हुआ है, इसकारण मैं उपयोगरूप निजस्वरूप आत्मा में स्थिर रहता हूँ। शुद्धोपयोग में रहना ही परद्रव्य के संयोग के कारणरूप अशुद्धोपयोग के विनाश का कारण है। कोई कर्म मंद हुआ, इसलिए शुद्धोपयोग हुआ हूँ ऐसा नहीं कहा।

**शंका** हूँ यहाँ टीका में जो पाठ आया है कि “परद्रव्य अनुसार परिणति के आधीन नहीं होने से शुभ अथवा अशुभ हूँ ऐसा जो अशुद्ध उपयोग उससे मुक्त होकर” हूँ इसका क्या अर्थ है? परद्रव्य के आधीन परिणति हुई है और पश्चात् आधीन नहीं होती हूँ ऐसा होगा? या फिर अब अशुद्धोपयोग उत्पन्न हो गया; पश्चात् उसमें से मुक्त हो जायेगा?

**समाधान** हूँ नहीं, ऐसा नहीं, समझाने के लिए नास्ति से कथन करते हैं। स्वभाव में लीन होने पर परद्रव्य के अनुसार परिणति उत्पन्न नहीं होती। उस कथन के अनुसार परद्रव्य अनुसार परिणति को आधीन नहीं होने से हूँ ऐसा कहने में आता है। अब स्वभाव में लीनता करने से शुभ-अशुभ भाव उत्पन्न नहीं होते हैं, इस कथन के अनुसार अशुद्ध-उपयोग से मुक्त हुआ अथवा अशुद्ध उपयोग नष्ट हुआ हूँ ऐसा कथन करने में आता है।

**शंका** हूँ कोई प्रश्न करता है कि शुक्लध्यान में भी छह द्रव्य के गुण-पर्यायादि विचार के भेद पड़ते हैं, वहाँ भी ‘केवल स्वद्रव्य का ग्रहण’ नहीं है; तो फिर यहाँ निचली दशा में केवल स्वद्रव्य अनुसार परिणति कैसे कही?

**समाधान** हूँ शुक्लध्यान में होने वाले द्रव्य-गुण-पर्याय के अबुद्धिपूर्वक विचार केवलीगम्य हैं; किन्तु वे होते अवश्य हैं, इसलिए उसने सर्वथा स्वद्रव्य को पकड़ा नहीं ऐसा वहाँ सूक्ष्म परिणामों का ज्ञान कराते हैं और यहाँ परद्रव्य की ओर से लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य में लीन हुआ और बुद्धिपूर्वक पर की ओर से लक्ष्य छोड़ा है, उसको “केवल स्वद्रव्य के अनुसार परिणति ग्रही है” हूँ ऐसा कहने में आता है।

किसी शास्त्र में भगवान की वाणी सुनने व प्रतिमा के दर्शन इत्यादि को सम्यक्त्व अर्थात् शुद्धभाव में निमित्त कहा है; तो यहाँ पंचपरमेष्ठी को शुभभाव में निमित्त कहा है। उपादान में शुभ अथवा शुद्धतारूपी जैसा कार्य होता है, उसका आरोप पर पदार्थ पर आता है, इसलिए अपेक्षा समझना चाहिए।

आचार्य भगवान को इस गाथा के लिखते समय तो शुभ उपयोग वर्तता है; किन्तु दृष्टि में शुभ का निषेध वर्तता है। शुद्ध स्वभाव का जोर है; इसलिए शुभ को गौण करके ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करता हूँ हूँ ऐसा कहा है।

यह ज्ञेय अधिकार है, पंचपरमेष्ठी परज्ञेय हैं, स्वज्ञेय नहीं, इसकारण उनकी तरफ से लक्ष्य छूटकर आत्मा में शुद्धोपयोग प्रगट होने से अशुद्ध उपयोग उत्पन्न ही नहीं होता, तथा परद्रव्य का संयोग भी रहता नहीं। इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि शुद्धोपयोग में मैं रहता हूँ और वह अशुद्ध उपयोग के विनाश का अभ्यास है। ●

देव-शास्त्र-गुरु भी तेरे लिये पर हैं; उनके आश्रय से-लक्ष से भी आत्मा प्राप्त नहीं होता; इसलिये उनका लक्ष छोड़ दे। अंतर में ज्ञानानन्द का पिण्ड प्रभु आत्मा विराजमान है, उसका लक्ष कर ! उस एक को ही ग्रहण कर ! अपने परिणाम को वहाँ भीतर ले जा ! उसी से तुझे ज्ञानानन्द की प्राप्ति होगी।

हूँ द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१४४

### प्रवचनसार गाथा १६०

अब, शरीरादि परद्रव्य के प्रति भी मध्यस्थपना प्रगट करते हैं ह

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।

कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥१६०॥

( हरिगीत )

देह मन वाणी न उनका करण या कर्ता नहीं ।

ना कराऊँ मैं कभी भी अनुमोदना भी ना करूँ ॥१६०॥

अन्वयार्थ :ह [ अहं न देहः ] मैं न देह हूँ, [ न मनः ] न मन हूँ, [ च एव ] और [ न वाणी ] न वाणी हूँ, [ तेषां कारणं न ] उनका कारण नहीं हूँ [ कर्ता न ] कर्ता नहीं हूँ, [ कारयिता न ] करानेवाला नहीं हूँ; [ कर्तृणां अनुमन्ता न एव ] (और) कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ ।

टीका :ह मैं शरीर, वाणी और मन को परद्रव्य के रूप में समझता हूँ, इसलिए मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है । मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । वह इसप्रकार ह

वास्तव में मैं शरीर, वाणी और मन के स्वरूप का आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) बिना भी वे वास्तव में अपने स्वरूप को धारण करते हैं । इसलिये मैं शरीर, वाणी और मन का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं शरीर, वाणी तथा मन का कारण ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ । मैं कारण (हुए) बिना भी वे वास्तव में कारणवान हैं, इसलिए उनके कारणपने का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं स्वतंत्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कर्ता ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; मैं कर्ता (हुए) बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं, स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूँ; मैं कर्ता-प्रयोजक बिना

भी (अर्थात् मैं उनके कर्ता का प्रयोजक हूँ उनका करानेवाला हूँ हुए बिना भी) वे वास्तव में किये जाते हैं । इसलिये यह मैं उनके कर्ता के प्रयोजकपने का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

और मैं स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक जो अचेतनद्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूँ; मैं कर्ता-अनुमोदक बिना भी (मैं उनके कर्ता का अनुमोदक हुए बिना भी) वे वास्तव में किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्ता के अनुमोदकपने का पक्षापात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

### गाथा १६० पर प्रवचन

धर्मी जीव शरीर, मन व वाणी की अवस्था का ज्ञाता-दृष्टा होता है । आचार्य भगवान कहते हैं कि मैं शरीर, वाणी और मन को परपदार्थ समझता हूँ । लिखते समय मन की तरफ का जुड़ाव होने पर स्वभाव की अधिकता में उसको गौण किया है । जब वाणी निकलती है तो बहुत से जीवों को लाभ का कारण होती है, ऐसी अनुमोदना मैं नहीं करता । वाणी इत्यादि की तरफ का मुझे पक्षपात नहीं ।

आत्मा है, इसकारण शरीर, मन, वाणी की क्रिया हो रही है हूँ ऐसा मैं नहीं मानता । शरीर, मन, वाणी परद्रव्य हैं, वे अपने कारण परिणमन कर रहे हैं । मैं उनके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

कितने अज्ञानी जीव मानते हैं कि तीर्थंकर भगवान दूसरे जीवों को समझाने के लिए भाषा के परमाणु ग्रहण करते हैं और बाद में छोड़ते हैं; किन्तु यह बात सच्ची नहीं है । जब यहाँ निचली दशा में ही राग होने पर भी आत्मा देह, मन व वाणी का कर्ता, आधार अथवा कारण नहीं है तो बाद में वीतराग-सर्वज्ञदशा उत्पन्न होने पर तीर्थंकर का आत्मा भाषा को ग्रहण करता है तथा छोड़ता है, यह बात तो स्थूल अज्ञान की है ।

अब कोई पूछता है कि आत्मा वाणी का कर्ता नहीं तो दीवार को वाणी क्यों नहीं होती ?

समाधान हूँ भाई ! वाणी तथा जीव का निमित्त-नैमित्तिक संबंध

बताया है अर्थात् आत्मा वाणी का कर्ता कभी नहीं होता। निमित्त-नैमित्तिक संबंध ही आत्मा और वाणी की पृथकता बताता है। आत्मा व्यवहार से भी वाणी का कर्ता नहीं है, दोनों में अत्यंत अभाव है।

आत्मा शरीर, मन, वाणी का आधार नहीं है। शरीर, मन, वाणी का आधार तो अचेतन द्रव्य है; मैं अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। शरीर, मन व वाणी की जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, वे अपने-अपने आधार से होती हैं। आत्मा के आधार से उन तीनों की क्रिया की बात असत्य है; क्योंकि उनकी अवस्था मेरे आधार बिना स्वयं से ही हो रही है। मेरे ज्ञान और विकल्प के आधार से वाणी नहीं निकलती, वह अपने स्वयं के आधार से निकलती है। ॐकार ध्वनि के आधार केवली भगवान नहीं, उसका आधार अचेतन द्रव्य अर्थात् भाषा वर्गणा है।

ज्ञानी जीव विचार करता है कि शरीर, मन व वाणी तो परज्ञेय हैं, वे मेरे आधार बिना स्वतंत्ररूप से परिणमन कर रहे हैं। इसकारण उनके आधार का पक्षपात छोड़कर मैं अत्यंत ज्ञाता-दृष्टा रहता हूँ।

धर्मी जीव के श्रद्धा और ज्ञान की बात इस गाथा में कही है। शरीर, मन व वाणी का आधार मैं नहीं हूँ। मेरे आधार बिना वे अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं। शरीर, मन व वाणी हूँ इन तीनों के स्वरूप का आधार जड़ है। जड़ के कारण वे प्रवर्त रहे हैं। मेरा आत्मा उनसे जुदा है हूँ यह बात यहाँ कह चुके हैं, अब कारण की बात करते हैं हूँ

शरीर, मन व वाणी का कारण अचेतन द्रव्य ही है। मेरा आत्मा अचेतन द्रव्य नहीं। मेरे कारण हुए बिना भी वे तीनों अपने कारण से परिणमन कर रहे हैं। मेरे कारण बिना ही वाणी निकल रही है। शरीर चलता है और मन के परमाणु स्वयं के कारण परिणमन कर रहे हैं। यहाँ निमित्त कारण की बात ही नहीं की। यह ऊपर कथन से निश्चित होता है कि वास्तविक कारण एक ही है। जैसे वास्तविक मोक्षमार्ग एक ही है, वैसे वास्तविक उपादान कारण भी एक ही कारण है।

मोक्षमार्ग एक ही है। शरीरादि परवस्तु एवं पुण्य-पाप रूप विकृतदशा

से रहित परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा की रागरहित श्रद्धा, रागरहित स्वसंवेदन ज्ञान और रागरहित अंतरस्थिरता हूँ ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतास्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग एक ही है और उससमय सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान और पाँच महाव्रतादि के परिणाम को निमित्त अथवा सहकारी होने से उपचार से मोक्षमार्ग कहा है; किन्तु वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं, बंधमार्ग है। जब निश्चय प्रगट होता है; तभी व्यवहार नाम कहने में आता है। इससे निश्चित होता है कि निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग हूँ ऐसे दो मोक्षमार्ग नहीं, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप एक ही निश्चय मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार कोई भी कार्य होने में वास्तविक कारण एक ही है। यहाँ कहते हैं कि शरीर, मन व वाणी स्वयं के कारण से परिणमित हो रहे हैं, उसमें आत्मा निमित्त कारण है। आत्मा से शरीर चलता है और वाणी निकलती है, यह बात बिलकुल गलत है। आत्मा के कारण हुए बिना वे परिणमन कर रहे हैं। यह पहले निश्चित हो चुका है कि जो-जो कार्य होता है, उसमें वह द्रव्य ही अपना वास्तविक उपादान कारण है। यदि दूसरी चीज सहकारी हो, उसको निमित्तकारणपने का उपचार करने में आता है। उपचार अर्थात् आरोपित कथन। उपादान कारण और निमित्त कारण हूँ ऐसे दो कारण कहने में आते हुए भी उपादान कारण एक ही वास्तविक कारण है।

जैसे मोक्षमार्ग दो नहीं; अपितु निश्चय मोक्षमार्ग एक ही है, उसमें भी उपादान कारण ही वास्तविक कारण है।

**प्रश्न :** पूर्व में वीतरागता के निमित्त से बहुत से जीवों ने वीतरागता को प्राप्त किया; इसलिये स्वयं में वीतरागदशा प्रगट करने के लिए वीतरागी निमित्त कारण को जिज्ञासु जीव खोजें तो क्या दोष है ?

**उत्तर :** उसमें बहुत दोष है। वीतरागी निमित्त कारण खोजने का भाव मिथ्याभाव है। पर का संयोग मिलना जीव के अधिकार की बात नहीं है; पर को खोजने से वह मिल सकता है हूँ ऐसा भाव ही मिथ्याभाव है।

जिसको पूर्व में वीतरागदशा प्रगट हुई उसको ज्ञानी निमित्त था हूँ



ऐसा आरोप आता है; किन्तु जिसको वर्तमान में वीतरागदशा नहीं है उसको क्या निमित्त है ? वर्तमान पर्याय में राग वर्तता हुआ होने से कहते हैं कि वीतराग दशा का निमित्त खोजना है; पर यह बात ही मिथ्या है। वीतरागदशा स्वयं के आश्रय से प्रगट होती है। वीतरागदशा तो प्रगट नहीं हुई और उसके लिए निमित्त खोजने जावे तो वह राग पर्याय को तथा वीतराग की पर्याय ह्व दोनों को एक साथ मानता है। उस जीव को पर्याय के क्रम की तथा द्रव्य के क्रम की खबर नहीं है। वह क्रमबद्धस्वभाव को भी नहीं समझता है।

१. जिसको स्वभाव के आश्रय से वीतरागदशा प्रगट हो गई है, उसको वीतरागी निमित्त को खोजना नहीं रहा।

२. जिसको अज्ञान और राग-द्वेष वर्तमान में होते हैं, उसको भी निमित्त खोजना नहीं रहा। कारण कि वीतरागी निमित्त का आरोप तो उपादान में वीतरागी दशारूप कार्य होने पर आता है। एक समय में रागवाली पर्याय और वीतरागी पर्याय दोनों नहीं हो सकती हैं।

इसप्रकार वीतरागी निमित्तकारण खोजने जाने का भाव मिथ्याभाव है। स्वयं शुद्ध उपादान-निरालंबी तत्त्व है, उसका आश्रय लेना ही सम्यक् भाव है।

**प्रश्न :** वीतरागी निमित्त नहीं खोजो ह्व ऐसा कहा तो क्या मुमुक्षु वैसे ही रहे ?

**उत्तर :** भाई ! पर को तो कोई मिला नहीं सकता; क्योंकि स्वयं का ज्ञानस्वभाव तो शरीर, मन व वाणी से भी जुदा है, वास्तव में आत्मा शरीर में रहता ही नहीं। पर की जो अवस्था होती है, उसका ज्ञान करना और स्वयं की आत्मा में बसना अर्थात् स्थिर होना आत्मा के हाथ की बात है और वही धर्म है। इसप्रकार निमित्तरूप वीतरागी को तलाशना भी जीव के हाथ में नहीं है।

**प्रश्न :** फिर वीतरागी निमित्त का लक्ष्य न करके अकेला परप्रकाशक ज्ञान करे तो क्या बाधा है ?

**उत्तर :** यह तो बिलकुल वैसा ही है, जैसे कोई जीव कहे कि स्वयं की आँख बन्द रखकर दूसरे के शरीर को देखे; तो क्या बाधा है ?

अरे भाई! जिसप्रकार स्वयं की आँख बन्द करके देखनेवाला जीव स्वयं को नहीं देखता तथा दूसरे को भी नहीं देख सकता; उसीप्रकार स्वयं का आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसके भान बिना अर्थात् स्वयं के स्व-प्रकाशक ज्ञान बिना एक मात्र पर-प्रकाशक ज्ञान करे तो उसका ज्ञान भी यथार्थ नहीं, वह जीव स्व-प्रकाशक ज्ञान से अंधा है। वीतरागी निमित्त को जानना तो परप्रकाशक ज्ञान है। स्वयं के आत्मा को जानने की स्व-प्रकाशक शक्ति खिले बिना, स्वयं के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव की सामर्थ्य जाने बिना एकांत पर-प्रकाशक ज्ञान बिलकुल मिथ्या है।

सम्यग्दृष्टि जीवों को आत्मा का भान है, उनके स्व-पर प्रकाशक शक्ति खिल गई है, इसकारण स्वयं को जानते हुये पर-पदार्थों को स्वयं के ज्ञान में रखकर यथार्थपने जानते हैं। मैं पर-निमित्तों को मिला सकता हूँ अथवा परनिमित्त आवें तो धर्म हो ह्व ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। स्वतंत्र स्वभाव का ज्ञान होने पर धर्मदशा के समय वीतरागी का ही निमित्त होता है, अज्ञानी का निमित्त नहीं होता। ऐसा पर-प्रकाशक ज्ञान में यथार्थ निर्णय कर लेना चाहिए।

आत्मा शरीर, मन व वाणी की अवस्था का कारण नहीं, वह तो मात्र साक्षी है। धर्मी जीव विचार करता है कि निमित्त से स्वयं का ज्ञान नहीं होता। निमित्त कारण के बिना मेरा ज्ञान मेरे में से होता है। खाने-पीने के पदार्थ, पैसा इत्यादि स्वतंत्र पदार्थ जड़ हैं। उनमें क्रियावती नाम की शक्ति है, जिससे वे अपने कारण क्षेत्रांतर होते हैं। आत्मा है तो उनकी अवस्था होती है ह्व ऐसा वह मानता है।

ज्ञानी विचार करता है कि जड़ मन के बिना मैं स्व-पर को जान रहा हूँ। मेरे ज्ञान में पर कारण नहीं है। जब शरीर, मन व वाणी का भी मैं कारण नहीं हूँ तो फिर जो वस्तुएँ शरीर से बहुत दूर हैं, उन वस्तुओं की अवस्था का कारण मैं कैसे हो सकता हूँ ? इसलिए उन वस्तुओं के कारणपने के

पक्षपात को छोड़कर मैं ज्ञाता-दृष्टास्वरूप रहता हूँ। स्वयं में रहकर उनकी अवस्था को मात्र जानता हूँ।

धर्मी जीव विचार करता है कि शरीर, मन व वाणी का कर्ता अचेतन द्रव्य है। मैं अचेतन द्रव्य नहीं। जड़ की अवस्था जड़ के कारण होती है।

अज्ञानी जीव कहता है कि भले ही शरीर की अथवा वाणी की क्रिया जड़ से होती है; किन्तु आत्मा निमित्तकर्ता हो तभी हो सकती है। धर्मी जीव कहता है कि शरीर का चलना, वाणी का निकलना अथवा नहीं निकलना, उसका कर्ता जड़ ही है। मैं (आत्मा) उसका कर्ता नहीं हूँ। मौन रहना कि बोलना हूँ यह मेरे आत्मा के आधीन नहीं। वस्तुतः मेरे आत्मा के निमित्त की अपेक्षा बिना ही वे जड़ वस्तुएँ परिणमन कर रही हैं। शरीर और आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक संबंध बहुत घनिष्ठ है। जब शरीर चलता है तो आत्मा के प्रदेश स्वयं के कारण चलते हैं हूँ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर भी आत्मा शरीर की किसी अवस्था का कर्ता नहीं है तो फिर लक्ष्मी मकान इत्यादि प्रत्यक्ष जुड़े पदार्थों की अवस्था का कर्ता किसी भी काल में कैसे हो सकता है ? इसलिए मैं अचेतन पदार्थों के कर्तापने के पक्षपात को छोड़कर उन पदार्थों को मात्र जानने-देखनेवाला हूँ।

अज्ञानी जीव मानता है कि योजना अच्छी हो तो दुकान अच्छी चलती है, इज्जत रहती है, घर चलता है और व्यवस्था अच्छी होती है। कसरत (व्यायाम) करके शरीर बलवान बना सकते हैं। कहता है शास्त्र में भी लिखा है कि हित-मित-प्रिय वचन बोलो। वचनों में दरिद्रता का क्या काम ? जीव जितनी इच्छा करता है, उतना बोलता है हूँ ऐसी अनेक प्रकार की विपरीत मान्यतायें अज्ञानी जीव किया करता है।

धर्मी जीव विचार करता है कि जड़ पदार्थों की विशेष अवस्था हुई, वह जड़ के आधीन है। उनकी योजना के लिए कोई बुद्धि की जरूरत नहीं है। वे पदार्थ मेरे प्रयोजकपने बिना स्वयं के कारण से विशेष अवस्थारूप होते हैं। जब आत्मा बोल ही नहीं सकता; तो फिर थोड़ा बोलो कि हित-

मित बोलो, यह प्रश्न ही नहीं रहता। भाषा समिति के व्यवहार स्वरूप में निमित्त की अपेक्षा कथन है। मैं दुकान, घर-बार, भाषा, शरीर आदि किसी भी पदार्थ की व्यवस्था का कर्ता नहीं; क्योंकि वे पदार्थ स्वयं ही मेरे प्रयोजकपने बिना स्वयं के कारण व्यवस्था प्राप्त कर रहे हैं। मैं उन पदार्थों के कर्ता प्रयोजकपने के पक्षपात को छोड़कर उनकी तरफ मध्यस्थ हूँ अर्थात् साक्षी स्वरूप हूँ।

आत्मा शरीर, मन व वाणी का अनुमोदक नहीं; क्योंकि उनका कर्ता अचेतन द्रव्य है। मेरी अनुमोदना के बिना वे स्वयं परिणमन कर रहे हैं।

अज्ञानी जीव मानता है कि अमुक मनुष्य अच्छा बोलता है; इसलिए उसकी अनुमोदना करनी चाहिए।

धर्मी जीव विचार करता है कि भाषा बोलने का अधिकार मेरा है ही नहीं; तो फिर मेरी अनुमोदना की क्या आवश्यकता है ? शरीर, मन व वाणी पर मेरा अधिकार नहीं। मेरी अनुमोदना से जड़ में कार्य होता है और मेरी अनुमोदना न हो तो जड़ का कार्य अटक जाता है हूँ ऐसा मैं नहीं मानता। वे मेरी अनुमोदना के बिना स्वतंत्रपने परिणमन कर रहे हैं। इसलिए उनके कर्ता के अनुमोदकपने का पक्षपात छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

अज्ञानी जड़ आदि का कर्ता और कारण स्वयं को भले ही माने; किन्तु वे जड़ शरीर, मन व वाणी का आधार, कारण, कर्ता, कारयिता एवं अनुमोदनकर्ता नहीं; किन्तु आत्मा ज्ञानस्वरूप है हूँ ऐसा ज्ञान करना और परज्ञेय स्वतंत्र हैं हूँ ऐसा जानना ही सम्यग्ज्ञान और धर्म है। ●

जैसे आहार लिये बिना नहीं चलता, वैसे ही सदा शास्त्र-स्वाध्याय होना चाहिये। स्वाध्याय तो आत्मा का आहार है। इसलिये उसका रटन रहना चाहिये, उसका व्यसन लगना चाहिये।

हूँ द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२१०

### प्रवचनसार गाथा १६१

अब, शरीर, वाणी और मन का परद्रव्यपना निश्चित करते हैं ह  
देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग ति णिद्धिटा ।

पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥१६१॥  
( हरिगीत )

देह मन वच सभी पुद्गल द्रव्यमय जिनवर कहे ।

ये सभी जड़ स्कन्ध तो परमाणुओं के पिण्ड हैं ॥१६१॥

अन्वयार्थ :ह [ देहः च मनः वाणी ] देह, मन और वाणी  
[ पद्गलद्रव्यात्मकाः ] पुद्गलद्रव्यात्मक [ इति निर्दिष्टाः ] हैं, ऐसा  
( वीतराग देव ने ) कहा है [ अपि पुनः ] और [ पुद्गलद्रव्यं ] वे  
पुद्गलद्रव्य [ परमाणुद्रव्याणां पिण्डः ] परमाणु द्रव्यों का पिण्ड है ।

टीका :ह शरीर, वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं; क्योंकि वे  
पुद्गलद्रव्यात्मक हैं । उनके पुद्गलद्रव्यपना है; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य  
के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व में निश्चित ( रहे हुए ) हैं । उसप्रकार का  
पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणु द्रव्यों का एक पिण्ड पर्यायरूप से परिणाम है;  
क्योंकि अनेक परमाणु द्रव्यों के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक होने  
पर भी कथंचित् (स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत बंधपरिणाम की अपेक्षा से)  
एकत्वरूप अवभासित होते हैं ।

### गाथा १६१ पर प्रवचन

शरीर, वाणी व मन परवस्तु हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य की अवस्थाएँ  
हैं । उनमें पुद्गलद्रव्यपना अर्थात् स्पर्श, रस, वर्णादिपना है । प्रत्येक  
परमाणु स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व में रहता है । शरीर की चलनेरूप  
अवस्था वाणी की अवस्था नहीं होती । शरीरादि का स्वरूप-अस्तित्व  
स्वयं के कारण है, आत्मा के कारण नहीं है । शरीरादि पुद्गलद्रव्य अनेक  
परमाणुओं का पिण्डरूप होकर एक पर्यायरूप दिखाई देता है ।

परमाणु के स्कंध दो प्रकार के हैं । जो परमाणु की बंधरूप अवस्था  
होने में जीव को निमित्तरूप हैं, उनको प्रायोगिक कहते हैं, जैसे शरीर और  
जो परमाणु की बंधरूप अवस्था होने में जीव को निमित्तरूप नहीं हैं,  
उनको वैस्रसिक कहते हैं, जैसे बादल । जीव ने परमाणु की बंधरूप  
अवस्था की, उसमें जीव निमित्त था तो शरीर उत्पन्न हुआ ह्व ऐसा प्रायोगिक  
का अर्थ नहीं; क्योंकि बन्धरूप अवस्था तो पुद्गल के कारण स्वयं हुई  
है; किन्तु उस समय साथ में जीव का निमित्तपना बताकर प्रायोगिक  
कहा है ।

शरीर, मन, वाणी के परमाणुओं के स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व  
जुदे-जुदे हैं; फिर भी रुखापने और चिकनेपने के कारण बंधरूप होने से वे  
एकपने भासते हैं; किन्तु आत्मा के कारण तो उनकी स्कंधरूप अवस्था  
होती ही नहीं है । जब एक परमाणु की अवस्था दूसरे पुद्गल परमाणु के  
कारण नहीं होती; तो फिर आत्मा के कारण शरीर इत्यादि की अवस्था  
होती है ह्व ऐसा मानना अज्ञान है । तात्पर्य यह है कि रुखेपन और चिकनेपन  
के कारण अनेक परमाणु साथ होकर व्यवहार से एकपने भासते हैं; किन्तु  
आत्मा के कारण व्यवहार से भी वे साथ नहीं होते । ●

ज्ञान में ऐसा निश्चित तो कर! वस्तु का स्वरूप ऐसा है  
उसका ज्ञान में निर्णय को अवकाश तो दे भाई! अरे, मरकर कहाँ  
जाना है! प्रत्येक योनि में अनन्त भव बिताये; अब पर से लक्ष  
हटाकर आत्मा में डुबकी लगा! अपने घर में प्रवेश कर!

यह सब शुभ विकल्प होते हैं, परन्तु वह तेरे घर की वस्तु  
नहीं है, भगवान! तू तो शरीर की पीड़ा और राग की पीड़ा-दोनों  
से भिन्न है । उस शरीर के रोग की तुझे जो अरुचि है, वह तो द्वेष  
है ह्व वह एक भी वस्तु तेरे घर में नहीं है ।

ह्व द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२०५

### प्रवचनसार गाथा १६२

अब आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं ह

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।

तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्य देहस्य ॥१६२॥

( हरिगीत )

मैं नहीं पुद्गलमयी मैंने ना बनाया हूँ इन्हें ।

मैं तन नहीं हूँ इसलिए ही देह का कर्ता नहीं ॥१६२॥

अन्वयार्थ :ह [ अहं पुद्गलमयः न ] मैं पुद्गलमय नहीं हूँ और [ ते पुद्गलाः ] वे पुद्गल [ मया ] मेरे द्वारा [ पिण्डं न कृताः ] पिण्डरूप नहीं किये गये हैं, [ तस्मात् हि ] इसलिये [ अहं न देहः ] मैं देह नहीं हूँ, [ वा ] तथा [ तस्य देहस्य कर्ता ] उस देह का कर्ता नहीं हूँ ।

टीका :ह प्रथम तो, जो यह प्रकरण से निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य है, जिसके भीतर वाणी और मन का समावेश हो जाता है, वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि अपुद्गलमय ऐसा मैं पुद्गलात्मक शरीररूप होने में विरोध है । और इसीप्रकार उस (शरीर) के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ता के प्रयोजक द्वारा या कर्ता के अनुमोदक द्वारा शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं अनेक परमाणु द्रव्यों के एकपिण्डपर्यायरूप परिणामात्मक शरीर का कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है ।

### गाथा १६२ पर प्रवचन

इस अधिकार में विशेष बात यह है कि यहाँ निश्चित हो गया है कि यह शरीर पुद्गलद्रव्य है, भाषा निकलती है, वह जड़ है और मन हृदय के भाग में सूक्ष्म आठ पंखुड़ी के कमल के आकार में रहता है, वह भी जड़ है । यहाँ शरीर में मन और वाणी दोनों समा जाते हैं । शरीर पुद्गलद्रव्य है,

१. शरीर अनेक परमाणु द्रव्यों का एकपिण्ड पर्यायरूप परिणाम है ।

वह मैं नहीं हूँ । मैं तो ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कारण कि मैं आत्मा अपुद्गलमय अर्थात् शरीर के बिना हूँ । इससे मेरा स्वरूप शरीरपने होने में विरोध है ।

१. आत्मा ज्ञानस्वरूपी चेतन है और शरीर ज्ञान बिना अचेतन है ।

२. आत्मा अमूर्त हूँ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित है और शरीर मूर्त-स्पर्श-रसवाला है ।

३. आत्मा अखण्ड एकरूप है और शरीर पूरण व गलनरूप होने से खण्ड-खण्ड वाला है ।

इसकारण आत्मा का शरीरपने होने में विरोध है ।

आत्मा को शरीर के कर्तापना होने में सर्वथा विरोध है, व्यवहार से भी आत्मा शरीर का कर्ता नहीं है । शरीर की अवस्था का कर्ता शरीर है । शरीर का कर्ता, करण, प्रयोजक अथवा अनुमोदक मैं नहीं हूँ; क्योंकि अनेक परमाणुओं में स्वयं ही पिण्डरूप होने की योग्यता होने से वे पिण्डरूप होते हैं । वाणी के परमाणु स्वयं पिण्डरूप होकर शब्दरूप परिणामते हैं । नामकर्म की ९३ प्रकृतियों में बंधन और संघात नाम की प्रकृतियाँ हैं, उनका निमित्त पाकर शरीर के परमाणु छिद्ररहित एकता को प्राप्त कर एकजुट हो जाते हैं । आत्मा शरीर को एकजुट नहीं करता; क्योंकि कर्म जड़ है ।

शरीर अनेक परमाणुओं की एक पिण्डरूप अवस्था है और उसके कर्ता वे परमाणु ही हैं, आत्मा उनका कर्ता नहीं है । “आत्मा को शरीर के कर्तापने होने में सर्वथा विरोध है”, यहाँ सर्वथा के ऊपर खास वजन है । आत्मा व्यवहार से कथंचित् शरीर का कर्ता है हूँ ऐसा भी नहीं कहा । अज्ञानी दलील करता है कि कथंचित् कहना तो स्याद्वाद है । लेकिन उसका यह कथन खोटा है । किसी अपेक्षा से कर्ता कहने में भी मिथ्या-एकांत ही होता है । आत्मा निश्चय से तथा व्यवहार से भी शरीर का कर्ता नहीं; इसलिए सर्वथा कहने पर ही उसमें अनेकान्त घटित होगा ।

आत्मा शरीर में हो तो भी शरीर की अवस्था शरीर के कारण होती

है। आत्मा हो अथवा न भी हो तो शरीर की अवस्था जैसी होने योग्य हो, वैसी ही होती है। शरीर तीनों काल अचेतन ही है, उसका आत्मा के साथ संबंध नहीं है। यद्यपि आत्मा शुभभाव करता है; फिर भी शुभभाव के कारण हाथ जोड़ने की क्रिया नहीं होती। हित-मित वचन बोलने का भाव करता है; फिर भी उसके भाव के कारण वाणी नहीं निकलती। शरीर, वाणी इत्यादि की अवस्था का कर्त्ता आत्मा है ही नहीं। शरीर का कर्त्तापना होने में आत्मा को सर्वथा विरोध है।

**प्रश्न :** शरीर को चुटकी भरने से दुःख तो होता ही है न ?

**उत्तर :** शरीर तो पुद्गल है, इसलिए उसको दुःख हो ही नहीं सकता। आत्मा शरीर में कुछ भी नहीं करता; क्योंकि आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव आत्मा में हैं और शरीर के द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव शरीर में हैं। जब शरीर का एक परमाणु भी दूसरे परमाणु का कुछ नहीं करता तो फिर आत्मा शरीर का कुछ करता है ह्व ऐसा कहना अज्ञान है।

शरीर में ममत्वभाव दुःख का कारण है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि जब शरीर में फेरफार होता है, तभी तो आत्मा में फेरफार होता है। शरीर में रोग होता है तो मुझे दुःख होता है और जहर मिले तो महादुःख होता है, यह सब बात खोटी है।

वास्तव में शरीर के साथ एकत्वबुद्धि-ममत्वभाव दुःख का कारण है। “छूटे देहाध्यास तो नहीं करता तूं कर्म।” शरीरादि मेरा है, ऐसा खोटा अध्यास जीव जब छोड़ दे तो राग-द्वेष का कर्त्ता नहीं होता और धर्म होता है। ●

जैसे किसी छोटे बच्चे को कुत्ता काटने आये तो वह वहाँ से दूर भागकर अपने माँ-बाप के पास दौड़ जाता है और उनसे लिपट पड़ता है। उसीप्रकार अपना आत्मा महान है, वह बड़ा आधार है, उसकी शरण में जा।

ह्व द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२०८

### प्रवचनसार गाथा १६३

अब इस संदेह को दूर करते हैं कि “परमाणुद्रव्यों को पिण्डपर्यायरूप परिणति कैसे होती है ?” ह्व

**अपदेशो परमाणु पदेसमेत्तो द सयमसद्दो जो ।**

**णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि ॥१६३॥**

( हरिगीत )

अप्रदेशी अणु एक प्रदेशमय अर अशब्द हैं ।

अर रूक्षता-स्निग्धता से बहुप्रदेशीरूप हैं ॥१६३॥

अन्वयार्थ :ह्व [ परमाणुः ] परमाणु [ यः अप्रदेशः ] जो कि अप्रदेश है, [ प्रदेशमात्रः ] प्रदेशमात्र है [ च ] और [ स्वयं अशब्दः ] स्वयं अशब्द है, [ स्निग्धः वा रूक्षः वा ] वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ [ द्विप्रदेशादित्वम् अनुभवति ] द्विप्रदेशादिपने का अनुभव करता है।

**टीका :**ह्व वास्तव में परमाणु द्वि-आदि (दो, तीन आदि) प्रदेशों के अभाव के कारण अप्रदेश है, एक प्रदेश के सद्भाव के कारण प्रदेशमात्र है और स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्द पर्याय की व्यक्ति का (प्रगटता का) असंभव होने से अशब्द है। (वह परमाणु) अविरोधपूर्वक चार स्पर्श, पाँच रस, दो गंध और पाँच वर्णों के सद्भाव के कारण स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है, इसीलिये उसे 'पिण्डपर्यायपरिणतिरूप द्विप्रदेशादिपने की अनुभूति होती है। इसप्रकार स्निग्धरूक्षत्व पिण्डपने का कारण है।

### गाथा १६३ पर प्रवचन

छोटे से छोटे अणु के दो, तीन इत्यादि प्रदेश नहीं होते हैं; इसलिए वह अप्रदेशी है, किन्तु उसके एक प्रदेश तो होता ही है अर्थात् वह प्रदेशमात्र है। एक परमाणु शब्दरूप नहीं होता; किन्तु अनेक परमाणु १. एक परमाणु की दूसरे एक परमाणु के साथ पिण्डरूप परिणति द्विप्रदेशीपने की अनुभूति है, एक परमाणु की अन्य दो परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणति त्रिप्रदेशीपने का अनुभव है। इसप्रकार परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणति होने पर अनेकप्रदेशीपने का अनुभव करता है।

स्कंधरूप अवस्था धारण करें तब शब्द उत्पन्न होता है। एक परमाणु में शब्द उत्पन्न करने की शक्ति नहीं; अतः परमाणु अशब्द है। उस परमाणु में आठ स्पर्श ह्व हल्का-भारी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम, ठण्डा-गरम, पाँच रस, दो गंध और पाँच वर्ण का सद्भाव होता है, उसमें चिकने अथवा रूखेपन के कारण परमाणु द्विप्रदेशादिपने से लेकर अनेकप्रदेशीपने रूप स्कंधरूप हो जाता है। एक परमाणु का दूसरे एक परमाणु के साथ स्कंधरूप में होना द्विप्रदेशीपना है तथा एक परमाणु का दूसरे दो परमाणु के साथ स्कंधरूप में होना, वह त्रिप्रदेशीपना है।

इसप्रकार एक परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणमता हुआ अनेकप्रदेशीपने रूप होता है। इससे सिद्ध होता है कि पुद्गलों की स्कंधरूप अवस्था का कारण यह रूखा और चिकनापन ही है।

आत्मा पुद्गल की स्कंधरूप अवस्था का कारण नहीं। शरीर, मन व वाणी पुद्गल के स्कंध हैं। वह स्कंधरूप अवस्था उनके रूखे व चिकने गुण के कारण हुई है, आत्मा के कारण नहीं। कर्म के स्कंध की अवस्था उसके चिकने व रूखेपन के कारण है। आत्मा ने कर्म को बांधा नहीं, कर्म शरीर को स्कंधरूप करके लाता नहीं। एक परमाणु दूसरे परमाणु के स्कंधरूप होने में साधन नहीं; अतः आत्मा के कारण परमाणु की अवस्था होती है ह्व ऐसा मानना मिथ्याभ्रान्ति है। परपदार्थ को आत्मा ग्रहण नहीं करता तथा छोड़ता भी नहीं। ईश्वर को कर्ता मानने वाला जीव कहता है कि ईश्वर पुद्गलों के स्कंधों को बनाता है; और यदि जैन सम्प्रदाय में वस्तुस्वरूप नहीं समझने वाला जीव कहे कि आत्मा है तो पुद्गलों के पिण्ड बने हैं तो दोनों प्रकार के जीव भ्रान्ति में हैं, वे वस्तुस्वरूप को नहीं समझते हैं। स्कंध की एक समय की वर्तमान पर्याय भी आत्मा के कारण होती हो, तो उसकी वर्तमान पर्याय सिद्ध नहीं होती तथा पर्याय सिद्ध नहीं होने से द्रव्य का लोप मानना पड़ेगा।

शरीर, मन व वाणी की पिण्डरूप अवस्था का कारण आत्मा नहीं; किन्तु उसके रूखापन और चिकनापन गुण हैं ह्व ऐसा उन ज्ञेयों का सच्चा ज्ञान करे तो परद्रव्य के कर्तापने का अहंकार टूटे और सम्यग्ज्ञान हो। ●

### प्रवचनसार गाथा १६४

अब यह बतलाते हैं कि परमाणु के वह स्निग्ध-रूक्षत्व किसप्रकार का होता है ह्व

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।

परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥१६४॥

( हरिगीत )

परमाणु के परिणमन से इक-एक कर बढ़ते हुए।

अनंत अविभागी न हो स्निग्ध अर रूक्षत्व से ॥१६४॥

अन्वयार्थ : ह्व [ अणोः ] परमाणु के [ परिणामात् ] परिणमन के कारण [ एकादि ] एक से (एक अविभाग प्रतिच्छेद से) लेकर [ एकोत्तरं ] एक-एक बढ़ते हुए [ यावत् ] जब तक [ अनन्तत्वम् अनुभवति ] अनन्तपने को (अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदपने को) प्राप्त हो तब तक [ स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं ] स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व होता है ऐसा [ भणितम् ] (जिनेन्द्रदेव ने) कहा है।

टीका : ह्व प्रथम तो परमाणु के परिणाम होता है; क्योंकि वह (परिणाम) वस्तु का स्वभाव होने से उल्लंघन नहीं किया जा सकता। और उस परिणाम के कारण जो 'कादाचित्क' विचित्रता धारण करता है ऐसा, एकसे लेकर एक-एक बढ़ते हुए अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों तक व्याप्त होनेवाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणु के होता है; क्योंकि परमाणु अनेक प्रकार के गुणोंवाला है।

भावार्थ : ह्व परमाणु परिणमनवाला है, इसलिए उसके स्निग्धत्व और रूक्षत्व एक अविभाग-प्रतिच्छेद<sup>१</sup> से लेकर अनंत अविभाग प्रतिच्छेदों तक तरतमता को प्राप्त होते हैं।

१. किसी समय हो ऐसा, क्षणिक, अनित्य। २. अनेकप्रकारता, विविधता, अनेकरूपता (चिकनापन और रूखापन परिणाम के कारण क्षणिक अनेकरूपता=तरतमता, तारतम्यता धारण करता है।) ३. किसी गुण में (अर्थात् गुण की पर्याय में) अंशकल्पना करने पर, इसका जो छोटे से छोटा (निरंश) अंश होता है, उसे उस गुण का (अर्थात् गुण की पर्याय का) अविभाग प्रतिच्छेद कहा जाता है। (बकरी से गाय के दूध में और गाय से भैंस के दूध में सचिककणता के अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं। राख में और राख से बालू में रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं।)

## गाथा १६४ पर प्रवचन

प्रथम सिद्धांत कहता है कि परमाणु का परिणमन स्वभाव है, वह वस्तु का स्वभाव है। यदि स्वभाव पर के कारण हो तो वह स्वभाव ही नहीं कहा जाता; इसलिए परिणमन स्वभाव कहते ही स्वयं की योग्यता के कारण परिणमन कर रहा है वह ऐसा समझना चाहिये। परिणमन स्वभाव के कारण स्कंधों में अनेकरूप तारतम्यता होती है, जिसमें एक गुण चिकनेपन से लेकर बढ़ते-बढ़ते अनंतगुण चिकने और ऐसे ही एक गुण रूखे से लेकर अनंतगुण रूखे पर्यंत परमाणु होते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि पहले समय में एक परमाणु चिकने और दूसरे समय में अनंतगुणे चिकने गुण वह ऐसा कैसे ?

ऐसा कोई आत्मा अथवा पर-पदार्थ के फेरफार के कारण नहीं होता। वे परमाणु स्वयं के चिकने और रूखे गुण की उस-उस समय की योग्यता के कारण वैसे परिणमन करते हैं। इसप्रकार जड़ परज्ञेय से आत्मा स्वज्ञेय को जुदा जानो, प्रतीति करो, अनुभव करो, यही धर्म है।

**भावार्थ :** वह शरीर के रजकणों को आत्मा ने इकट्ठे नहीं किये। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, शरीर जड़ है। शरीर के परमाणु चिकने और रूखेपन के कारण इकट्ठे होते हैं और बिखरते हैं। आत्मा का जड़ के ऊपर अधिकार नहीं। परमाणु का स्वयं को बदलने का स्वभाव होने से एक गुण रूखे में से अनंत गुण रूखे होते हैं, एक गुण चिकने में से अनंतगुण चिकने होते हैं। एक अविभाग प्रतिच्छेद से लेकर अनंत अविभाग प्रतिच्छेद पर्यंत तारतम्यता वाला स्वयं के परिणमन स्वभाव के कारण होता है। किसी गुण की पर्याय में अंश कल्पना करने पर उसमें जो छोटे से छोटा (निरंश) अंश पड़ता है, उसको उस गुण की पर्याय का अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। उदाहरण के लिए जैसे बकरी की अपेक्षा गाय के दूध में और गाय की अपेक्षा भैंस के दूध में चिकनेपन के अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं तथा धूल की अपेक्षा राख में और राख की अपेक्षा रेत में रूखेपन के अविभाग-प्रतिच्छेद अधिक होते हैं।

इसप्रकार स्कंधों की तारतम्यता का कारण उनके चिकने और रूखे गुण हैं वह ऐसा उन ज्ञेयों का ज्ञान करो। ●

## प्रवचनसार गाथा १६५

अब बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्व से पिण्डपना होता है वह णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।  
समदो दुराधिगा यदि बज्जन्ति हि आदिपरिहीणा ॥१६५॥

( हरिगीत )

परमाणुओं का परिणमन सम-विषम अर स्निग्ध हो।

अर रूक्ष हो तो बंध हो दो अधिक पर न जघन्य हो ॥१६५॥

अन्वयार्थ : वह [ अणुपरिणामाः ] परमाणु-परिणाम, [ स्निग्धाः वा रूक्षाः वा ] स्निग्ध हों या रूक्ष हों [ समाः वा विषमाः वा ] सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों [ यदि समतः द्वधधिकाः ] यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों तो [ बध्यन्ते हि ] बँधते हैं, [ आदिपरिहीणाः ] जघन्यांश वाले नहीं बँधते।

**टीका :** वह समान से दो गुण (अंश) अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है; क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्व की द्विगुणाधिकता का होना वह परिणामक (परिणमन करानेवाला) होने से बंध का कारण है।

यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता यह अपवाद है; क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व के परिणाम्य-परिणामकता का अभाव होने से बंध के कारणपने का अभाव है।

१. परिणाम करने योग्य (दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षतावाले परमाणु के साथ बंधकर स्कंध बनने पर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षतरूप परिणमित हो जाता है अथवा दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बंधकर स्कंध बनने पर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश स्निग्धतरूप परिणमित हो जाता है। इसलिए कम अंशवाला परमाणु परिणाम्य है और दो अधिक अंशवाला परमाणु परिणामक है। एक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु (सामान्य नियमानुसार) परिणामक तो है ही नहीं, किन्तु जघन्य भाव में वर्तित होने से परिणाम्य भी नहीं है इसप्रकार जघन्य भाव बंध का कारण नहीं है।)

## गाथा १६५ पर प्रवचन

समान से दो अधिक गुण चिकने हों तो बंध होता है, यह सामान्य नियम है; कारण कि चिकने अथवा रूखे के दो गुण अधिकपन हूँ परिणामने में निमित्त हैं। तीन अंश रूक्षत्व वाला पाँच अंशरूक्षत्व में परिणामने योग्य है, उसमें पाँच अंशवाला निमित्त है। इसप्रकार सभी में समझ लेना चाहिए।

जिस परमाणु में दो अंश अधिक हों, वह दूसरे परमाणु को दो अधिक रूप में परिणामने में निमित्त होता है। एक परमाणु के परिणाम का कर्ता दूसरा परमाणु नहीं, निमित्तमात्र है। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताया है। परमाणु एक अंश रूक्षत्व में से अनंत अंश रूक्षत्व हो जाता है और अनंत अंश रूक्षत्ववाला दूसरे समय में हीनरूप परिणामन कर एक अंशवाला भी हो जाता है हूँ यह परमाणु का स्वयं का स्वभाव है; किन्तु आत्मा पूर्णता को प्राप्त कर हीन कभी नहीं होता।

आत्मा पुद्गल पिण्ड की अवस्था का कर्ता तो है ही नहीं; किन्तु निमित्त भी नहीं। केवलज्ञानी हो, छद्मस्थ हो या अज्ञानी हो, वे कोई भी पुद्गल के कर्ता नहीं हैं। केवलज्ञानी में सर्व सामर्थ्य है; किन्तु वह पुद्गल के स्कंध में कुछ भी नहीं कर सकता। जीव शूरवीरता अथवा कायरता स्वयं में कर सकता है; किन्तु रोटी, दाल, भात, शरीर व भाषा आदि की अवस्था में उसकी शूर-वीरता किसी काम नहीं आती। पुद्गल की स्कंधरूप अवस्था उसके स्निग्धत्व व रूक्षत्व के कारण होती है। दो अधिक गुण वाला परमाणु दो कम गुणवाले को परिणामने में निमित्त होता है। आत्मा स्कंध का कर्ता तो है ही नहीं; किन्तु उसमें निमित्त भी नहीं।

एक गुण स्निग्धवाला अथवा एक गुण रूक्षत्ववाला परमाणु स्कंधरूप नहीं होता; क्योंकि एक गुणवाला परमाणु स्वयं परिणामन के अयोग्य है तथा दूसरे को परिणामने में निमित्त भी नहीं। वहाँ यह समझना चाहिए कि दो गुण अधिकवाले को बंध का कारण कहा है, एक गुणवाले को बंध का कारण नहीं कहा; कारण कि वह बंध के अयोग्य है।

दस अंश स्निग्धवाला परमाणु बारह अंशवाले रूक्षत्व के साथ बंधकर स्कंध बनता है। जैसे दस अंश स्निग्धत्व वाला परमाणु बारह अंश रूक्षत्व रूप परिणाम जाता है; वैसे ही दस अंश स्निग्धत्व वाला परमाणु बारह अंश स्निग्धत्वरूप परिणाम जाता है। इसलिए कम अंशवाला परमाणु परिणाम्य है और दो अधिकवाला परमाणु परिणामक है। एक अंशवाला रूक्षत्व अथवा स्निग्धत्ववाला परमाणु परिणामक तो है ही नहीं; किन्तु जघन्यभाव में वर्तता होने से परिणाम्य भी नहीं है। इसप्रकार जघन्यभाव बंध का कारण नहीं। परिणाम्य अर्थात् परिणामने योग्य और परिणामक अर्थात् दूसरे को परिणामने में निमित्तभूत। यहाँ गुण का अर्थ त्रिकाली गुण नहीं; अपितु गुण अर्थात् अंश समझना चाहिये।

एक गुणवाला परमाणु स्वयं परिणाम्य नहीं और दूसरे को परिणामने में भी निमित्तभूत नहीं, दो गुणवाला परमाणु स्वयं परिणाम्य है (चार गुणवाले परमाणु के साथ) किन्तु दूसरों को परिणामने में निमित्तभूत नहीं। तीन गुणवाला परमाणु स्वयं परिणाम्य है (पाँच गुणवाले के साथ) किन्तु दूसरे को परिणामने में निमित्तभूत नहीं। चार गुणवाला परमाणु स्वयं छह गुणवाले परमाणु के साथ बंधने योग्य होने से परिणाम्य है और दो गुणवाले को परिणामने में निमित्तभूत होने से परिणामक हैं। इसीप्रकार सभी में समझ लेना।

इसप्रकार का ज्ञेयों का स्वभाव है। ज्ञान ज्ञेयों के स्वभाव को जानता है; किन्तु कर्ता नहीं। ऐसा सच्चा ज्ञान करे तो पर के कर्तृत्व का अहंकार मिटे और स्वयं को शांति मिले। ●

धीर होकर ज्ञान को जरा विचार में लगा; जिन्हें भूलना है, जिन्हें छोड़ना है, उन सबको भूलकर विचार कर! किसी भी समय पर को तो तुझे छोड़ना ही है, तो इसी समय उसे भूलकर तू अपने को सम्हाल।

हूँ द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९४



### प्रवचनसार गाथा १६६

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि परमाणुओं के पिण्डपने में यथोक्त (उपरोक्त) हेतु हैं :ह

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।

लुक्खेण वा तिगुणितो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥१६६॥

( हरिगीत )

दो अंश चिकने अणु चिकने-रूक्ष हों यदि चार तो ।

हो बंध अथवा तीन एवं पाँच में भी बंध हो ॥१६६॥

अन्वयार्थ :ह [ स्निग्धत्वेन द्विगुणः ] स्निग्धरूप से दो अंशवाला परमाणु [ चतुर्गुणस्निग्धेन ] चार अंशवाले स्निग्ध (अथवा रूक्ष) परमाणु के साथ [ बंधं अनुभवति ] बंध का अनुभव करता है । [ वा ] अथवा [ रूक्षेण त्रिगुणितः अणुः ] रूक्षरूपसे तीन अंशवाला परमाणु [ पंचगुणयुक्तः ] पाँच अंशवाले के साथ युक्त होता हुआ [ बध्यते ] बंधता है ।

टीका :ह यथोक्त हेतु से ही परमाणुओं के पिण्डपना होता है ऐसा निश्चित करना चाहिये; क्योंकि दो और चार गुणवाले तथा तीन और पाँच गुणवाले दो स्निग्ध परमाणुओं के अथवा दो रूक्ष परमाणुओं के अथवा दो स्निग्ध-रूक्ष परमाणुओं के (-एक स्निग्ध और एक रूक्ष परमाणु के) बंध को प्रसिद्धि है । कहा भी है कि :ह

“णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला ।

णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥”

“णद्धस्स णिद्धेण दुराहिण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिण ।

णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विससेसमेवा ॥”

अर्थ :ह पुद्गल ‘रूपी’ और ‘अरूपी’ होते हैं । उनमें से स्निग्ध

पुद्गल स्निग्ध के साथ बंधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्ष के साथ बंधते हैं, स्निग्ध और रूक्ष भी बंधते हैं ।

जघन्य के अतिरिक्त सम अंशवाला हो या विषम अंशवाला हो, स्निग्ध का दो अधिक अंशवाले स्निग्ध परमाणु के साथ, रूक्ष का दो अधिक अंशवाले रूक्ष परमाणु के साथ और स्निग्ध का (दो अधिक अंशवाले) रूक्ष परमाणु के साथ बंध होता है ।

भावार्थ :ह दो अंशों से लेकर अनन्त अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु उससे दो अधिक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाले परमाणु के साथ बंधकर स्कंध बनता है । जैसे-जैसे अंश स्निग्धतावाला परमाणु ४ अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बंधता है, ९१ अंश स्निग्धतावाला परमाणु ९३ अंश रूक्षता वाले परमाणु के साथ बंधता है । ५३३ अंश रूक्षतावाला परमाणु ५३५ अंश रूक्षतावाले परमाणु के साथ बंधता है । ७००६ अंश रूक्षतावाला परमाणु ७००८ अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बंधता है ह इन उदाहरणों के अनुसार दो से लेकर अनन्त अंशों (अविभागी प्रतिच्छेदों) तक समझ लेना चाहिए ।

मात्र एक अंशवाले परमाणु में जघन्यभाव के कारण बंध की योग्यता नहीं है, इसलिए एक अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु तीन अंशवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु के साथ भी नहीं बंधता ।

इसप्रकार (एक अंशवाले के अतिरिक्त) दो परमाणुओं के बीच यदि दो अंशों का अंतर हो तब ही वे बंधते हैं; दो से अधिक या कम अंशों का अन्तर हो तो बंध नहीं होता । जैसे ह पाँच अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु सात अंशोंवाले परमाणु के साथ बंधता है, परन्तु पाँच अंशोंवाला परमाणु आठ या छह अंशोंवाले (अथवा पाँच अंशोंवाले) परमाणु के साथ नहीं बंधता ।

स्निग्धतावाले परमाणु को पाँच अंश रूक्षतावाला दूसरा परमाणु ‘रूपी’ है और शेष सब परमाणु उसके लिए ‘अरूपी’ हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि विसदृशजाति के समान अंशवाले परमाणु परस्पर ‘रूपी’ हैं और सदृशजाति के अथवा असमान अंशवाले परमाणु परस्पर ‘अरूपी’ हैं ।

१. किसी एक परमाणु की अपेक्षा से विसदृशजाति का समान अंशोंवाला दूसरा परमाणु ‘रूपी’ कहलाता है और शेष सब परमाणु उसकी अपेक्षा से ‘अरूपी’ कहलाते हैं । जैसे ह पाँच अंश

## गाथा १६६ पर प्रवचन

## ‘रूपी’ ‘अरूपी’ की स्पष्टता हू

किसी एक परमाणु की अपेक्षा विशुद्ध जाति का (रूखे की अपेक्षा चिकना और चिकने की अपेक्षा रूखा विसदृश जाति कहलाता है) समान अंश वाला दूसरा परमाणु ‘रूपी’ कहलाता है और बाकी के सब परमाणु उसकी अपेक्षा ‘अरूपी’ कहलाते हैं। जैसे कि पाँच अंश चिकने परमाणु के लिए पाँच अंश रूखा दूसरा परमाणु रूपी है और बाकी के सब परमाणु उसके लिए ‘अरूपी’ हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि विसदृश जाति के समान अंशवाले परमाणु परस्पर ‘रूपी’ हैं; सदृश जाति के अथवा असमान अंशवाले परमाणु परस्पर अरूपी हैं। (यहाँ आत्मा अरूपी है, स्पर्श-रस-गंध-वर्णरहित है, ऐसा अरूपी का अर्थ नहीं लेना।)

## अरूपी हू

१. रूखेपन वाले परमाणु के लिए दूसरे सभी रूखेपन वाले परमाणु अरूपी हैं।

२. चिकनेपन वाले परमाणु के लिए दूसरे सभी चिकनेपन वाले परमाणु अरूपी हैं।

३. रूखेपन के और चिकनेपन के असमान अंशवाले परमाणु हों वे भी आपस में सब अरूपी हैं। जैसे कि रूखापन ५ अंश और चिकनापन ६ अंश इत्यादि।

४. मात्र रूखेपन और चिकनेपन के समान अंश वाले परमाणु रूपी हैं। जैसे कि ४ अंश रूखेपन वाले के लिये ४ अंश चिकनेपन वाला।

जघन्य एक अंशवाले परमाणु को छोड़कर दो अंशवाला हो या तीन अंशवाला हो, उसमें दो अधिक अंशवाला परमाणु रूखा, रूखा के साथ चिकना चिकने के साथ और चिकना रूखा के साथ परस्पर पिंडरूप होता है।

**भावार्थ हू** दो अंश से लेकर अनंत अंश चिकनेपन अथवा रूखेपन वाला परमाणु उससे दो अंश अधिक चिकनेपन या रूखेपन वाले परमाणु

के साथ बंधकर स्कंध बनता है। जैसे कि दो अंश चिकनेपन वाला परमाणु चार अंश चिकनेपन वाले के साथ, ११ अंश चिकनेपन वाला ९३ अंश रूखेपन वाले के साथ, ५३३ अंश रूखेपन वाला ५३५ अंश रूखेपन वाले के साथ, ७००६ अंश रूखेपन वाला ७००८ अंश चिकनेपन वाले के साथ बंधता है। इस दृष्टान्तानुसार दो से लेकर अनंत अंशों तक समझना।

## जघन्यभाव बंध का कारण नहीं हू

मात्र एक अंशवाले परमाणु में जघन्यभाव होने के कारण स्कंधरूप होने की योग्यता नहीं है; अतः एक अंशवाला चिकना या रूखा परमाणु तीन अंशवाले चिकने या रूखे परमाणु के साथ नहीं बंधता।

उसीप्रकार आत्मा में समकित, मोहनीय, क्रोध, मान, माया, लोभ के अंश स्वयं के बंध के कारण नहीं होते अर्थात् उनके निमित्त से उस-उस प्रकृति का नया बंध (द्रव्यबंध) नहीं होता। जैसे कि दसवें गुणस्थान का लोभ, लोभ प्रकृति के बंध में निमित्त नहीं है।

एक अंशवाले को छोड़कर दो परमाणुओं के बीच में दो अंश का अंतर हो तो ही वे बंधते हैं। दो से अधिक या कम अंश का अंतर हो तो बंध नहीं होता। जैसे कि पाँच अंशवाला सात अंश वाले के साथ बंधता है; पर आठ अंशवाले या छः अंशवाले के साथ नहीं बंधता।

## पिण्डों का ज्ञान करने का प्रयोजन तथा फल हू

नाम लिखने की अवस्था, घर-बर्तन साफ रहने की अवस्था, कर्मों की आने-जाने की अवस्था, शरीर, मन, वाणी के परमाणु की अवस्था इत्यादि सब अवस्थाएँ उस-उस परमाणु के रूखेपन या चिकनेपन के कारण बंधरूप या मुक्त होने रूप होती हैं। जीव का उसमें बिल्कुल अधिकार नहीं है; अतः पर के कर्तृत्व का अहंकार छोड़कर, परज्ञेयों/स्कंधों का जैसा स्वरूप है, वैसा जानकर अपने आत्मा में समा जाना और ज्ञाता दृष्टा होकर रहना ही इस चर्चा का प्रयोजन है तथा यही शांति और धर्म का कारण है।

### प्रवचनसार गाथा १६७

अब, आत्मा के पुद्गलों के पिण्ड के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं :ह

**दुपदेसादी खंधा सुहमा वा बादरा ससंठाणा ।**

**पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥१६७॥**

( हरिगीत )

यदि बहुप्रदेशी कंध सूक्ष्म-थूल हों संस्थान में ।

तो भूजलादि रूप हों वे स्वयं के परिणमन से ॥१६७॥

अन्वयार्थ :ह [ द्विप्रदेशादयः स्कंधाः ] द्विप्रदेशादिक (दो से लेकर अनन्तप्रदेश वाले) स्कंध [ सूक्ष्माः वा बादराः ] जो कि सूक्ष्म अथवा बादर होते हैं और [ ससंस्थानाः ] संस्थानों (आकारों) सहित होते हैं वे ह [ पृथिवीजलतेजोवायवः ] पृथ्वी, जल, तेज और वायुरूप [ स्वकपरिणामैः जायन्ते ] अपने परिणामों से होते हैं ।

टीका :ह इस (पूर्वोक्त) प्रकार से यह उत्पन्न होने वाले द्विप्रदेशादिक स्कंध-जिनने विशिष्ट अवगाहन की शक्ति के वश सूक्ष्मता और स्थूलतारूप भेद ग्रहण किये हैं और जिनने विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के वश होकर विचित्र संस्थान ग्रहण किये हैं वे ह अपनी योग्यतानुसार 'स्पर्शादिकचतुष्क के आविर्भाव और तिरोभाव की स्वशक्ति के वश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अपने परिणामों से ही होते हैं । इससे निश्चित होता है कि द्वि-अणुकादि अनन्तानन्त पुद्गलों का पिण्डकर्ता आत्मा नहीं है ।

### गाथा १६७ पर प्रवचन

जैसे पानी उमड़ता है तो बारिस स्वयं के ही कारण से होती है, वे पुद्गल स्वयं के परिणामस्वभाव के कारण ही परिणमन करते हैं तथा अनंत परमाणु सम्मिलित होकर बादर शरीररूप परिणमते हैं । बादलों का

१. स्पर्शादिकचतुष्क ह स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ।

भिन्न-भिन्न आकार होता है, पृथ्वी के टुकड़े होते हैं, फव्वारे फटते हैं इत्यादि सभी अवस्थाएँ उनके रूखेपन-चिकनेपन के कारण होती हैं, कोई अज्ञानी जीव उन्हें परिणमाता नहीं है । आत्मा था इसलिए परिणमन हुआ, यह बात पूर्णरूप से खोटी है । पृथ्वी, तेज आदि को ईश्वर ने नहीं बनाया । अज्ञानी जीव स्वयं ही मिथ्या अहंकार करके संसार में भटकता है । इसलिए स्कंधों का सच्चा ज्ञान कर आत्मा को उनका अकर्ता मानना ही शांति का कारण है ।

**स्कंधों का कारण रूखापन-चिकनापन ह**

शरीर, मन, वाणी, कर्म सब जड़ पदार्थ हैं, ज्ञान में जानने योग्य हैं । उनकी अवस्था का सम्मिलित होना या बिखरना रूखेपन-चिकनेपन के कारण होता है । परमाणु में जब दो अंश अधिक हों तब उनका बन्ध होता है । आत्मा उस अवस्था को नहीं कर सकता । अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि "मैं हूँ तो यह जड़ की अवस्था होती है; कलम से लिखा जाता है" यह उसकी उल्टी मान्यता है । वास्तव में पुद्गल की अवस्था जीव नहीं कर सकता वह तो उसके रूखेपन-चिकनेपन के कारण स्कंधरूप स्वयं होती है ।

**स्कंधों की विशिष्ट अवगाहन शक्ति ह**

स्कंध स्वयं की विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण सूक्ष्म और स्थूल रूप होता है । शरीर, लकड़ी आदि स्थूल स्कंध हैं और भाषा वर्गणा कार्मणवर्गणा आदि सूक्ष्म स्कंध हैं ।

१. स्थूल परमाणु की और सूक्ष्मपरमाणु की जाति भिन्न-भिन्न नहीं है । सब परमाणु एक ही जाति के हैं । उनमें से कोई सूक्ष्मरूप व कोई स्थूलरूप परिणमता है ।

२. स्थूल स्कंध में बहुत परमाणु और सूक्ष्म स्कंध में कम हूँ ऐसा स्थूल-सूक्ष्म का भेद नहीं है; क्योंकि कितनी ही बार सूक्ष्मस्कंधों में बहुत परमाणु होते हैं और स्थूल में कम होते हैं । सूक्ष्मरूप या स्थूलरूप व्याप्त

होकर रहना तो परमाणु की अवगाहन शक्ति के कारण होता है, कम-अधिक परमाणु के साथ इसका संबंध नहीं है।

३. सूक्ष्म स्कंधों में जो रूखापन-चिकनापन होता है, जब बढ़ जाता है, तब स्थूल स्कंध होता हो ह्व ऐसा भी नहीं है। स्कंध सूक्ष्म हो या स्थूल हो, पर रूखापन-चिकनापन दो अंश अधिक हो तो बंध होता है ह्व यह नियम सदाकाल एक जैसा रहता है। स्थूल-सूक्ष्म का भेद विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण पड़ता है।

४. इसीप्रकार स्थूल स्कंधों में आत्मा निमित्त होता है ह्व ऐसा कोई कहे तो वह बात भी उचित नहीं है। बहुत स्थूल अथवा सूक्ष्म स्कंधों का परिणमन स्वतंत्ररूप से ही हुआ करता है। जहाँ आत्मा निमित्तरूप से भी नहीं होता, उन्हें कोई नहीं परिणमाता वे स्वयं ही स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप परिणमते हैं।

५. स्कंधों में स्वयं में खास अवगाहन विशिष्ट शक्ति है, इसी कारण से सूक्ष्म और स्थूलरूप धारण करते हैं। आत्मा उनका कर्ता-हर्ता है ही नहीं। आत्मा है तो शरीरादि की, लकड़ी की या मकान आदि की स्थूल अवस्था होती है, यह बात पूर्णतया मिथ्या है। स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी स्कंध का कर्ता, हर्ता या प्रेरक आत्मा है ही नहीं।

#### स्कंधों की विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति ह्व

वे स्कंध स्वयं की विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के कारण विचित्र आकार धारण करते हैं। उस आकार होने में आत्मा कारण नहीं है। मिट्टी के पिण्ड में से घड़े का आकार होता है, वह मिट्टी के कारण ही होता है; कुम्हार के कारण नहीं। आटे में से रोटी का आकार होता है, वह बेलन तथा बाई के कारण नहीं होता। सब्जी के टुकड़े छुरि के कारण नहीं हुए, इच्छा के कारण भी नहीं हुए। पत्थर में कमल का आकार बना, वह कारीगर के कारण नहीं बना। इत्यादि दृष्टांत से समझ लेना चाहिए। परमाणुओं में विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के कारण ही वे आकार धारण कर रहे हैं। आत्मा उनका कर्ता-हर्ता है ही नहीं।

#### अज्ञानी का भ्रम ह्व

अज्ञानी जीव को ज्ञेय स्वभाव की खबर नहीं है; इसलिये वह ऐसा मानता है कि 'मैं हूँ, तो पुद्गल के जुदा आकार होते हैं'। 'किसी ईश्वर ने भिन्न-भिन्न आकार बनाये हैं' ऐसा मानना तो स्थूल भूल है; परन्तु निमित्त आए तो आकार बदलता है और निमित्त न आए तो आकार नहीं बदलता ह्व ऐसा मानना भी बहुत बड़ी भूल है।

#### समय-समय की पर्याय शक्ति ह्व

यहाँ त्रिकालशक्ति की बात नहीं की, समय-समय की पर्याय शक्ति की बात की है। तत् समय की योग्यतानुसार परमाणु आकार धारण करते हैं। दस परमाणु हों और दस प्रदेशों में रहें तथा अनंत परमाणु का स्कंध हों और एक प्रदेश में रहे ह्व ऐसा आकार वे स्वयं धारण करते हैं। ऐसा ज्ञेय के समय-समय के आकार का पर्याय स्वभाव जाने तो पर का कर्तृत्व भाव टलकर शांति होती है।

#### पृथ्वी जल आदि भिन्न-भिन्न जाति के परमाणु नहीं ह्व

वे स्कंध अपनी योग्यतानुसार स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की प्रकटता और अप्रकटता की शक्ति से ही पृथ्वी, जल, तेज व वायुरूप होते हैं। यहाँ पाठ में योग्यता शब्द है; वह परमाणुओं की लायकात (योग्यता) बताता है। कोई जीव अथवा दूसरा पदार्थ जलादि स्कंधों का कारण नहीं।

तथा कितने ही लोग मानते हैं कि पृथ्वी के परमाणु पृथ्वीरूप ही रहते हैं, पानी के परमाणु पानीरूप ही रहते हैं, तेज के परमाणु तेजरूप ही रहते हैं, वायु के परमाणु वायुरूप ही रहते हैं; पर वह मान्यता भूल से भरी है। उनमें स्पर्शादिक का प्रकट होना या न होना तो स्कंधों की योग्यता के कारण होता है; क्योंकि पानी में गंध व्यक्त नहीं दिखती और पृथ्वी में गंध व्यक्त दिखती है। इस प्रकार स्कंधों में स्पर्शादि की व्यक्तता या अव्यक्तता पुद्गल की शक्ति है और उसके कारण पृथ्वी, जल आदिरूप स्कंध होते हैं; परन्तु परमाणु के भिन्न-भिन्न प्रकार नहीं हैं।

वस्तु के स्वभाव से देखना ही धर्म का कारण हैं ह

इसप्रकार निश्चित होता है कि दो परमाणुओं के स्कंध से लेकर अनंतानंत परमाणुओं के स्कंध तक सभी स्वयं के कारण परिणम रहे हैं, उनका कर्त्ता आत्मा नहीं है। अज्ञानी जीव मानता है कि मैं हूँ तो पुद्गलों की अवस्था होती है; परन्तु यह उसका भ्रम है। संयोगी दृष्टिवाला जीव हमेशा स्व तथा पर-दोनों को संयोग दृष्टि से देखता है; परन्तु यह आत्मा पर के संयोग रहित, निमित्त और विकार से भी रहित है, जो जीव अपने आत्मा को ऐसे ज्ञातादृष्टा स्वभाव से देखता है, वह पर पदार्थों को भी उनके स्वभाव से देखता है। इस प्रकार स्कंधों की भिन्न-भिन्न अवस्था का कर्त्ता-हर्त्ता या व्यवस्थापक आत्मा नहीं है; अपितु जड़ स्कंध स्वयं ही स्वयं के व्यवस्थापक और कर्त्ता-हर्त्ता हैं ह ऐसा स्कंधों का, ज्ञेयों का ज्ञान करना ही धर्म का कारण है। ●

जैसे मिट्टी के कोरे बर्तन में पानी की बूँदें छिड़कने से वह पानी को सोख लेता है, पानी नहीं दिखता; परन्तु अधिक पानी छिड़कने से पानी बाहर दिखने लगता है, वैसे ही परमात्म तत्त्व की बात सुनते-सुनते “मैं ज्ञायक हूँ ज्ञायक हूँ” ह ऐसे दृढ़ संस्कार अन्दर में डाले तो मिथ्यात्व भाव का रस मन्द पड़ता जाता है। अभी मिथ्यात्व की भूमिका है; परन्तु मिथ्यात्व भाव के अभाव होने का रस पड़ने लगता है। भव्य-अभव्य सभी को शुभभाव से मिथ्यात्व का रस अनन्त बार मन्द हुआ है; परन्तु अब ज्ञायक के संस्कार से मिथ्यात्व का अभाव होने के संस्कार पड़ें और फिर एकदम स्वभाव का आश्रय लेवे तो स्वानुभव होने पर मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है।

ह दृष्टि का निधान, पृष्ठ-८

### प्रवचनसार गाथा १६८

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि (जिसप्रकार आत्मा पुद्गलपिण्ड का करने वाला नहीं उसी प्रकार) आत्मा पुद्गलपिण्ड का लानेवाला (भी) नहीं है :ह

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।

सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥१६८॥

( हरिगीत )

भरा है यह लोक सूक्ष्म-थूल योग्य-अयोग्य जो ।

कर्मत्व के वे पौद्गलिक उन खंध के संयोग से ॥१६८॥

अन्वयार्थ :ह [ लोक : ] लोक [ सर्वत : ] सर्वत : [ सूक्ष्मै : बादरै : ] सूक्ष्म तथा बादर [ च ] और [ अप्रायोग्यै : योग्यै : ] कर्मत्व के अयोग्य तथा कर्मत्व के योग्य [पुद्गलकायै : ] पुद्गलस्कंधों के द्वारा [ अवगाढ-गाढनिचित : ] (विशिष्ट प्रकार से) अवगाहित होकर गाढ़ (-घनिष्ठ) भरा हुआ है ।

टीका :ह सूक्ष्मतया परिणत तथा बादररूप परिणत, अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल न होनेसे कर्मरूप परिणत होने की शक्तिवाले तथा अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्ति से रहित ह ऐसे पुद्गल कार्यों के द्वारा, अवगाहन की विशिष्टता के कारण परस्पर बाधा किये बिना, स्वयमेव सर्वतः (सर्व प्रदेशों से) लोकगाढ़ भरा हुआ है। इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डों को लानेवाला आत्मा नहीं है ।

भावार्थ :ह इस लोक में सर्वत्र जीव हैं और कर्मबंध के योग्य पुद्गलवर्गणा भी सर्वत्र है। जीव के जैसे परिणाम होते हैं उसी प्रकार जीव को कर्मबंध होता है। ऐसा नहीं है कि आत्मा किसी बाहर के स्थान से कर्मयोग्य पुद्गल लाकर बंध करता है ।

गाथा १६८ पर प्रवचन

यह लोक सूक्ष्म और बादर स्कंधों से भरा हुआ है, उनमें कितने ही

कर्म होने लायक हैं तथा कितने ही कर्म होने लायक नहीं हैं। जीव राग-द्वेष करके कर्म को लाता है, ऐसा नहीं है। यह लोक उन पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है।

### कर्म की योग्यता वाले परमाणु ह्व

कर्म होने योग्य परमाणु अतिसूक्ष्म नहीं होते; क्योंकि कर्म अनंत परमाणुओं का जत्था है। एक परमाणु से लेकर असंख्य परमाणु तक कर्मरूप होने लायक नहीं है। अनंत परमाणु मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं। इसीप्रकार से अतिस्थूलरूप परमाणु भी कर्मरूप नहीं परिणमते। जैसे कर्म के परमाणु अति सूक्ष्म नहीं होते वैसे ही अति स्थूल भी नहीं होते।

### कर्म के अयोग्य परमाणु ह्व

अतिसूक्ष्म अथवा अतिस्थूल परमाणु कर्मरूप नहीं परिणमते।

जब जीव सिद्धदशा पाता है, तब परमाणु में कर्मरूप होने की योग्यता नहीं होती है तथा संसारीदशा हो तब तक परमाणु में कर्मत्वरूप परिणमने की योग्यता होती है ह्व ऐसा नहीं है। कर्मरूप परिणमना अथवा नहीं परिणमना तो परमाणुओं की योग्यता है। यह परमाणु की समय-समय की योग्यता की बात है। उन परमाणुओं का सूक्ष्म कार्मणरूप स्थूल उनकी योग्यता से होता है। उसमें जीव का जरा भी अधिकार नहीं है।

### परमाणु की विशेष अवगाहन शक्ति ह्व

सूक्ष्म स्कंध और स्थूल स्कंध एक दूसरे को बाधा पहुँचाए बिना अवगाहन शक्ति के कारण रहते हैं। जिस क्षेत्र में अतिस्थूल स्कंध रहते हैं उसी क्षेत्र में अतिसूक्ष्म स्कंध भी रहते हैं तथा जहाँ अतिसूक्ष्म परमाणु होते हैं वहीं अति स्थूल भी रहते हैं, वे एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचाते। आकाश तो सभी द्रव्यों को अवगाहन देता है; परन्तु परमाणु में विशिष्ट अवगाहन शक्ति है, जिसके कारण वे एक जगह में रहते हैं। जैसे समुद्र पानी से लबालब भरा होता है, वैसे ही यह लोक तेजस, कार्मण वगैरह पुद्गल वर्गणाओं से सभी प्रदेशों में प्रगाढ़ रूप से भरा है। वहाँ कोई किसी को बाधा नहीं पहुँचाता।

### आत्मा पुद्गलपिंडों को लाने वाला नहीं ह्व

जैसे मकान बनाने के लिए गाँव के बाहर से लकड़ी लानी पड़ती है वैसे ही आत्मा राग-द्वेष करे तब कर्म के लकड़े बाहर से लाने पड़ते हैं ह्व ऐसा नहीं है। जीव जितनी मात्रा में रागद्वेष करे, उतनी मात्रा में कर्म के योग्य, उतने परमाणु अपने कारण से परिणमते हैं। आत्मा उन परमाणुओं को बाहर से नहीं लाता।

शंका ह्व यहाँ कोई कहे कि आत्मसिद्धि में कहा गया है कि 'जीव वीर्य नी स्फुरणा ग्रहण करे जड़ धूप' अर्थात् जीव (उल्टा विपरीत) वीर्य स्फुरित करे, तब जड़ परमाणु को ग्रहण करता है। उसका क्या आशय है? उसी प्रकार से कषाय के कारण स्थिति तथा अनुभाग बंध होता है और योग के कारण प्रकृति तथा प्रदेश बंध होता है, उसका क्या आशय है?

समाधान ह्व भाई ! वह सब निमित्त के कथन हैं। आत्मा का कोई भाव अथवा कंपन जड़ परमाणु को नहीं खींचता। सूक्ष्म कर्म को या स्थूल परमाणु को आत्मा ग्रहण करे या लाए यह बात उचित नहीं है। जड़ परमाणु अपने कारण से बंधते हैं, तब जीव के भाव किस प्रकार के होते हैं वैसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराया है। आत्मा पुद्गल पिण्डों को लाने वाला नहीं है।

इस लोक में सभी जगह जीव हैं। जहाँ सिद्ध जीव हैं वहाँ निगोद दशा के जीव भी हैं और सातवें नरक में भी निगोददशा के जीव हैं, बादर-बादर के स्थान में हैं और कर्म होने की योग्यता वाले पुद्गल भी सब ....। जीव जिस प्रकार के परिणाम करता है, उस प्रकार के जड़ कर्म का एक क्षेत्रावगाह बंध होता है ह्व ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; किन्तु इसका अर्थ आत्मा जड़कर्म को बाहर से खींचकर लाता है ह्व ऐसा नहीं है। इसप्रकार पुद्गल स्कंधों को आत्मा नहीं ला सकता; इसलिए ज्ञेयों का यथार्थ ज्ञान करना ही धर्म का कारण है।

### प्रवचनसार गाथा १६९

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं करता ह

**कमत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।**

**गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥१६९॥**

( हरिगीत )

स्कन्ध जो कर्मत्व के हों योग्य वे जिय परिणति ।

पाकर करम में परिणमें न परिणमावे जिय उन्हें ॥१६९॥

अन्वयार्थ : ह [ कर्मत्वप्रायोग्याः स्कंधाः ] कर्मत्व के योग्य स्कंध [ जीवस्यपरिणतिं प्राप्य ] जीव की परिणति को प्राप्त करके [ कर्मभावं गच्छन्ति ] कर्मभाव को प्राप्त होते हैं; [ न हि ते जीवेण परिणमिताः ] जीव उनको नहीं परिणमाता ।

**टीका :** ह कर्मरूप परिणमित होने की शक्तिवाले पुद्गलस्कंध, तुल्य (समान) क्षेत्रावगाह जीव के परिणाम मात्र का ह जो कि बहिरंग साधन (बाह्यकारण) है उसका आश्रय करके, जीव उनको परिणमाने वाला न होने पर भी, स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित होते हैं । इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है ।

**भावार्थ :** ह समान क्षेत्र में रहनेवाले जीव के विकारी परिणाम को निमित्त मात्र करके कार्मणवर्गणायें स्वयमेव अपनी अन्तरंग शक्ति से ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हो जाती हैं; जीव उन्हें कर्मरूप परिणमित नहीं करता ।

### गाथा १६९ पर प्रवचन

आत्मा पुद्गल स्कंधों को कर्मरूप से करने वाला नहीं है ह

इस आत्मा से शरीर, कर्म आदि भिन्न चीजें हैं, उनका समय-समय का परिणामन जड़ के कारण होता है । जड़ की पर्याय में जो विविधता होती है, वह आत्मपरिणाम की विविधता के कारण नहीं होती; जड़ के

स्वकाल में ऐसी विविधता होती है । कर्म होने की योग्यतावाले स्कंध जीव के एकक्षेत्र में रहते हैं, पर 'जीव के रागद्वेष कंपन वगैरह हैं; इसलिए कर्म को परिणामना पड़ता है' कर्म ऐसा पराधीन नहीं है । जीव और पुद्गल तो त्रिकाल भिन्न हैं; परन्तु पुद्गल परमाणु का परिणामन भी सत् है ह यहाँ यह बताना है । यदि जीव के राग के कारण से परमाणु का वर्तमान सत् हो तो वर्तमान सत् ही नहीं रहेगा; और एक समय सत् न हो तो त्रिकाल सत् अर्थात् द्रव्य नहीं रहता, वस्तु के नाश का प्रसंग आता है; परन्तु ऐसा कभी नहीं होता ।

जीव के विकारी परिणाम तथा पुद्गल के कर्मरूप परिणाम का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है ह परमाणुओं में से रूखेपन-चिकनेपन के कारण से पिण्ड बनता है । कर्मरूप परिणामने की योग्यता वाले पुद्गल स्कंध जीव के साथ एक क्षेत्रावगाही होते हैं । वे जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणामते हैं । उन स्कंधों का ज्ञानावरणादिप्रकृतिरूप परिणामना अन्तरंग साधन है और जीव के परिणाममात्र बाह्य साधन हैं । "परिणाम मात्र का आश्रय करके स्कंध कर्मरूप परिणामते हैं" ऐसा पाठ है, वहाँ जीव के विकारी परिणाम का और द्रव्यकर्म का एकसमय का निमित्त नैमित्तिक संबंध बताना है । निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहते ही दोनों की पृथकता सिद्ध हो जाती है । अतः 'राग हुआ इसलिए कर्म हुए और राग नहीं हो तो कर्म भी नहीं होते' ह यह प्रश्न ही नहीं रहता । राग पहले हुआ और फिर दूसरे समय में कर्म बंधे ह ऐसा पहले बाद का भी प्रश्न नहीं है । दोनों का स्वतंत्र परिणामन एक ही समय में है, कालभेद नहीं है । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं परिणमाता ।

**भावार्थ :** ह एक क्षेत्र में रहने वाले जीव के विकारी परिणाम को निमित्त मात्र बनाकर कर्म के योग्य पुद्गल अपनी अंतरंग शक्ति से ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणाम जाते हैं । जीव उनको परिणमाता नहीं है ।



### प्रवचनसार गाथा १७०

अब आत्मा के कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं ह

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो जीवस्स ।

संजायंते देहा देहंतरसंकर्म पप्पा ॥१७०॥

( हरिगीत )

कर्मत्वगत जड़पिण्ड पुद्गल देह से देहान्तर ।

को प्राप्त करके देह बनते पुन-पुनः वे जीव की ॥१७०॥

अन्वयार्थ :ह [ कर्मत्वगताः ] कर्मरूप परिणत [ ते ते ] वे-वे [ पुद्गलकायाः ] पुद्गलपिण्ड [ देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ] देहान्तररूप परिवर्तन को प्राप्त करके [ पुनः अपि ] पुनः-पुनः [ जीवस्य ] जीव के [ देहाः ] शरीर [ संजायन्ते ] होते हैं ।

टीका :ह जिस जीव के परिणाम को निमित्तमात्र करके जो-जो यह पुद्गलकाय स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे जीव अनादि संततिरूप (प्रवाहरूप) प्रवर्तमान देहान्तर (भवांतर) रूप परिवर्तन का आश्रय लेकर वे-वे पुद्गलपिण्ड स्वयमेव शरीर (शरीर रूप, शरीर के होने में निमित्त रूप) बनते हैं । इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्गल द्रव्यात्मक शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है ।

भावार्थ :ह जीव के परिणाम को निमित्तमात्र करके जो पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे पुद्गल ही अन्य भव में शरीर के बनने में निमित्तभूत होते हैं, और नोकर्मपुद्गल स्वयमेव शरीररूप परिणमित होते हैं । इसलिये शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है ।

#### गाथा १७० पर प्रवचन

शरीर, मन, वाणी का कारण कर्म है ह

जीव के परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गल स्कंध स्वयं ही आठ कर्मरूप से परिणमते हैं । कर्म में एक परमाणु नहीं होता, परन्तु बहुत

परमाणु होते हैं, इसलिए पुद्गलकाय कहा है । संसारी जीव अलग-अलग भव में अलग-अलग शरीर धारण करता है । उदय के बाद के समय में कर्म परमाणु औदारिकरूप से परिणम कर शरीर का आश्रय करते हैं तो उसमें कर्म निमित्त होता है । यहाँ मुख्यता से शरीर की बात की है, उसमें मन, वाणी के परमाणु भी साथ ले लेना चाहिए । अतः जो परमाणु मनरूप अथवा वाणीरूप परिणमते हैं उसमें भी कर्म निमित्तरूप होता है ।

आत्मा शरीर, मन, वाणी का कर्ता अथवा कारण नहीं ह परमाणु शरीररूप, वाणीरूप या मनरूप परिणमते हैं उसमें कोई परमाणु कर्मरूप था, वह शरीर मन-वाणीरूप होता है अथवा नए परमाणु उसरूप होते हैं । उसमें कर्म निमित्त होते हैं पर आत्मा उसका कर्ता नहीं है । आत्मा था तो शरीर चला, आत्मा था तो वाणी बोली गई इत्यादि बातें मिथ्या हैं । जीव के विकार तथा कंपन है तो शरीर, मन, वाणी होती है ह यह बात भी बराबर नहीं है । जीव के अस्तित्व से शरीर का अस्तित्व अलग है । यहाँ तो शरीर मन, वाणी आदि नोकर्म के कारणरूप से कर्म पुद्गल ही लिए हैं, पर आत्मा को निमित्त रूप से भी नहीं कहा । अतः आत्मा उनका कर्ता नहीं है ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि शास्त्र में व्यवहार भाषा समिति की व्याख्या आती है कि जीवों को हितमित वचन बोलना चाहिए । दूसरा जीव उससे भी कटुवचन नहीं बोलता परन्तु प्रिय तथा इष्ट वचन बोलना चाहिए । भगवान की तो इच्छा बिना ही वाणी निकलती है परंतु छद्मस्थ की तो इच्छा है, अतः वह तो स्वयं को अच्छी लगे वैसी वाणी निकाल सकता है और प्रिय वचन बोल सकता है । यदि छद्मस्थ जीव इच्छा के अनुसार वाणी नहीं बोल सकता तो 'ऐसे हितमित वचन बोलना चाहिए' इत्यादि शास्त्र में क्यों लिखा है?

समाधान :ह भाई, वाणी तो जड़ है । वाणी इच्छारहित जीव की हो या इच्छावाले की हो, पर नियम तो एक ही है । केवली की वाणी के लिए एक नियम और संसारी की वाणी के लिए दूसरा नियम नहीं हो सकता ।



जैसे दिव्यध्वनि अपने कारण से परिणमती है वैसे ही संसारी जीव की भाषा के पुद्गल भी अपने स्वयं के परिणमन के स्वकाल में वाणीरूप होकर निकलते हैं। परन्तु दूसरों का आदर करना चाहिए। मृदुता से बोलना चाहिए और तिरस्कार से नहीं बोलना चाहिए ह्व इसमें जीव के भाव बताने का हेतु है, पर उस भाव से भाषा होती है ह्व ऐसा कहने का हेतु नहीं है। अनंतवीर्यवाले तीर्थंकर भगवान भी भाषा की पर्याय नहीं कर सकते हैं तो फिर उनसे अनंतवें भाग जिसका वीर्य है ऐसा संसारी जीव भाषा की पर्याय को कर सके ह्व यह अशक्य है।

सच्ची पंडिताई कैसे प्रकटती है ह्व मूर्ख जीव विचार किए बिना बोले; परन्तु पंडितों को विचक्षणता से बोलना चाहिए, उसी प्रकार से समझदार मनुष्यों को घर की बात बाहर नहीं निकालनी ह्व ऐसा शास्त्र में आता है। यह सब निमित्त के कथन है। वाणी वाणी के कारण से निकलती है तब जीव के भाव कैसे रहते हैं ह्व उनका ज्ञान कराने के लिए निमित्त का कथन है। वाणी का कर्ता या मौन रहने का कर्ता ज्ञानी है ही नहीं। और उसे विचारकर बोलने के या कोमलता के शुभभाव की भी मुख्यता नहीं है, उस वक्त भी 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसी स्वभावदृष्टि की ही मुख्यता वर्तती है। उस द्रव्यदृष्टि के आधार से सच्ची पण्डिताई प्रकटती है।

जीव क्रमबद्ध राग को नहीं बदल सकता तो शरीर को कैसे बदल सकता है ह्व शास्त्र में लिखा है कि देखकर चलना चाहिए, उसका अर्थ यह है कि चलते समय स्वयं में प्रमाद भाव न होने दें। पैर ऊँचा-नीचा करने की ताकत जीव में नहीं है। उस-उस वक्त की पर्याय का कारण वह-वह पुद्गल हैं और भाव कैसा करना वह जीव के हाथ की बात है ह्व ऐसा समझना चाहिए। शरीर की पर्याय को कौन कर सकता है? स्वयं तुझमें रागद्वेष हो रहे हैं, वह भी क्रमबद्ध हो रहे हैं; उसे बदलने का सामर्थ्य द्रव्यस्वभाव में नहीं है। वस्तुस्वभाव की दृष्टि करने से अभेद होने से राग दूर जरूर होता है, पर राग दूर करने की दृष्टि से राग दूर नहीं होता। तो फिर

शरीर या वाणी को मैं बदल दूँ ह्व यह तो अज्ञानभाव ही है। ज्ञानी विकल्प के समय भेद करे तो आत्मा कर्ता और निर्मल पर्याय उसका कार्य है, ऐसा भेद कर सकता है; परंतु अभेदनिर्विकल्पदशा में तो आत्मा कर्ता और निर्मलपर्याय उसका कर्म ह्व ऐसा भेद भी नहीं होता; तो फिर आत्मा कर्ता और शरीर-मन-वाणी उसके कर्म ह्व ऐसा कहना तो स्थूल अज्ञान है।

ज्ञेयों के यथार्थ ज्ञान का फल : ह्व ज्ञेयों का फेरफार उनके कारण से होता है। आत्मा के रागद्वेष से उनमें फेरफार माने तो ज्ञान मलिन होता है।

### शान्ति प्रकट की जा सकती है।

चाहे जैसे संयोगों में भी आत्मा अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। इसमें जगत का कोई बाह्य पदार्थ विघ्न नहीं कर सकता। चाहे जैसे कठिन प्रसंग आयें ..... पुत्र मर जाये, पुत्री विधवा हो जाये ... जंगल में अकेला पड़ जाए... केन्सर आदि कठिन रोग हो जायें ... क्षुधा तृषा की कठिन वेदना हो या शेर-बाघ मारकर खाने के लिए आए हों, तो भी ऐसे संयोगों का लक्ष्य छोड़कर आत्मा अन्तर में अपनी शान्ति प्रगट करने में समर्थ है। बाह्य प्रतिकूलता अन्दर की आत्मशान्ति को नहीं रोक सकती। शास्त्र कहते हैं कि नरक में ऐसी भयंकर पीड़ा है कि एक क्षण की पीड़ा का वर्णन करोड़ों जीवों से करोड़ों वर्ष तक नहीं किया जा सकता, तो वहाँ भी आत्मा उन संयोगों का और पीड़ा का लक्ष्य छोड़ दे तो आत्मा अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। भाई! तेरा तत्त्व हाजरा (सदा विद्यमान) है, उसका लक्ष करके अपनी शान्ति प्रगट की जा सकती है।

ह्व दृष्टि का निधान, पृष्ठ-५८

## प्रवचनसार गाथा १७१

अब, आत्मा के शरीरपने का अभाव निश्चित करते हैं :ह  
ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ ।  
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥१७१॥

( हरिगीत )

यह देह औदारिक तथा हो वैक्रियक या कार्मण ।

तेजस अहारक पाँच जो वे सभी पुद्गलद्रव्यमय ॥१७१॥

अन्वयार्थ :ह [ औदारिकः च देहः ] औदारिक शरीर, [ वैक्रियिकः देहः ] वैक्रियिक शरीर, [ तैजसः ] तैजस शरीर, [ आहारकः ] आहारक शरीर [ च ] और [ कार्मणः ] कार्मण शरीर - [ सर्वे ] सब [ पुद्गलद्रव्यात्मकाः ] पुद्गलद्रव्यात्मक हैं ।

टीका :ह औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये शरीर सब पुद्गलद्रव्यात्मक हैं । इससे निश्चित होता है कि आत्मा शरीर नहीं है ।

## गाथा १७१ पर प्रवचन

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में कहा है कि मनुष्य तथा तिर्यच का औदारिक शरीर होता है, नारकी तथा देव का वैक्रियिक शरीर होता है तथा किन्हीं मुनिराज का आहारक शरीर होता है, किन्तु तैजस व कार्मण शरीर तो सभी संसारी जीवों का ही होता है । यहाँ कहते हैं कि जीव को शरीर होता ही नहीं, शरीर तो पुद्गल परमाणु का बना हुआ है । सिद्धान्त प्रवेशिका में संसारी दशा में शरीर के संयोग का ज्ञान कराया है, किन्तु शरीर आत्मा का है, यहाँ ऐसा कहने का आशय नहीं है । पाँच शरीर पुद्गल परमाणुओं से बने हैं । रूखे-चिकनेपन के कारण पुद्गल स्कंध बने हैं, अवगाहना के कारण स्थूल सूक्ष्म बने हैं, आकार के कारण भिन्न-भिन्न संस्थान होता है । कर्म की योग्यता के कारण स्कंध कर्मरूप होते हैं और कर्म का निमित्त पाकर जुदे-जुदे शरीर होते हैं । आत्मा उनका कर्ता नहीं, इसलिए आत्मा शरीर नहीं हूँ ऐसा निश्चित होता है ।

●

## प्रवचनसार गाथा १७२

तब फिर जीव का शरीरादि सर्वपरद्रव्यों से विभाग का साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है? सो कहते हैं :ह

अरसमरूवमगंधं अब्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।

जाण अलिंगग्रहणं जीवमणिद्धिसंठाणं ॥१७२॥

( हरिगीत )

चैतन्य गुणमय आत्मा अव्यक्त अरस अरूप है ।

जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥१७२॥

अन्वयार्थ :ह [ जीवम् ] जीव को [ अरसम् ] अरस, [ अरूपम् ] अरूप [ अगंधम् ] अगंध, [ अव्यक्तम् ] अव्यक्त, [ चेतनागुणम् ] चेतनागुणयुक्त, [ अशब्दम् ] अशब्द, [ अलिंगग्रहणम् ] अलिंगग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य) और [ अनिर्दिष्ट-संस्थानम् ] जिसका कोई संस्थान नहीं कहा गया है ऐसा [ जानीहि ] जानो ।

टीका :ह आत्मा (१) रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (२) रूपगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (३) गंधगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (४) स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (५) शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से तथा (६) इन सबके कारण (अर्थात् रस-रूप-गंध इत्यादि के अभावरूप स्वभाव के कारण) लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से और (७) सर्व संस्थानों के अभावरूप स्वभाववाला होने से, आत्मा को पुद्गलद्रव्य से विभाग का साधनभूत (१) अरसपना, (२) अरूपपना, (३) अगंधपना, (४) अव्यक्तपना, (५) अशब्दपना (६) अलिंगग्राह्यपना और (७) असंस्थानपना है । पुद्गल तथा अपुद्गल ऐसे समस्त अजीव द्रव्यों से विभाग का साधन तो चेतनागुणमयपना है; और वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ, आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (भेद) सिद्ध करता है ।

जहाँ 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहाँ जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करने के लिये है। वह इसप्रकार है : (१) ग्राहक (ज्ञायक) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (२) ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (३) जैसे धुँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसीप्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (४) दूसरों के द्वारा - मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (५) जिनके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमाता मात्र (केवल अनुमान करनेवाला हो) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (६) जिसके लिंग के द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (७) जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (८) जो लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा जो कहीं से नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञानवाला है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (९) जिसे लिंग का अर्थात् उपयोगनामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता) सो

अलिंग ग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१०) जिसे लिंग में अर्थात् उपयोगनामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (११) लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१२) जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१३) लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होनेवाला) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१४) लिंग का अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के लौकिकसाधनमात्र नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१५) लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला - लोकव्याप्तिवाला नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१६) जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (१७) लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (१८) लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होने वाला ऐसा शुद्ध द्रव्य

है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१९) लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पर्याय विशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (२०) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

### गाथा १७२ पर प्रवचन

**परद्रव्यों से विभाग का साधनभूत जीव का असाधारण स्वलक्षण हू**

जीव में रस नहीं है, गंध नहीं है, स्पर्श गुण की व्यक्तता नहीं है। वह चेतनगुणमय है। आत्मा शब्द नहीं बोलता है, उसीप्रकार वह शब्द का कारण भी नहीं है, लिंग से ग्रहण होने योग्य नहीं है और पर के आकार से रहित है, ऐसा तुम जानो। यहाँ आचार्य भगवान आदेश करते हैं कि तू तेरे आत्मा को ऐसा जान।

**(१) आत्मा में अरसपना है हू**

आत्मा में रस नहीं है; क्योंकि उसका स्वभाव रस गुण के अभावरूप है।

**(२) आत्मा में अरूपीपना है हू**

आत्मा में रूप नहीं है; क्योंकि उसका स्वभाव रूप गुण के अभावरूप है।

**आत्मा में रूपित्व का उपचार करने का कारण हू**

**प्रश्न :** आत्मा में रूपित्व नहीं होने पर भी वह रूपी है अथवा मूर्त है, ऐसा व्यवहारशास्त्र में कथन आता है, उसका क्या स्पष्टीकरण है?

**उत्तर :** आत्मा निश्चय से तो अरूपी है, परन्तु कर्म के संयोग की अपेक्षा से व्यवहार से रूपी कहा है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह यथार्थ में रूपी हो जाता हो। शास्त्र में अनेक अपेक्षाओं से कथन आता है। जीव स्वयं विकार करता है, तब जड़कर्म निमित्तरूप होते हैं, उस

रूपी कर्म के संयोग की अपेक्षा से आत्मा में रूपित्व का उपचार किया जाता है। विकारी परिणाम की जीव की योग्यता और उस योग्यता के निमित्तरूपी कर्म का एक क्षेत्र में रहने जितना संबंध बिलकुल ही नहीं होता तो रूपित्व का उपचार भी नहीं हो सकता था।

जिसप्रकार सिद्धदशा में विकार की योग्यता भी नहीं है और निमित्तरूप कर्म भी नहीं है; अतः सिद्धदशा में रूपित्व का उपचार भी नहीं होता है; परन्तु संसारदशा में विकार की योग्यता है, वह रूपी कर्मों के निमित्त बिना नहीं हो सकती है। जीव कर्म के निमित्त बिना का हो तो सिद्ध हो जाय। विकार अशुद्ध पारिणामिक भाव है। जीव स्वयं स्वभाव के आश्रय से च्युत होकर कर्म का आश्रय करता है और विकार करता है; परन्तु कर्म विकार नहीं कराता है; क्योंकि आत्मा तथा कर्म में अत्यंत अभाव है।

जड़कर्म को तो ज्ञान भी नहीं है कि मेरा आश्रय करके जीव विकार करता है। जीव विकार करता है, वह तो जीव की भूल है; परन्तु वह जीव का त्रिकाली स्वरूप नहीं है। रूपी के लक्ष बिना विकार नहीं होता है। जीव की ऐसी योग्यता है और रूपी कर्म का संयोग निमित्त है; अतः रूपित्व का उपचार किया गया है।

**(३) आत्मा में अगंधपना है हू**

आत्मा में गंध का अभाव है। सुगंध-दुर्गंध आत्मा में नहीं हैं।

**(४) आत्मा में अव्यक्तपना है हू**

आत्मा में स्पर्श की व्यक्तता का अभाव है। शीत से उष्ण होना, रूक्ष से चिकना होना, स्थूल से सूक्ष्म होना, हलके से भारी होना, कर्कश से नरम होना हू ये सर्व जड़ की अवस्थायें हैं। आत्मा में इस स्पर्श की व्यक्तता का अभाव है। आत्मा में इसप्रकार का कोई गुण नहीं है कि जिसके कारण स्पर्श की व्यक्तता हो। अतः आत्मा अव्यक्त है।

**(५) आत्मा में अशब्दपना है हू**

आत्मा में शब्दरूप पर्याय का अभाव है। अज्ञानी मानता है कि जिस भाषा के बोलने से जीव का हित हो, वह भाषा बोलना। कठोर बोलने से

जीव के कलुषितता हो; अतः ऐसी वाणी नहीं निकालना। परन्तु भाई! वाणी निकालना अथवा नहीं निकालना वह जीव के आधीन नहीं है। बाणी स्वतंत्र है और जीव स्वतंत्र है। वाणी से लाभ अथवा हानि नहीं है; परन्तु अज्ञानी को भय लगता है कि इसप्रकार वाणी को स्वतंत्र मानने से तो कोई भी जीव गुरु का बहुमान नहीं करेगा, कोई किसी का उपकार स्वीकार नहीं करेंगे और सब रूखे हो जायेंगे। परन्तु भाई! कोई भी जीव पर का बहुमान नहीं करता है।

धर्मी जीव अपने भाव में अपने स्वभाव का बहुमान करता है और स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकता हो, तब शुभभाव में गुरु का बहुमान आ जाता है। केवली भगवान के इच्छा बिना वाणी निकलती है और छद्मस्थ जीव इच्छापूर्वक वाणी निकाल सकता है, यह बात भी मिथ्या है; क्योंकि वाणीरूप पर्याय का सर्व जीवों में तीनों काल अत्यन्त अभाव है।

#### (६) आत्मा में अलिंगग्राह्यपना है ह

आत्मा में रूप, रस, गंध आदि का अभाव होने से आत्मा किसी भी लिंग अर्थात् चिह्न से पहिचानने योग्य नहीं है। शरीर में अमुक प्रकार के रंग से अमुक भगवान की पहिचान हो, अमुक प्रकार की वाणी हो तो मुनि पहिचाने जायें, परम औदारिक शरीर हो तो केवली भगवान पहिचाने जायें, दिव्यध्वनि हो तो तीर्थंकर भगवान पहिचाने जा सकें।

प्रश्न : क्या इन चिन्हों से जीव पहिचान जाता है?

उत्तर : नहीं, ये सर्व चिह्न तो जड़ के हैं। इनसे आत्मा पहिचान में नहीं आता है। अपने चैतन्यगुण से प्रत्येक आत्मा पहिचाना जाता है। जो स्वयं को नहीं पहिचानता है, वह पर को भी नहीं पहिचानता है। जो स्वयं को पहिचानता है, वही पर को यथार्थ में पहिचान सकता है। किसी बाह्य लिंग से आत्मा नहीं पहिचाना जाता है।

#### (७) आत्मा में असंस्थानपना है ह

शरीर के भिन्न-भिन्न संस्थानों से अर्थात् आकारों से आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता है। आत्मा का स्वभाव जड़ के सर्व आकारों से रहित है।

इसप्रकार आत्मा को पुद्गल से भिन्न करने का साधन (१) अरसपना (२) अरूपपना (३) अगंधपना (४) अव्यक्तपना (५) अशब्दपना (६) अलिंगग्राह्यपना और (७) असंस्थानपना को कहा गया है।

#### जीव को अजीव से भिन्न करने का साधन ह चेतनामयत्व ह

पुद्गल से आत्मा को भिन्न करने का साधन कहा। अब पुद्गल तथा अपुद्गल अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह इन चार अजीव द्रव्यों से आत्मा को भिन्न करने का साधन-चेतनागुणमयत्व कहते हैं। पुद्गल तथा अन्य अजीव से भिन्न करने का साधन विकार, काम, क्रोध इत्यादि को नहीं कहा है। चेतना गुण है और चेतन गुणी है। आत्मा जानने-देखने के स्वभाव से अभेद है और उस साधन के द्वारा उसे सर्व अजीव से भिन्न करना धर्म है।

#### जीव को अन्य जीवों से भिन्न करने का साधन स्वद्रव्याश्रित चेतनामयत्व ह

आत्मा को सर्वप्रथम पुद्गलों से भिन्न किया। पश्चात् अन्य अजीवों से भिन्न किया। अब अन्य जीवों से भिन्न करते हैं। अपना चेतनागुण अपने आत्मा के आश्रय से है, अन्य आत्मा के आश्रय नहीं है। वह स्वयं का चेतना गुण स्वयं को अनंत केवली, सिद्ध, अनंत निगोद इत्यादि अनंत जीवों से भिन्न करता है, क्योंकि स्वयं का चेतना गुण स्वयं का स्वलक्षण है। उसको सदा स्वयं धारण कर रखता है। साधकदशा में धर्म की साधना के लिये चेतना गुण प्रयुक्त होता है।

प्रश्न : इसमें दया पालना कहाँ आया?

उत्तर : अपने चेतनागुण से स्वजीव का निर्णय करना ही स्वदया है। जीव पर की दया पालन नहीं कर सकता है। पर से भिन्न कहा अर्थात् पर का कुछ भी कर सकता है, ऐसा रहा नहीं तथा जीव को दया-दान के लक्षणवाला नहीं कहा है, परन्तु चैतन्यमय कहा है। ऐसा कहने से ही दया-दानादि का विकार क्षणिक है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है, ऐसा निर्णय होता है। पर को तथा स्व को एक मानना, संसारमार्ग है और स्वयं

को पर से भिन्न साधना, वह मोक्षमार्ग है।

जहाँ 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहाँ जो अलिंगग्रहण कहा है, वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करने के लिये है। वह इसप्रकार है :ह

अलिंगग्रहण अर्थात् पर चिह्न द्वारा अथवा पर लिंग द्वारा जीव का अनुभव नहीं किया जा सकता है, किसी चिह्न से अथवा निमित्त से आत्मा का पता लग सकता नहीं।

'अलिंगग्राह्य' ऐसा कहना है, वहाँ जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह अनेक अर्थों की प्राप्ति के हेतु है। अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने के लिये 'अलिंगग्रहण' शब्द वाचक है और उस शब्द द्वारा कहने योग्य भाव वह वाच्य है। उस भाव को जानकर आत्मा को लिंग से भिन्न करना और निर्णय करना धर्म है।

### पहला बोल

ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा इन्द्रिय द्वारा नहीं जानता है ह**

आत्मा स्व तथा पर को इन्द्रियों से नहीं जानता है। स्व-पर दोनों ज्ञेय हैं। स्व-पर ज्ञेयों के ज्ञाता ऐसे आत्मा को इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है। यहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान की प्रसिद्धि है।

“चाबी देने से घड़ी चलती है, आत्मा है तो शरीर चलता है, अग्नि थी तो पानी गर्म हुआ, पेट्रोल था मोटर चली, स्त्री थी तो रोटी बनी, हाथ था तो लकड़ी ऊँची हुई, इसप्रकार प्रत्यक्ष इन्द्रियों से दिखाई देता है” ह अज्ञानी इसप्रकार तर्क करता है।

परन्तु यह मान्यता भूल भरी है, अज्ञानी जीव, इन्द्रियों की आड़ सहित संयोगों को देखता है। ज्ञान संयोग का नहीं है, ज्ञान इन्द्रिय का नहीं

है, परन्तु ज्ञान आत्मा का है ह ऐसा नहीं मानकर, इन्द्रियों से ज्ञान होता है, ऐसा जो मानता है वह संयोग को देखता है। आत्मा का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। पर को भी इन्द्रियों से जानना, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। स्व को तो इन्द्रियों से नहीं जानता है और परपदार्थों का भी आँख, कान, नाक आदि पाँच इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है।

**स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव, स्वयं से है; इन्द्रियों से नहीं ह**

प्रश्न : आँख से मोतिया उतरवाना कि नहीं? मोतिया उतरवाते हैं तो दिखता है और नहीं उतरवाते हैं तो नहीं दिखता।

उत्तर : भाई, मोतिया उतरवाने के पहले या पीछे आँख से नहीं दिखाई देता है। आत्मा में ज्ञान है, इन्द्रियों में ज्ञान नहीं है। मोतिया उतरवाने से पहले भी अपने ज्ञान के उघाड़ की योग्यता अनुसार जानता है और पीछे भी अपनी योग्यता अनुसार जानता है।

स्वयं का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव क्या इन्द्रियों के कारण है? परप्रकाशकस्वभाव क्या इन्द्रियों के कारण है? नहीं, ज्ञानस्वभाव इन्द्रियों का नहीं है, इन्द्रियों के कारण नहीं है। स्व और पर दोनों को जानने का स्वयं का स्वभाव है, उसे चूककर (उससे च्युत होकर) अज्ञानी जीव इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है ह ऐसा मानता है, वह भ्रम है।

**ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति रूप 'नाक' (प्रतिष्ठा) बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता ह**

बाजार में कोई भी ग्राहक माल लेने जाये तो माल लेने के लिए उसके पास नगद रुपया अथवा 'नाक' अर्थात् 'प्रतिष्ठा' होनी चाहिये। नगद रुपयों से माल मिलता है और रुपया न हो तो 'नाक' (प्रतिष्ठा) से माल मिलता है। परन्तु इनमें से एक भी न हो तो भिखारी को माल नहीं मिलता है। उसीप्रकार यह आत्मा ग्राहक है उसे माल लेना है अर्थात् ग्रहण करने का ह जानने का कार्य करना है। यदि उसके पास केवलज्ञानरूपी नगद रुपया हो तो सबको प्रत्यक्ष जान लेता है। यदि वह न हो तो अल्पज्ञ अवस्था में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिरूप प्रतिष्ठा हो तो वह जानने का कार्य यथार्थ कर सकता है; परन्तु जिसके पास केवलज्ञानरूपी

नगद रुपया नहीं है और अखण्ड ज्ञायक की प्रतीति रूप प्रतिष्ठा नहीं है, उस जीव को भिखारी की भाँति ज्ञेय का ज्ञान यथार्थ नहीं होता है।

(१) अज्ञानी जीव 'इन्द्रियों से ज्ञान होता है'; ऐसा मानते हैं, वह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि जड़ इन्द्रियों का आत्मा में अत्यन्त अभाव है। अतः इन्द्रियाँ आत्मा को किंचित् भी सहायता नहीं कर सकती हैं।

(२) इन्द्रियों में ज्ञानस्वभाव का अभाव है। जिसमें ज्ञान स्वभाव ही नहीं है, वे ज्ञान किसप्रकार करें? अर्थात् करते ही नहीं हैं।

अतः ग्राहक अर्थात् ग्रहण करनेवाला ज्ञाता जिसप्रकार है, उसे उसीप्रकार यथार्थ जानना चाहिये। यह ज्ञेय अधिकार है। स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा पर के द्रव्य-गुण-पर्याय में से किसी एक को भी आत्मा इन्द्रियों से नहीं जानता है; परन्तु अपने ज्ञान से जानता है; ऐसा निर्णय करें उसका ज्ञान सम्यक् होता है।

**अज्ञानी वर्तमान पर्याय का ज्ञान संयोग से करता है ह**

ज्ञायकस्वभाव का भान नहीं होने के कारण अज्ञानी भ्रांति का सेवन करता है और मानता है कि इस हाथ से लकड़ी ऊपर उठी, आँख से प्रत्यक्ष दिखाई दिया, शब्द से ज्ञान हुआ, दुकान पर मैं था तो रुपया आया हूँ ऐसा संयोग से देखता है। अपने ज्ञान की पर्याय इन्द्रियों से होती है, इसप्रकार माननेवाला जीव परपदार्थों की पर्याय को भी संयोग से देखता है; वह आत्मा नहीं कहलाता है। अज्ञानी जीव भले ही यह मानता हो कि मुझे ज्ञान, इन्द्रियों से होता है; परन्तु वास्तव में तो उसे भी ज्ञान तो आत्मा से ही होता है; परन्तु वह उसप्रकार नहीं मानता है, अतः उसको चैतन्य का अवलंबन नहीं है। इसप्रकार जो जीव स्व की पर्याय को स्वतंत्र नहीं मानता है, उसे परपदार्थों की पर्यायें स्वतंत्र देखने की शक्ति विकसित नहीं होती है।

अज्ञानी उल्टी मान्यता करें तो भी वस्तु का स्वभाव परिवर्तित नहीं होता है; परन्तु वह अपनी मान्यता में दोष उत्पन्न करके दुःखी होता है।

**'वर्तमान पर्याय का यथार्थ ज्ञान किया' यह कब कहलाएगा?**

'स्व तथा परपदार्थों की वर्तमान अवस्था का सच्चा ज्ञान किया' यह कब कहलाएगा? जब उस-उस पदार्थ का स्वभाव जाने तो जो जीव अपना ज्ञान अपने ज्ञाता स्वभाव के आश्रय से होता है; परन्तु इन्द्रियों के तथा परपदार्थों के अवलंबन से नहीं होता, ऐसा मानता है, वह जीव परपदार्थों की पर्यायों को भी उनके द्रव्य के आश्रय से (उत्पन्न) हुई मानता है; परन्तु अन्य के आश्रय से (उत्पन्न) हुई नहीं मानता है। इसप्रकार मानकर ऐसा निर्णय करता है कि मोटर चलने के काल में अपने कारण से चलती है और रुकने के काल में अपने कारण रुकती है। पेट्रोल के साथ मोटर का संबंध नहीं है। लकड़ी अपने कारण ऊँची-नीची होती है, जीव से नहीं होती। विद्यार्थी के पढ़ने की पर्याय विद्यार्थी के कारण है, शिक्षक के कारण नहीं।

वे-वे पर्यायें अपने-अपने द्रव्य के आश्रय से होती हैं, पर्याय पर्यायवान की है, वह अन्य के कारण नहीं है। निगोद से लेकर सभी जीव अपने आत्मा से जानते हैं; परन्तु इन्द्रियों से नहीं जानते। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवों के आँखें नहीं हैं; अतः वे देख नहीं सकते हैं और चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के आँखें हैं; अतः वे देख सकते हैं; यह बात मिथ्या है।

ज्ञान का उघाड़ पर के आश्रय से नहीं है; उसीप्रकार वह पर में से नहीं आता है। वह ज्ञान की पर्याय पर्यायवान द्रव्य में से आती है। क्या आत्मा किसी भी समय अपने जानने-देखने के स्वभाव से रहित है कि वह इन्द्रियों द्वारा जाने? कभी नहीं। निगोद में भी अपना स्वभाव विद्यमान है; वहाँ भी स्वयं से जानता है। इसप्रकार पर्याय पर्यायवान की है, ऐसा निर्णय करे तो 'वर्तमान पर्याय का सच्चा ज्ञान किया' कहलाता है।

प्रश्न : यहाँ आप कहते हैं कि इन्द्रिय बिना ज्ञान होता है; परन्तु शास्त्र में उल्लेख है कि इन्द्रिय और मन के अवलंबन से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, वह अप्रमाण हो जायेगा?

उत्तर : व्यवहारनय संयोगों का ज्ञान कराता है। इन्द्रियों और मन द्वारा मतिज्ञान होता है; वह व्यवहारनय का कथन है। व्यवहार से मतिज्ञान में अनेक भेद पड़ते हैं; परन्तु निमित्त की अपेक्षा नहीं लेने पर ज्ञान एक ही है। जीव अपने आत्मा से ज्ञान करता है, तब अन्य किन वस्तुओं की उपस्थिति होती है, व्यवहारनय उनका ज्ञान कराता है। ये सभी भेद अपनी पर्याय की उस-उस की योग्यता के कारण पड़ते हैं। इन्द्रियाँ आदि बाह्य संयोगों के कारण भेद नहीं हैं; परन्तु अपने कारण भेद पड़ते हैं, तब निमित्त पर आरोप आता है।

यहाँ तो भेद का भी निषेध करते हैं। निमित्तों के आश्रय से ज्ञान होता ही नहीं है। ज्ञायक के आश्रय से ज्ञान विकसित होता है। इन्द्रियाँ तथा परवस्तु आत्मा को तीन काल में स्पर्श ही नहीं करतीं। अतः उनके द्वारा आत्मा जान ही नहीं सकता है; परन्तु अपने अस्तिरूप ज्ञानस्वभाव के द्वारा जानता है। अज्ञानी स्वयं की भ्रमणा के कारण 'संयोग से मैं जानता हूँ' ऐसा मानता है, यह मान्यता स्वभावदृष्टि का घात करती है। वह तो सभी वस्तुओं को संयोग से देखता है। ज्ञानी तो स्वयं को प्रत्यक्षज्ञान से जानता है, ऐसा निर्णय करे तो परपदार्थ को भी उसके स्वभाव से जानने का निर्णय कर सकता है।

अल्पज्ञता के समय इन्द्रियाँ, मन आदि निमित्त हैं और सर्वज्ञदशा के समय इन्द्रियाँ, मन आदि निमित्त नहीं हैं; परन्तु अल्पज्ञदशा में इन्द्रियाँ, मन निमित्त हैं; अतः उनके द्वारा जानता है, यह बात दूषित है। कोई भी जीव स्पर्शनिन्द्रिय से स्पर्श नहीं करता, कान से नहीं सुनता और मन से विचार नहीं करता; परन्तु जानने का कार्य आत्मा स्वयं से करता है। 'इन्द्रियों और मन द्वारा ज्ञान हुआ' यह संयोग बताने के लिये व्यवहारनय से कथन किया है, व्यवहारनय का ऐसा अर्थ समझना और संयोग बिना ही आत्मा ज्ञान करता है, ऐसा निश्चयनय का अर्थ समझना। नय के अर्थ शास्त्र नहीं बोलते हैं; परन्तु आत्मा अपने ज्ञान द्वारा भिन्न-भिन्न अपेक्षा समझ लेता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अप्रमाण नहीं हैं; परन्तु प्रमाण

ज्ञान हैं, इसप्रकार स्वाश्रय द्वारा यथार्थ समझना चाहिये।  
आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है ह

इस पहले बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह अ = नहीं, लिंग = इंद्रियाँ और ग्रहण = जानना। अर्थात् आत्मा को इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं होता, अतः अलिंगग्रहण है। अतः आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, ऐसे भाव की प्राप्ति होती है। अतीन्द्रिय ज्ञानमय अर्थात् इन्द्रिय और मन रहित है, ऐसा निर्णय होता है। कब? केवलज्ञान होने के बाद? नहीं। केवलज्ञानी तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय ही है; परन्तु छद्मस्थ जीव छद्मस्थदशा में भी इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता है। इसप्रकार होने पर भी 'मैं इन्द्रियों से जानता हूँ' ऐसा अज्ञानी अज्ञान के कारण मानता है, यह मान्यता संसार है। अतः जो इन्द्रियों पर से लक्ष हटाकर, ज्ञायकस्वभाव का लक्ष करे, उसे यथार्थ में अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति स्वयं में होती है।

जो स्व को जानता है, वही देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थ जानता है ह

प्रश्न : इसप्रकार स्वतंत्र मानने से एक-दूसरे की कोई सहायता नहीं लेगा, शुष्क हो जायेगा और देव-शास्त्र-गुरु को नहीं मानेगा तो?

उत्तर : भाई ! ये सब तेरी भ्रमणा है। जो यथार्थ जानता है, वही देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थ समझता है; क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु कहते हैं कि तू तेरे ज्ञायकस्वभाव से जानता है, इन्द्रियों से अथवा देव, शास्त्र, गुरु से नहीं जानता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों की स्व-पर को जानने की शक्ति स्वयं से है। इसप्रकार जो अपने ज्ञानस्वभाव को यथार्थ जानता है वही जीव पर को यथार्थ जानता है। देव-शास्त्र-गुरु आदि पदार्थों का अस्तित्व है, इसलिये पर ज्ञात होते हैं; यह बात सत्य नहीं है, परन्तु स्व आत्मा को जानने पर स्व में पर पदार्थ ज्ञात होते हैं, ऐसी सच्ची प्रतीति और ज्ञान में ही केवलज्ञान का विकास है।

देव-शास्त्र-गुरु पर हैं, उन्हें मानना यथार्थ कब कहा जाय? देव-शास्त्र-गुरु और इन्द्रियाँ पर हैं, उनसे मैं नहीं जानता हूँ, परन्तु स्वयं को जानने में पर भी जानने में आ जाता है, इसप्रकार निर्णय करे तो उस जीव



ने देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थ माना और जाना कहलाता है।

इस प्रमाण से अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होने से परावलंबन छूटकर स्वावलंबन उत्पन्न होता है और उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है।

### दूसरा बोल

ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

### आत्मा, इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है हू

अब दूसरे बोल में आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है; ऐसा कहते हैं। आत्मा इन्द्रियों से स्व तथा पर को नहीं जानता है; परन्तु स्वयं से स्व-पर दोनों को जानता है, ऐसा पहले बोल में कह आये हैं। अब इस दूसरे बोल में कहते हैं कि प्रमेय ऐसा आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है।

इस दूसरे बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है हू अ = नहीं, लिंग = मात्र इन्द्रियों से ग्रहण = जानना, आत्मा मात्र इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है अर्थात् आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से ज्ञात होने योग्य है।

(१) आत्मा, ज्ञान में ज्ञात ही नहीं होता; इसप्रकार की कुछ जीवों की मान्यता है, वह मान्यता इस (दूसरे बोल से) गलत सिद्ध होती है; क्योंकि आत्मा में भी प्रमेयत्व गुण है और प्रमेयत्व गुण न माने तो गुणी अर्थात् आत्मा के नाश का प्रसंग आता है; अतः यह मान्यता गलत है। प्रमेयत्व गुण के कारण आत्मा ज्ञान में ज्ञात होता है, ऐसा यह प्रमेय पदार्थ है।

(२) आत्मा, इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसी कुछ जीवों की मान्यता है, वह भी इससे (दूसरे बोल से) गलत सिद्ध होती है; क्योंकि आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से ज्ञात होने योग्य है; परन्तु इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है। ज्ञानस्वभाव आत्मा का है, इन्द्रियों का नहीं है।

### शास्त्र तथा वाणी से धर्म नहीं होता हू

प्रश्न : भगवान की वाणी अथवा शास्त्र न सुने वह आत्मा को किसप्रकार जान सके; क्योंकि देशनालब्धि मिले बिना तो आत्मा का ज्ञान ही नहीं होता और धर्म प्राप्त नहीं होता है न?

उत्तर : भाई! वाणी और शास्त्र तो पर हैं, जड़ हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता; उसीप्रकार कान भी जड़ हैं। इन्द्रियों से ज्ञान हो और आत्मा ज्ञात हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। वाणी तथा इन्द्रिय रहित अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से आत्मा ज्ञात होने योग्य है। तथा स्व का ज्ञान करने पर, पर ऐसे शास्त्र और वाणी उनका ज्ञान भी यथार्थ ध्यान में आता है कि पूर्वकाल में शास्त्र तथा वाणी की ओर लक्ष था। स्व-पर प्रकाशक स्वभाव विकसित होते ही पर का यथार्थ ज्ञान होता है। शास्त्र, शब्द, कान, आँख में आत्मा नहीं है तो फिर शास्त्र तथा वाणी द्वारा आत्मा कैसे ज्ञात हो? ज्ञात नहीं ही होगा। परन्तु आत्मा अपने ज्ञायकस्वभाव द्वारा ही ज्ञात हो, ऐसा है। यह बात लोगों ने सुनी ही नहीं है और उनके कानों में पड़ी भी नहीं है। अतः कठिन लगती है।

### वाणी से धर्म नहीं होता तो फिर वाणी सुनने की क्या आवश्यकता है?

प्रश्न : अभी आप ही कहते हो कि कान तथा वाणी से ज्ञान नहीं होता और कहते हो कि यह बात कानों में पहुँची ही नहीं है। तो फिर इस बात को कानों में पहुँचने और सुनने की क्या आवश्यकता है? आप तो ऐसा कहते हो कि कान तथा वाणी से तो आत्मा का ज्ञान नहीं होता है।

उत्तर : 'कानों में नहीं पड़ी है', ऐसा जो कहा है, वह निमित्त से और संयोग से कहा है, ऐसी बात सुनने को मिली ही नहीं अर्थात् उस जीव की स्वयं की ऐसी योग्यता भी नहीं है, ऐसा जानना। समय-समय की समझने की पर्याय तो सत् है। वह पर्याय कान तथा शब्द के कारण नहीं है। उसमें उतनी समझने की योग्यता ही नहीं है अर्थात् 'बात कानों में नहीं पड़ी है', ऐसा कहने में आया है। यह बात जिसके कानों में पड़े और अपने कारण से समझे तो भी वह ज्ञान खंड-खंड वाला है। उससे भी अखंड आत्मा का

लाभ नहीं है; क्योंकि अंश से अंशी का लाभ नहीं हो सकता।

**खंड-खंड अपूर्ण ज्ञान की योग्यता पर से लक्ष उठा कर अखंड परिपूर्ण आत्मा पर लक्ष करे तो आत्मा को धर्म होता है।** तो फिर जिसने खंड-खंड ज्ञानवाली योग्यता भी प्राप्त नहीं की है, जिसको निमित्तरूप से अविरोध वाणी कानों में पड़ी नहीं है अर्थात् व्यवहार से देशना लब्धि का निमित्त प्राप्त नहीं हुआ है, उसे तो धर्म कहाँ से हो? अर्थात् ऐसे जीव को कभी धर्म होगा ही नहीं, यह कहने का भाव है। ऐसा कहकर यहाँ भी उस जीव की योग्यता बतलाना है।

**आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है ह्व**

इसप्रकार आत्मा अलिंगग्रहण है। आत्मा इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है अर्थात् इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है। अतः आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी जीव मानता है कि पर बिना, शब्द बिना, कान बिना आत्मा ज्ञात नहीं होता; परन्तु उसकी मान्यता मिथ्या है। यह मान्यता ही आत्मस्वभाव से विपरीत है। पर बिना ही ज्ञान हो, ऐसा स्वभाव है। आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है; परन्तु ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, उसमें से ऐसा भाव निकलता है।

इन्द्रियों के आश्रय से आत्मा ज्ञात नहीं होता; परन्तु आत्मा के आश्रय से आत्मा ज्ञात होता है, ऐसा ध्यान आते ही इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छूट जाता है और अपने ज्ञानस्वभाव प्रत्यक्ष का श्रद्धा-ज्ञान होने पर धर्म होता है।

आत्मा ज्ञेय है और यह ज्ञान द्वारा ज्ञात होने योग्य पदार्थ है। लिंग द्वारा यह ज्ञात नहीं होता।

**पहले बोल में कहा था कि आत्मा इन्द्रियों से जाने ऐसा यह ज्ञेय पदार्थ नहीं है ह्व**

आत्मा को इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता, इस ज्ञेयपदार्थ (आत्मा) का ऐसा स्वभाव है। इस ज्ञेयत्व अधिकार में अलिंगग्रहण कहने का कारण

यह है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुणों तथा पर्यायों का पिण्ड है। यह ज्ञेय पदार्थ इन्द्रियों से कार्य करे, ऐसा उस ज्ञेय का स्वभाव नहीं है। इन्द्रिय के अवलंबन बिना स्वयं से ज्ञान करे, ऐसा उस ज्ञेय का स्वभाव है। **ज्ञेय जिसप्रकार हैं उसप्रकार ज्ञेय का स्वभाव जाने और स्वसन्मुख होकर श्रद्धा करे तो धर्म हो।** विरुद्ध जाने तो धर्म कहाँ से हो? नहीं हो। अतः आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करे, ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है।

**दूसरे बोल में कहा था कि आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है ह्व**

आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो, ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है, अंतर्मुख देखने से ज्ञात हो ऐसा है। यह ज्ञेय अधिकार है, अन्य रीति से कथन करें तो सम्यग्दर्शन अधिकार है। इन्द्रियों से ज्ञात हो, वह आत्मा नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय आत्मा है, अतः इन्द्रियों द्वारा सम्यग्दर्शन नहीं होता अर्थात् धर्म नहीं होता।

आत्मवस्तु ज्ञेय है। ज्ञेय कहो कि प्रमेय कहो ह्व दोनों एक ही हैं। जगत में जितने स्व-पर प्रमेय हैं वे किसी न किसी ज्ञान का विषय अवश्य होते हैं; क्योंकि उनमें प्रमेयत्व नाम का गुण है। आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करे तो वह प्रमाण नहीं रहता। प्रमेय को ज्ञान में ज्ञात होने योग्य कहा है; परन्तु इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं कहा। **छहों द्रव्य अपने प्रमेयत्व गुण के कारण किसी न किसी ज्ञान के विषय होते हैं, ऐसा कहा है; परन्तु इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हों, ऐसा इनका स्वरूप नहीं है।**

आत्मवस्तु ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त शक्तियों का पिंड है। यह प्रमेय, इन्द्रियों का विषय हो, ऐसा नहीं है। आत्मा प्रमाता और प्रमेय दोनों है। जगत के पदार्थ प्रमेय हैं, इन्द्रियाँ प्रमेय हैं। उस प्रमेय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा को जाने और आत्मा स्व-प्रमेय है, उसका स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह इन्द्रियों से ज्ञात हो।

**प्रश्न :** तो फिर इन्द्रियाँ जीव को क्यों मिली हैं? तथा उसे इन्द्रियवाला क्यों कहा है?

उत्तर : किसी पदार्थ को कोई अन्य पदार्थ मिलता नहीं है। कोई पदार्थ अन्य पदार्थ में न जाता है न आता है। जगत के ज्ञेयपदार्थ अपने कारण से आते हैं और जाते हैं। परमाणु की पर्याय आत्मा के एक क्षेत्र में आई, उसकी पहिचान कराई है।

निश्चय से इन्द्रियाँ परमाणु की पर्याय हैं; परन्तु उसकी वर्तमान पर्याय में पुद्गल की अन्यपर्याय से भिन्नता है; अतः उसकी इन्द्रियरूप से पहिचान कराई है। निश्चय से पुद्गल परमाणुओं में अन्तर नहीं है। इन्द्रियज्ञान का कथन व्यवहार से इन्द्रियों का संयोग बताने के लिये हैं; परन्तु उनसे ज्ञान होता है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। परन्तु जीव के उघाड़ की योग्यता के समय इन्द्रियाँ निमित्तरूप होती हैं, उनका ज्ञान कराया है। **ज्ञान से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा श्रद्धा स्वीकार करती है ह**

आत्मा स्वयं प्रमेय है। स्वयं इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो, ऐसा प्रमेय पदार्थ नहीं है, अतः यह इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है, परन्तु ज्ञानप्रत्यक्ष का विषय है। यह सम्यग्दर्शन अधिकार है। आत्मा श्रद्धा का अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय है, अतः श्रद्धा इसप्रकार स्वीकार करती है कि इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा आत्मपदार्थ नहीं है; परन्तु ज्ञानप्रत्यक्ष से ज्ञात हो, ऐसा आत्मपदार्थ है। स्वाश्रय द्वारा श्रद्धा का इसप्रकार स्वीकार करना धर्म है। ऐसी श्रद्धा और ज्ञान बिना व्रत-तप आदि सच्चे नहीं हो सकते।

### तीसरा बोल

जैसे धुँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसीप्रकार लिंग द्वारा अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है ह**

धुँ द्वारा अग्नि का ग्रहण होता है। जहाँ धुँ होता है, वहाँ अग्नि होती ही है। उसीप्रकार बाह्य किन्हीं इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य चिह्न द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं होता, ऐसा यह ज्ञेय है।

शरीर के हिलने-चलने से, वाणी के बोलने से तथा गर्भ के बढ़ने से उन सर्व चिह्नों से क्या यथार्थ में आत्मा पहिचाना जा सकता है? नहीं, इस लक्षण से आत्मा पहिचाना नहीं जा सकता। जिसप्रकार बुखार का नाप थर्मामीटर द्वारा ज्ञात होता है; उसीप्रकार बाह्य किसी चिह्न से आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। यहाँ यह कहा है कि आत्मा के जानने के लिये इन्द्रियों के अनुमान की आवश्यकता नहीं है।

कोई कहे कि आत्मा, आत्मा के ज्ञान द्वारा पहिचाना जाय और परपदार्थ इन्द्रियों द्वारा पहिचाने जायें तो वह स्थूल अज्ञान है। कोई भी पदार्थ इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता, ज्ञान से ज्ञात होता है। तथा आत्मा निश्चय से आत्मा द्वारा पहिचाना जाय और व्यवहार से इन्द्रियों द्वारा पहिचाना जाये, ऐसा जो कहता है यह भी भूल है, यह मिथ्या अनेकान्त है। आत्मा आत्मा द्वारा ही पहिचाना जाता है और अन्य किसी चिह्न-इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों के अनुमान द्वारा नहीं पहिचाना जाता, यही सम्यक् अनेकान्त है और यही धर्म है।

इस तीसरे बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह अ = नहीं, लिंग = इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य चिह्न, ग्रहण = जानना। अर्थात् आत्मा किसी इन्द्रियगम्य चिह्न से ज्ञात नहीं होता। जैसे शरीर छोटे से बड़ा होता है, ऐसे बाह्य चिह्न से आत्मा का निर्णय नहीं होता। अतः आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है ह ऐसा उसमें से अर्थ निकलता है। आत्मा ऐसा ज्ञेयपदार्थ है कि वह ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है ह उसमें इन्द्रिय के अनुमान की आवश्यकता नहीं है।

### चौथा बोल

दूसरों के द्वारा ह मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा केवल अनुमान से ही ज्ञात हो, ऐसा वह ज्ञेयपदार्थ नहीं है ह**

इस चौथे बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह अ = नहीं,

लिंग = अनुमान ज्ञान और ग्रहण = जानना। अर्थात् आत्मा मात्र अनुमान ज्ञान का विषय हो, ऐसा यह ज्ञेय पदार्थ नहीं है। यहाँ 'मात्र अनुमान' कहा है। 'मात्र' कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा आंशिक स्वसंवेदन सहित अनुमान का विषय तो है, परन्तु केवल अनुमान का विषय नहीं है।

यदि आत्मा केवल अनुमान का ही विषय हो तो आत्मा कभी भी प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता। केवलज्ञान में तो वह सर्वथा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है और निचली दशा में श्रुतज्ञान में प्रतीति में आता है। साधकदशा में भी मात्र अनुमान से ज्ञात होने योग्य नहीं। साधकदशा में मात्र अनुमानज्ञान से ज्ञात होता हो तो स्वसंवेदन आंशिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। और स्वसंवेदनज्ञान साधकदशा में आंशिक प्रत्यक्ष न हो तो वह बढ़कर संपूर्ण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः आत्मा साधकदशा में भी स्वसंवेदन प्रत्यक्षपूर्वक अनुमानज्ञान का विषय होता है।

जिनको यह आत्मा जानना है, उन्हें स्वसंवेदनज्ञान होना ही चाहिये तो ही वे जीव इस आत्मा को जान सकते हैं। अन्य जीव स्वसंवेदनसहित अनुमानज्ञान करके ज्ञान विस्तृत करें और इस आत्मा की पहिचान करें तो ठीक है, परन्तु अन्य जीव स्वसंवेदन बिना मात्र अनुमान से इस आत्मा को पहिचानने जायें तो उनके द्वारा यह आत्मा ज्ञात हो, ऐसा यह ज्ञेय पदार्थ नहीं है।

### पाँचवाँ बोल

जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा केवल अनुमान से ही जाने, ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है ह्व**

इस पाँचवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह्व अ = नहीं, लिंग = अनुमान ज्ञान, ग्रहण = जानना। आत्मा मात्र अनुमानज्ञान से स्वयं को अथवा पर को जाने, ऐसा नहीं है। अतः स्व और पर दोनों को जानने के लिए प्रत्यक्ष स्वसंवेदनज्ञान होना चाहिये। आत्मा स्वयं मात्र

अनुमान करनेवाला हो तो कभी भी प्रत्यक्षज्ञान प्रगट नहीं कर सकता। अनुमानज्ञान तो है, परन्तु मात्र अनुमान ज्ञान से प्रत्यक्ष होना माने तो वह यथार्थ नहीं है। अनुमान के साथ आंशिक स्वसंवेदनज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है और वह बढ़कर संपूर्ण प्रत्यक्ष ऐसा केवलज्ञान होता है और तब अनुमान का अभाव होता है। अतः यहाँ मात्र अनुमान से नहीं जानता है, ऐसा कहा है।

### स्वसंवेदन ज्ञान बिना परपदार्थों का ज्ञान यथार्थ नहीं है ह्व

आत्मा स्वयं को तो अनुमान से नहीं जानता है; परन्तु अन्य जीवों को, शरीर को तथा परपदार्थों को मात्र अनुमान से जाने, ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। केवल अनुमानज्ञान से पर पदार्थों का ज्ञान करना, वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। इसप्रकार आत्मा केवल अनुमान करनेवाला ही नहीं है; ऐसे भाव की प्राप्ति होती है।

देव, गुरु, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार तथा निगोद से लेकर सिद्ध तक के सभी जीवों को केवल अनुमान से जान ले, ऐसा उन ज्ञेयों का स्वभाव नहीं है। आंशिक स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिये। स्वसंवेदनसहित अनुमान ज्ञान द्वारा जाने, वही यथार्थ ज्ञान कहलाता है। स्वसंवेदन बिना मात्र अनुमान वह सच्चा अनुमान भी नहीं कहलाता है।

### क्रिया का स्वरूप ह्व

**प्रश्न** : यह सब जानने के पश्चात् हमारी मानी हुई क्रिया करना तो यथार्थ है न? समझपूर्वक क्रिया करने में क्या बाधा है?

**उत्तर** : समझपूर्वक क्रिया में राग की और शरीर की क्रिया नहीं आती है। आत्मा के भान बिना विधि किसको कहना? जो तुझे सच्ची समझ हुई होगी तो तुझे यह प्रश्न ही नहीं होगा; क्योंकि समझ कहने से उसमें ज्ञान की क्रिया आती है और शरीर तथा राग की क्रिया का निषेध होता है।

**प्रश्न** : ज्ञानपूर्वक क्रिया में हमारी मानी हुई क्रिया का मिश्रण करें तो?

**उत्तर** : भाई, दूधपाक में किंचित् विष मिलते ही सारा दूधपाक विषरूप हो जाता है और खाने के काम में नहीं आता; उसीप्रकार मात्र

परलक्षी ज्ञान करके उसके साथ शरीर की तथा राग की क्रिया मिलाना, यह एकांत मिथ्यात्व है।

जीव, शरीर की क्रिया कर ही नहीं सकता है और अपूर्ण दशा में राग होता है, उस राग के करने का अभिप्राय भी ज्ञानी को नहीं है। शरीर और राग का ज्ञाता है, ऐसा आत्मा का स्वरूप है; ऐसा समझना यह समझपूर्वक की क्रिया है। समझपूर्वक की क्रिया कहते ही शरीर की तथा राग की क्रिया का निषेध हो जाता है। आत्मा बाहर के किसी लिंग से ज्ञात नहीं होता, ऐसा यह एक ज्ञेयपदार्थ है। उसका वैसा ज्ञान करना, वही सच्ची क्रिया है।

यहाँ तो ऐसा कहना है कि अनुमानज्ञानमात्र से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। इससे निम्न न्याय फलित होते हैं।

#### प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान के न्याय हू

१. अनुमान ज्ञानमात्र से आत्मा ज्ञात होने योग्य हो तो प्रत्यक्ष ज्ञान और उसका विषय (का अस्तित्व) नहीं रहते; परन्तु उसप्रकार नहीं बन सकता।

२. केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और उसमें आत्मा तथा सर्वपदार्थ साक्षात् ज्ञात होते हैं; परन्तु वह वर्तमान में छद्मस्थ को पूर्ण प्रगट नहीं है। जो वह वर्तमान में पूर्ण प्रगट हो तो संपूर्ण आनन्द प्रगट होना चाहिये।

३. साधक को स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान होता है और उसका अनुमानज्ञान प्रमाण है; क्योंकि स्वसंवेदन बिना का मात्र अनुमानज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। अतः साधकदशा में आंशिक प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों साथ रहते हैं।

४. साधकदशा में यदि ज्ञान मात्र परोक्ष ही माना जावे तो प्रत्यक्ष कभी नहीं होगा; परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः स्वसंवेदन अंश-प्रत्यक्ष का वहाँ अस्तित्व है, वही बढ़कर संपूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान होता है।

५. साधकदशा में अंश प्रत्यक्ष स्वसंवेदनज्ञान है, उसके क्रम-क्रम से बढ़ने पर परोक्ष का अभाव होता जाता है और पूर्ण प्रत्यक्ष होने पर परोक्ष का सर्वथा अभाव होता है।

६. अनुमानज्ञान अकेला हो ही नहीं सकता; क्योंकि अनुमानज्ञान अकेला हो तो वह त्रिकाल रहे और प्रत्यक्ष होने का प्रसंग ही नहीं प्राप्त हो।

७. संपूर्ण प्रत्यक्षज्ञान अकेला हो सकता है; क्योंकि वहाँ परोक्ष का सर्वथा अभाव होता है।

स्वसंवेदन बिना का मात्र अनुमान, वह ज्ञान ही नहीं है। अतः केवल अनुमानज्ञान मात्र से आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है। उसीप्रकार केवल अनुमान मात्र से आत्मा स्व अथवा पर को नहीं जानता है। इस प्रमाण से आत्मा अनुमाता मात्र नहीं है।

मात्र अनुमान से जानने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है, उसीप्रकार मात्र अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा ज्ञेय का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार आत्मा केवल अनुमान से ही जाने, ऐसा वह ज्ञेयपदार्थ नहीं है। ऐसा स्व ज्ञेय का यथार्थ स्वरूप जानना, वह धर्म का कारण है।

महामुनि जंगल में निवास करते थे। एक 'अलिंगग्रहण' शब्द में से बीस बोल निकाले हैं। उनमें से शुद्ध आत्मा प्रगट हो, ऐसा है। अत्यंत अद्भुत बात की है। लौकिक में कोई तैयार करके लड्डू देवे और जिसको वह खाना भी नहीं आता हो, वह मूर्ख है; उसीप्रकार यहाँ अद्भुत रीति से आत्मा प्रगट हो, ऐसा माल प्रस्तुत किया है तो भी जो जीव उसका विचार करके, श्रद्धा करके, स्वरूपानन्द का भोग न करे, वह मूर्ख है।

**पहले बोल में कहा था कि आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है; ऐसा तू जान हू**

यह आत्मा शरीर आदि से पर है, वह क्या है? शरीर इत्यादि परज्ञेय हैं और आत्मा स्वज्ञेय है। स्वयं को स्वयं द्वारा जानने पर आत्मा स्वरूप से ज्ञात होता है और परपदार्थ पररूप से ज्ञात होते हैं। आत्मा बाह्य लिंग से ज्ञात होने योग्य नहीं है, ऐसा 'तू जान'। यहाँ आचार्य भगवान आदेश करते हैं। यह ज्ञेयरूप आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, अस्तित्व, विभुत्व, प्रभुत्व आदि अनंत-अनंत शक्तियों का पिण्ड है और अलिंगग्रहण है, ऐसा 'तू जान'। आत्मा को इन्द्रियों से जानना नहीं होता, इसप्रकार

‘तू जान’। आत्मा अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन रहित है, अतः इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता है; ऐसा तू जान।

श्रीगुरु, शिष्य को कहते हैं कि ‘तू जान’ तो उसमें निर्णय होता है कि आत्मा जान सकता है। यदि शिष्य आत्मा को जान सके, ऐसा न होता तो श्रीगुरु ‘तू जान’ ऐसा नहीं कहते। ‘तू जान’ ऐसा कहते ही शिष्य जान सकता है, ऐसा आत्मा है; ऐसा निर्णय होता है।

**आत्मा में जिनका अभाव है; उन इंद्रियों द्वारा आत्मा किसप्रकार जाने?**

यह आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप है। वह इन्द्रियों से नहीं जानता है; ऐसा तू जान। आत्मा में इन्द्रियों का अभाव है। जिस पदार्थ में जिसका अभाव हो, उससे वह काम करे, ऐसा नहीं बन सकता। भगवान आत्मा में इंद्रियों का अभाव है और अभाव द्वारा आत्मा को जाने तो ऐसा बने जैसा कि किसी को खरगोश के सींगों से दुःख उत्पन्न हो। जगत में खरगोश के सींग हैं ही नहीं, तो फिर वे सुख-दुःख के कारण कैसे हो सकते हैं? हो ही नहीं सकते हैं।

उसीप्रकार आत्मा में इन्द्रियों का अभाव है तो उन अभावरूप इन्द्रियों द्वारा आत्मा जाने, ऐसा कैसे बन सकता है? बन ही नहीं सकता। अतः आत्मा अतीन्द्रियस्वभाववाला है; ऐसा तू जान। इसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म है।

**दूसरे बोल में कहा था कि आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है; ऐसा तू जान हूँ**

आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता, ऐसा तू जान। इंद्रियाँ उसमें हैं ही नहीं। जो वस्तु जिसमें न हो उसमें वह ज्ञात हो, ऐसा कभी नहीं बन सकता। आत्मा में इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, अतः वह इंद्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वह तो स्वयं ज्ञात होने योग्य है, ऐसा तू जान।

**तीसरे बोल में कहा था कि आत्मा इंद्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है; ऐसा तू जान हूँ**

शरीर हिलता है-चलता है, वाणी बोली जाती है, इसलिए आत्मा

है; ऐसा इन्द्रिय के प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान करने योग्य आत्मा नहीं है। आत्मा में इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, अतः इन्द्रियप्रत्यक्ष अनुमानज्ञान से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता है; ऐसा तू जान।

जिसप्रकार धूम्र से अग्नि का अनुमान होता है, उसीप्रकार इन्द्रियगम्य किसी भी चिह्न से आत्मा ज्ञात नहीं होता; परन्तु स्वसंवेदनज्ञान से ज्ञात होता है; इसप्रकार तू जान।

‘तू जान’ में से ऐसा अर्थ निर्णीत होता है कि शिष्य ऐसा है कि आत्मा को जान सके। हीरों के व्यापारी को हीरों की दुकान प्रारंभ करते समय ध्यान में है कि हीरों के ग्राहक संसार में हैं। वे ग्राहक हमारे पास हीरे लेने आयेंगे, ऐसा उसे विश्वास है। परन्तु ‘मैं हीरों की दुकान तो करता हूँ; किन्तु कोई ग्राहक हीरे लेने नहीं आवे तो?’ ऐसी शंका उसे नहीं होती।

इसीप्रकार आचार्य भगवान ने ‘तू जान’ ऐसा कहा है तो उनको विश्वास है कि मैं कहता हूँ वैसे आत्मा को जाननेवाले जीव भी हैं। भविष्य में होनेवाले जीव जैसा आत्मा मैं कहता हूँ, वैसे नहीं जानेंगे तो? ऐसी उनको शंका ही नहीं होती। यह बात बहुत सूक्ष्म है और कठिन है, इसलिये ज्ञात नहीं होगी, ऐसा नहीं है। अतः तू जान सकता ही है; ऐसा तू विश्वास कर।

आत्मा स्वतत्त्व है, वह परतत्त्व द्वारा नहीं जानता है, परतत्त्व द्वारा ज्ञात नहीं होता है, उसीप्रकार परतत्त्व के अनुमान द्वारा भी ज्ञात नहीं होता, परन्तु स्वतत्त्व से ही जानता है और ज्ञात होता है; ऐसा तू जान।  
**चौथे बोल में कहा था कि केवल अनुमान से ही ज्ञात हो, ऐसा आत्मा नहीं है; ऐसा तू जान हूँ**

अन्य जीव मात्र अनुमान करें और आत्मा ज्ञात हो; ऐसा आत्मा नहीं है। अन्य (जीव) केवल अनुमानज्ञान से निर्णय करें कि यह आत्मा ऐसा है तो वह आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं है। ‘राग रहित ज्ञानानंद शुद्ध चैतन्य हूँ’, इसके भान द्वारा हूँ स्वसंवेदनज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा है।  
**पंच परमेष्ठी भगवान मात्र अनुमान से ज्ञात नहीं होते।**

अन्य जीव मात्र अनुमान करते हैं और कहते हैं कि ये वीतरागदेव हैं, ये निर्ग्रन्थ गुरु हैं तो इसप्रकार से परीक्षा नहीं हो सकती है; ऐसा तू जान। सर्वज्ञ देवाधिदेव, अरहंत तथा सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय, मुनि आदि के आत्मा को जानना हो तो मात्र अनुमान द्वारा ज्ञात हो सके, ऐसा वह आत्मा ही नहीं है।

हीरे की दुकान पर दो पैसे लेकर जावे तो हीरा-माणिक नहीं मिलता और कोई भिखारी भीख माँगे तो उसे लड्डुओं का चूरा मिलता है; परन्तु पूरा लड्डू नहीं मिलता है। पूरा लड्डू माँगने का उसका साहस भी नहीं होता है। उसीप्रकार घर की ऋद्धि, सिद्धि, हीरे आदि हमें दिखाओ ऐसा कहने का साहस भी उसमें नहीं होता है।

उसीप्रकार मात्र अनुमानज्ञान भिखारी जैसा है, उसके द्वारा हीरे सदृश पंचपरमेष्ठी के आत्माओं की परीक्षा नहीं हो सकती है। जिसप्रकार भिखारी में 'हीरा दिखाओ' ऐसा कहने का साहस ही नहीं है; उसीप्रकार अनुमान ज्ञान में पंचपरमेष्ठियों के आत्माओं की परीक्षा करें, ऐसी शक्ति ही नहीं है।

अपना आत्मा शुद्धस्वभावी है; उसकी श्रद्धा, ज्ञान तथा राग रहित आंशिक स्वसंवेदन जिस जीव में नहीं है, वह जीव मात्र अनुमानज्ञान से पंचपरमेष्ठियों के आत्माओं को नहीं जान सकता। स्वसंवेदनज्ञानरहित मिथ्यादृष्टि भले ही शास्त्र का बहुत बड़ा ज्ञाता हो और उस ज्ञान से मात्र अनुमान करे कि अरहंत ऐसे होने चाहिये अथवा मुनि ऐसे होने चाहिये तो उसका वह सर्व अनुमानज्ञान ज्ञान ही नहीं है। उसके द्वारा पंचपरमेष्ठियों की पहिचान हो सके, ऐसा वह आत्मा ही नहीं है; इसप्रकार तू जान।

**पंचपरमेष्ठी भगवान स्वसंवेदन ज्ञान से ज्ञात होते हैं ह्व**

मात्र अनुमान से पाँच परमेष्ठी ज्ञात नहीं होते तो वे आत्माएँ किस ज्ञान से ज्ञात होने योग्य हैं? तो कहते हैं कि भाई ! तुझे पंचपरमेष्ठी को जानना हो तो प्रथम तो अपने में स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट कर तो उस ज्ञान से वे ज्ञात होंगे। आत्मा शरीर तथा इन्द्रिय रहित है, राग रहित है, परपदार्थ तथा मन के

अवलंबन से रहित है; ऐसे अपने आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान कर।

१. इसप्रकार स्वसंवेदन सहित ज्ञान को विस्तृत करके अनुमान कर कि मेरे ज्ञान का आंशिक रूप से प्रत्यक्ष उघाड़ है तो वह अंश बढ़कर एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानने योग्य संपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकेगा। तुझे ऐसा विश्वास हुआ तो उससे अनुमान कर कि ऐसे संपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त अरहंत और सिद्ध होने चाहिये और उनकी सर्वज्ञदशा संपूर्ण राग रहित और मन के अवलंबन रहित वह सर्वज्ञदशा एक समय में तीन काल और तीन लोक को जाननेरूप होनी चाहिये।

२. तथा मुझे जिसप्रकार आंशिक स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट हुआ है, उसीप्रकार का राग रहित शुद्ध, निरालंबी तत्त्व आत्मा है, उसका आश्रय करके अपने में भी स्वसंवेदन ज्ञान आंशिक रूप से प्रगट करनेवाले अन्य साधक जीव भी मेरे सदृश होने चाहिये। जो आंशिकरूप से साधन कर रहे हैं और तत्पश्चात् परिपूर्णदशा प्रगट करेंगे वे साधकजीव आचार्य, उपाध्याय और मुनि हैं।

इसप्रकार आत्मा के स्वसंवेदनज्ञान को विस्तृत करके निर्णय करे कि पंचपरमेष्ठियों में पूर्ण सर्वज्ञ कैसे होते हैं और अपूर्ण ज्ञानी कैसे होते हैं तो उसका निर्णय सच्चा है और उस ज्ञान में पंचपरमेष्ठी ज्ञात होते हैं। मिथ्यादृष्टि के स्वसंवेदन रहित मात्र अनुमानज्ञान में पंचपरमेष्ठियों की आत्माएँ ज्ञात नहीं होतीं। अतः मात्र अनुमानज्ञान को लिंगरूप से कहकर उस लिंग से अन्य आत्माओं का ग्रहण नहीं हो सकता (ज्ञान नहीं हो सकता) ऐसा अलिंगग्रहण का अर्थ, हे शिष्य! तू जान।

**स्वसंवेदन रहित मात्र अनुमान प्रमाणज्ञान नहीं है; बल्कि मिथ्याज्ञान है ह्व**

१. प्रत्येक पदार्थ की वर्तमान पर्याय में अपनी योग्यता के कारण कार्य होता है, तब अन्य संयोगी वस्तु को निमित्त कहते हैं। उपादान में कार्य नहीं हो तो अन्य वस्तु को निमित्त भी नहीं कहते हैं। अर्थात् उपादान में कार्य हुए बिना अन्य संयोगी वस्तु में निमित्तपने का आरोप ही नहीं आता है।

२. जीव अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निश्चय पर्याय प्रगट करें तो देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाले शुभराग को व्यवहार का आरोप दिया जाता है। अपने में निश्चय निर्मल पर्याय प्रगट न करे तो पूर्व के राग को व्यवहार नाम भी नहीं दे सकते हैं अर्थात् निश्चय बिना मात्र व्यवहार होता ही नहीं है।

इस न्याय से जीव अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय से स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट करे तो उस स्वसंवेदन सहित के अनुमानज्ञान को अनुमानज्ञान प्रमाण कहते हैं। अपने में स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट न करे तो मात्र अनुमान ज्ञान प्रमाण नहीं कहलाता है; बल्कि वह मिथ्याज्ञान कहलाता है।

### भाव नमस्कार का स्वरूप और उसका फल हू

पंचपरमेष्ठी का आत्मा तेरे मात्र अनुमानज्ञान से नहीं होता है, इसप्रकार तू जान। तुझे पंचपरमेष्ठी को जानना हो और उन्हें भाव नमस्कार करना हो तो जिसप्रकार मुनि सम्यक्श्रद्धा ज्ञानपूर्वक स्थिरता में आगे बढ़ रहे हैं और अरहंत, सिद्ध पूर्ण परमात्मा हो गये हैं; उसीप्रकार तू भी स्वयं में श्रद्धा-ज्ञान करके स्वसंवेदन प्रगट कर तो उस (स्वसंवेदन) ज्ञानपूर्वक अनुमान कर सकेगा कि सर्वज्ञ भगवान पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं।

पुण्य, व्यवहार और विकल्प की एकता रहित और ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव की एकता सहित ज्ञान, यही ज्ञान यथार्थ है, ऐसा तू जान। ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान होने के पश्चात् यथार्थ अनुमानज्ञान होता है कि सर्वज्ञ पूर्णपद को प्राप्त हो गये हैं तथा साधक आंशिक रूप से साधना कर रहे हैं और आगे बढ़कर उस पूर्णपद को प्राप्त करेंगे। इसप्रकार पंचपरमेष्ठियों का, जोकि पर आत्मार्थ हैं, उनका ऐसा प्रमेय-धर्म है, ऐसा तू जान।

पंचपरमेष्ठियों का प्रमेय-धर्म ऐसा है, इसप्रकार जो जीव जानता है, उसने पंचपरमेष्ठियों को यथार्थ रूप से पहिचाना है और उसने ही सच्चा भाव नमस्कार किया है।

प्रश्न : इतना सब विस्तार जानने में तो हमारी मानी हुई सब क्रियाएँ समाप्त हो जायेंगी?

उत्तर : भाई ! तुझे शांति और सुख चाहिये न? धर्म करना है न? धर्म

कहो, शांति कहो, सुख कहो हू ये सब एक ही हैं। वह शांति, सत्यवस्तु की शरण से मिलती है, परन्तु असत्यवस्तु की शरण से नहीं मिलती है। अतः वस्तु जिसप्रकार है उसीप्रकार सत्य जान और स्वसंवेदनज्ञान द्वारा अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव कर। यही शांति का कारण है और यही बढ़ते-बढ़ते परिपूर्ण केवलज्ञान होकर सम्पूर्ण सुख और शांति प्रगट होगी, यही धार्मिक क्रिया है।

अब इस पाँचवें बोल में कहा है कि आत्मा मात्र अनुमान करनेवाला ही नहीं है, ऐसा तू जान हू

चौथे बोल में कहा था कि अन्य जीव तेरे आत्मा को अथवा पंचपरमेष्ठी के आत्मा को मात्र अनुमान द्वारा जानने का प्रयत्न करें तो वे ज्ञात नहीं होंगे। अब यहाँ पाँचवें बोल में कहते हैं कि तू स्वयं कैसा है? तू केवल अनुमान करनेवाला ही नहीं है। आत्मा मात्र अनुमान करनेवाला हो तो अनुमानरहित प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट करने का अवसर नहीं आयेगा। जिसप्रकार जो पुण्यपाप भाव का ही मात्र कर्ता और उसी को सर्वस्व माननेवाला है, उसे आत्मा नहीं कहते। उसीप्रकार मात्र अनुमानज्ञान करनेवाले को आत्मा ही नहीं कहते। इससे निम्न न्याय निकलते हैं हू

१. यदि आत्मा की वर्तमान पर्याय में प्रगट केवल प्रत्यक्षज्ञान हो तो वर्तमान में छद्मस्थ को जो ज्ञान की हीनता दिखाई देती है, वह नहीं होनी चाहिये; परन्तु वर्तमान में ज्ञान की हीनता दिखाई देती है, अतः छद्मस्थ को वर्तमान पर्याय में केवल प्रत्यक्षज्ञान नहीं है; ऐसा निर्णय होता है। अतः कोई ऐसी दशा होनी चाहिये, जिसमें आंशिक प्रत्यक्ष और आंशिक परोक्ष ज्ञान हो सकता हो, वह साधकदशा है।

२. तथा साधकदशा से आंशिक प्रत्यक्ष और आंशिक परोक्ष ज्ञान न हो तो आंशिक प्रत्यक्षज्ञान बढ़कर कभी भी संपूर्ण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है और परोक्ष का अभाव नहीं हो सकता है। अतः साधकदशा में आंशिक प्रत्यक्षज्ञान है, ऐसा निर्णय होता है।

३. साधकदशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय आंशिक



प्रगट है, उस समय देव-शास्त्र-गुरु आदि के प्रति रागरूपी व्यवहार सहचर होता है।

इस न्याय से साधकदशा में अपने स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान सहित स्व-संवेदन आंशिक प्रत्यक्षज्ञान पर्याय में प्रगट होता है, उस समय अनुमानज्ञान भी आंशिक परोक्ष उस ही पर्याय में सहवर्ती होता है।

४. तथा जब विशेष पुरुषार्थ होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सम्पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तब देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभरागरूपी व्यवहार का सर्वथा अभाव होता है और निश्चय मात्र रहता है।

तात्पर्य साधकदशा में ज्ञानस्वभावी आत्मा में सम्पूर्ण एकाग्रता होने पर सम्पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट होता है, उस समय परोक्षज्ञान का सर्वथा अभाव होता है और सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानमात्र रहता है।

इस पाँचवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह्र अ = नहीं, लिंग = केवल अनुमान मात्र, ग्रहण = जानना। तू केवल अनुमाता मात्र नहीं है। ऊपर कहे अनुसार अनुमानमात्र हो तो कभी भी केवलज्ञान नहीं होगा। अतः साधकदशा में स्वसंवेदन सहित अनुमान है। तेरा ज्ञान स्व अथवा पर को जानने में स्वसंवेदन सहित कार्य न करे तो तेरा जानना यथार्थ नहीं है। तथा तेरा आत्मा ज्ञाता के अतिरिक्त ज्ञेय भी है। वह मात्र अनुमान करनेवाला नहीं है; परन्तु समस्त जगत के स्व तथा पर, जड़ तथा चेतन सर्व पदार्थों को स्वसंवेदन ज्ञानपूर्वक जानता है; ऐसा इस ज्ञेय आत्मा का स्वभाव है, ऐसा तू जान।

**‘तू जान’ का रहस्य ह्र**

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने गाथा में जाण ऐसा कहा है। तत्पश्चात् श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इतना विस्तार करके ‘अलिंगग्रहण’ के बीस बोलों से भिन्न-भिन्न भाव समझाकर आत्मा को ऐसा जान ह्र इसप्रकार कहा। वे पंचमकाल के मुनि हैं। पंचमकाल कठिन है, अतः ये शब्द क्या चौथे काल के जीवों के लिये होंगे? भाई! ऐसी बात नहीं है। यह पाठ तथा टीका पंचमकाल के जीव नहीं समझ सकते होते तो ‘तू जान’ ऐसा

आदेश कैसे करते? भाई! पंचमकाल के जीवों के लिये ही यह टीका की है और इसे जीव समझ लेंगे ह्र ऐसा उन्हें विश्वास है। सहज योग बन गया है। ज्ञानी पुरुष ‘तू जान’ कहकर आदेश दें, तब उनके रहस्य के ज्ञाता न हों, ऐसा नहीं बन सकता है। समझानेवाले और समझनेवाले दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। आचार्य ने कहा है कि ‘तू जान’ अतः मैं मेरे आत्मा को जान सकता हूँ, इसमें कोई काल बाधा नहीं करता है। इसप्रकार विचार कर आत्मा का स्वरूप यथार्थ समझने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

जिसप्रकार पुण्य-पाप से लाभ होता है, ऐसा माननेवाला जीव आत्मा को नहीं जानता है; उसीप्रकार इन्द्रियों से ज्ञान होता है और अनुमातामात्र आत्मा है, इसप्रकार माननेवाला जीव भी आत्मा को नहीं जानता है। जीव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करे तो धर्म हो।

ये पाँच बोल पूर्ण हुए। इनमें नास्ति से कथन किया है। अब छठवें बोल में अस्ति से कथन करते हैं।

**छठवाँ बोल**

जिसका लिंग के द्वारा नहीं; किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार ‘आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है’, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है; ऐसा तू जान ह्र**

आत्मा किसी बाह्य चिह्न अथवा अनुमान आदि उपरोक्त पाँच लिंगों द्वारा ज्ञात नहीं होता; परन्तु स्वभाव द्वारा ज्ञात होता है। आत्मा स्वभाव द्वारा ज्ञात होता है ह्र ऐसा कहते ही वह परोक्ष अनुमान मात्र से ज्ञात होने योग्य नहीं है; उसीप्रकार इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से भी ज्ञात होने योग्य नहीं है; ऐसा नास्ति का कथन भी उसमें गर्भित है। यहाँ तो अस्ति से यह बोल कहा है।

**परोक्षता होने पर आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है; ऐसा क्यों कहा ?**

यहाँ तो साधकदशा की बात है। केवली को समझना शेष नहीं

रहता; क्योंकि वे तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञाता हो गये हैं। तब यहाँ इस बोल में ऐसा कहा है कि 'प्रत्यक्ष ज्ञाता है ऐसे भाव की प्राप्ति होती है' उसका क्या अर्थ है? प्रत्यक्ष ज्ञाता तो केवली होता है फिर भी यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञाता कहा है; क्योंकि साधकजीव अपने आत्मा को प्रत्यक्ष ज्ञाता मानता है। साधक को परोक्षता आंशिक है, उसकी यहाँ गौणता है। प्रत्यक्ष की मुख्यता है। जो अपने आत्मा को रागरहित तथा मन के अवलम्बनरहित, प्रत्यक्ष ज्ञाता नहीं मानता है, उसको धर्म कभी भी नहीं होता है।

यहाँ कहा है कि आत्मा इन्द्रियों से स्व-पर को नहीं जानता है, आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता है, आत्मा इन्द्रियगम्य चिह्नों से ज्ञात नहीं होता है, आत्मा केवल अनुमान ज्ञान से ज्ञात नहीं होता है और आत्मा केवल अनुमान ज्ञान से स्व-पर को नहीं जानता है। इन पाँच लिंगों द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता; अतः आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसे भाव की प्राप्ति होती है।

**आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान का फल केवलज्ञान है ह्व**  
जिसप्रकार कोई जीव राग को अपना स्वरूप माने तो कभी भी रागरहित नहीं हो सकता है, परन्तु राग होने पर भी उसी समय स्वयं का त्रिकाली स्वरूप रागरहित है; ऐसा यदि श्रद्धा-ज्ञान करता है तो आंशिक वीतरागता प्रगट होती है और तत्पश्चात् स्थिरता बढ़ते-बढ़ते परिपूर्ण वीतरागदशा प्रगट होती है।

इस न्याय से परोक्ष ज्ञान आत्मा का स्वभाव हो तो परोक्षरहित कभी भी नहीं हो सकता है; क्योंकि जो वस्तु सदाकाल अपनी हो, वह कभी उससे पृथक् नहीं हो सकती है। परन्तु परोक्षज्ञान का अभाव करके संपूर्ण प्रत्यक्षज्ञान प्रगट करके अनेक जीव सर्वज्ञ हो गये हैं; अतः परोक्षज्ञान आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है; ऐसा निर्णय होता है। अतः उपरोक्त पाँच लिंग से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है तो आत्मा कैसा है? आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। वर्तमान में परोक्षज्ञान होने पर भी मेरा स्वभाव प्रत्यक्ष ज्ञाता है; ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करता है तो स्वयं में आंशिक प्रत्यक्षज्ञान प्रगट

होता है और विशेष बढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

इस छठवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह्व अ = नहीं, लिंग = मात्र परोक्ष ज्ञान से, ग्रहण = जानना। आत्मा केवल परोक्ष रहनेवाला नहीं है, वह प्रत्यक्ष ज्ञाता है।

**क्रिया का स्वरूप ह्व**

प्रश्न : इतना समझने के पश्चात् प्रोषध, प्रतिक्रमण आदि की क्रिया करना तो चाहिए न?

उत्तर : भाई ! शरीर की क्रिया तो आत्मा कभी नहीं कर सकता है। भक्ति आदि का शुभभाव पुण्यास्रव है, वह विकारी क्रिया है, विभावभाव है। जो स्वभाव से विरुद्ध भाव है, वह स्वभाव को किसप्रकार सहायता करे? करे ही नहीं। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है; परन्तु उससे धर्म मानना अथवा उसे धर्म में सहायक मानना मिथ्या है। आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा है; ऐसा प्रथम श्रद्धा-ज्ञान करना, वह प्रथम धार्मिक क्रिया है और तत्पश्चात् उसमें एकाग्रता करके प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट करना, वह मोक्ष की क्रिया है।

**सच्ची श्रद्धा के फलरूप से केवलज्ञान अकेला रहता है ह्व**

यहाँ तो प्रत्यक्ष ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा करने की बात है तथा जिसप्रकार साधकदशा पूर्ण होने पर केवल निश्चय रहता है और व्यवहार का अर्थात् राग का अभाव होता है, परन्तु केवल व्यवहार रहता हो, ऐसा कभी नहीं बनता है; उसीप्रकार केवल अनुमानज्ञान रहता हो, ऐसा कभी नहीं बनता है; परन्तु आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, उसमें सम्पूर्ण एकाग्र होने पर सर्व प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होता है और वह सदा अकेला रहता है, ऐसा बन सकता है; परन्तु परोक्षज्ञान का तो सर्वथा अभाव हो जाता है। इसप्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। इस अर्थ का भाव जो जीव स्वयं में उतारता है (स्थापित करता है), वह जीव पर्याय में प्रत्यक्ष ज्ञाता हो सकता है।

प्रश्न : ऐसे भाव की प्राप्ति किसको होती है? भगवान को?

उत्तर : भगवान को तो प्राप्ति हो चुकी है; उनको कुछ करना शेष नहीं रहता है। जिसको प्रत्यक्षज्ञान आंशिक भी नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसे यहाँ आत्मा ही नहीं गिना है। उसे तो पता ही नहीं है कि मुझमें ऐसी ऋद्धियाँ भरी पड़ी हैं; परन्तु साधकजीव विचार करता है कि मेरा आत्मा राग रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञाता है। वह देह, मन, वाणी, देव-शास्त्र-गुरु तथा शुभराग आदि किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता है, मात्र अपने आत्मा की ही अपेक्षा रखता है। उसके ज्ञान के लिये किन्हीं बाह्य लिंगों की आवश्यकता नहीं है। वह मात्र प्रत्यक्षज्ञाता स्वरूप है। ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करके धर्मदशा को प्राप्त करता है। इसप्रकार धर्मात्मा जीव, 'अलिंगग्रहण' शब्द जो कि वास्तव में वाचक है, उसमें से वाच्य-भाव इसप्रकार निकालता है।

आचार्य भगवान भी शिष्य को यही भाव कहते हैं कि हे शिष्य ! तेरा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसा तेरा स्व ज्ञेय है; ऐसा तू जान।

### सातवाँ बोल

जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेयपदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**उपयोग को ज्ञेयपदार्थों का अवलंबन नहीं है; ऐसा तू जान हू**

पहले पाँच बोलों में द्रव्य का (आत्मा का) नास्ति से कथन किया है। आत्मा किसी बाह्य चिन्ह से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है; इसप्रकार नास्ति से आत्मद्रव्य का कथन किया। छठवें बोल में आत्मद्रव्य की अस्ति से बात कही थी। अब सातवें बोल में आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय-उपयोग का कथन करते हैं।

यहाँ लिंग का अर्थ उपयोग कहा है। जिसको लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा को बाह्य पदार्थों के

अवलंबनवाला ज्ञान नहीं है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : देव-शास्त्र-गुरु आदि ज्ञेयों का अवलंबन नहीं है तो मंदिर तथा पंचकल्याणक आदि क्यों कराये?

उत्तर : धर्मात्मा जीव स्वभाव का अवलंबन लेता है और स्वभाव का बहुमान करता है। साधक जीव को अशुभ से बचने के लिये शुभराग आता है; उस समय किसप्रकार के निमित्त होते हैं, उनका ज्ञान कराया है; परन्तु इस कारण उनका ज्ञान देव, गुरु अथवा मंदिरों का अवलंबन करता है, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु से ज्ञान नहीं होता है; क्योंकि वे तो परज्ञेय हैं अर्थात् धर्मात्मा जीव उनका अवलंबन ही नहीं करता है।

तथा वह देव, शास्त्र, गुरु को निश्चय से वंदन ही नहीं करता है; परन्तु अपने स्वभाव की वंदना करता है। विकल्प उठता है तब देव, गुरु की ओर लक्ष जाता है तो भी उस समय भी अपने स्वभाव के बहुमान से च्युत नहीं होता है।

इस समय सत् की बात दुर्लभ हो गयी है। सत्य बात बाहर प्रगट हो तो समझनेवाले और विरोध करनेवाले दोनों होते हैं। इस समय की क्या बात करें, परन्तु भगवान ऋषभदेव की वाणी खिरने से पहले युगलियों को एक देवगति ही होती थी। जीव भी ऐसे ही परिणाम संयुक्त थे, परन्तु जब ऋषभदेव भगवान की वाणी खिरी और कानों में पड़ी, तभी चारों गतियाँ प्रारम्भ हो गईं। २४ दंडक में और सिद्धगति में जानेवाले हुए। कोई सिद्धगति में जानेवाले हुए, कोई साधक हुए और कोई नरक-निगोद में जानेवाले भी हुए। वाणी के कारण उसप्रकार नहीं हुआ; परन्तु सबकी अपनी-अपनी योग्यता अनुसार हुआ। भगवान के समय जब ऐसा हुआ तो अभी ऐसा हो तो उसमें क्या नवीनता है ?

**उपयोग पर का आलंबन नहीं लेता है हू**

यहाँ उपयोग का कथन होता है। उपयोग चैतन्य का लक्षण अथवा चिह्न है। उपयोग आत्मा का अवलंबन करता है। आत्मद्रव्य भी ज्ञेय है, गुण ज्ञेय है और पर्याय भी ज्ञेय है। उपयोग भी ज्ञेय है। उपयोग का स्वभाव

जानने-देखने का है, वह परज्ञेयों का अवलंबन नहीं करता है; क्योंकि परज्ञेयों में उपयोग नहीं है। जो जिसमें नहीं होता है, उसका अवलंबन वह किसप्रकार लेगा? परज्ञेयों में जानने-देखने का स्वभाव अर्थात् उपयोग नहीं है। अतः पर का अवलंबन लेवे, ऐसे उपयोग का स्वभाव नहीं है।

**प्रश्न :** हम तो व्रतधारी हैं, प्रतिमाधारी है, उपदेशक हैं, अतः हमें यह सब सुनने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है; क्योंकि हमारी जो मान्यता है उसमें हमें भूल नहीं दिखाई देती है।

**उत्तर :** मेरे में भूल नहीं है; ऐसा माननेवाला कभी भी भूलरहित नहीं होता है। मेरे में हीनता है, ऐसा जो जानता है, उसे हीनता दूर करके अधिक होने का प्रसंग बन सकता है; परन्तु हीनता ही नहीं है, इसप्रकार कहता है तो हीनता दूर करने का प्रश्न ही नहीं है। संसारी जीवों को, जब तक वीतराग न हो, तब तक भूल होती है। **भूल स्वयं में है, इसप्रकार स्वीकार करे तो भूल दूर कर सकता है;** परन्तु मुझमें भूल ही नहीं है, मैं तो भूल रहित हूँ, इसप्रकार बाह्य क्रियाकाण्ड के अभिमान से माने तो भूल रहित होने का प्रसंग ही नहीं बनता है। अर्थात् उसका संसार दूर नहीं होता है, अतः **जीव को स्वयं की भूल कहाँ है? उसे जानकर, उसे स्वीकार करके, उसके दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।**

यहाँ उपयोग का लक्षण जानना-देखना है और वह लक्षण लक्ष्य का अर्थात् आत्मा का ज्ञान कराता है, ऐसा कहा है।

**प्रश्न :** आत्मा का उपयोग अनादि से पर की ओर है; परन्तु वह सुधरेगा कब? शुभराग के अवलंबन अथवा देव-शास्त्र-गुरु के अवलंबन से सुधरेगा अथवा नहीं?

**उत्तर :** उपयोग की पर्याय अकारणीय है। शुभराग के अवलंबन से अथवा देव-शास्त्र-गुरु के अवलंबन से उपयोग सुधरेगा, ऐसा मानना यह भ्रम है। उपयोग तो मात्र आत्मा का अवलंबन लेता है। जिसप्रकार आत्मद्रव्य अकारणीय है, उसका गुण अकारणीय है, उन्हें कोई कारण नहीं है, उसीप्रकार पर्याय भी अकारणीय है। उपयोग वह ज्ञानगुण की

पर्याय है, उसका कोई कारण नहीं है। उपयोग की पर्याय देव-शास्त्र-गुरु अथवा शुभराग का कारण होने पर वह सुधर जाय, ऐसा कभी नहीं बनता है। **उपयोगरूप पर्याय भी अकारणीय है, अतः अपने शुद्ध आत्मा का अवलंबन लेने से ही उपयोग सुधरता है।**

**ज्ञान ज्ञेयों से स्वतंत्र है हू**

आत्मा को परज्ञेयों का अवलंबन तो है ही नहीं; परन्तु उसकी ज्ञानपर्याय उपयोग है, उसे भी ज्ञेयों का अवलंबन नहीं है। उपयोग का जानने-देखने का स्वभाव है, वह ज्ञेयों के कारण नहीं जानता है, उपयोग का ऐसा स्वरूप है हू इसप्रकार इस ज्ञेय को तू जान। उपयोग अकारणीय है, ऐसा जान। उपयोग में परज्ञेयों का अभाव है तो उनका अवलंबन किसप्रकार हो? होता ही नहीं; परन्तु व्यवहार का कथन होता है, वहाँ जीव अज्ञान के कारण भूल कर बैठते हैं।

**प्रश्न :** ज्ञान ज्ञेयों का अवलंबन तो करता है न?

**उत्तर :** जब ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है तब ज्ञेय होते हैं; इसप्रकार निमित्त का ज्ञान कराया है।

१. जगत में अनन्त ज्ञेय हैं; उनके अवलंबन से ज्ञान होता है; ज्ञान ऐसा पराधीन नहीं है।

२. जीव वर्तमान में ज्ञान करता है। अतः ज्ञेयों को आना पड़ता है, ऐसा भी नहीं है, दोनों स्वतंत्र हैं।

३. उपयोग उन ज्ञेयों का आधार लेता है तो सुधरता है, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि ज्ञान कभी भी ज्ञेयों का आधार नहीं लेता है।

४. परज्ञेय जगत में अनन्त हैं, अतः उपयोग पर को जानने का कार्य करता है, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि उपयोग का स्वभाव स्व-पर दोनों का जानने का है, पर है उसके कारण नहीं। उपयोग स्वतंत्र अपने आत्मा के आधार से कार्य करता है।

**एकांत पर लक्ष्मी ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है हू**

परपदार्थ को ही मात्र लक्ष में लेकर, पर के अवलंबन से प्रगट होनेवाला

ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है। निमित्तों के अवलंबन सहित, मन के अवलंबन सहित, इन्द्रियों के अवलंबन सहित, पंचपरमेष्ठी के अवलंबन सहित, शास्त्र के अवलंबन सहित हूँ ऐसे एकांत परलक्षी ज्ञान को ज्ञान ही नहीं कहा है; परन्तु उसे मिथ्याज्ञान कहा है, उसे यहाँ उपयोग में समाविष्ट नहीं किया है।

### साधकदशा में व्यवहार और निमित्त का स्वरूप हूँ

शुद्ध आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके जो ज्ञान स्व सन्मुख झुकता है, उसी को यहाँ ज्ञान कहा है। सम्यग्दृष्टि जीवों को जबतक परिपूर्ण वीतराग दशा न हो तबतक शुभराग आता है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने का विकल्प उठता है। राग की भूमिका होने से पर की ओर लक्ष जाता है; परन्तु देव-शास्त्र-गुरु हैं, इसलिये पर की ओर लक्ष जाता है; ऐसा धर्मात्मा जीव नहीं मानता है।

साधकदशा में निश्चय के साथ व्यवहार होता है और उस समय सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का लक्ष होता है; परन्तु कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानने का लक्ष ही नहीं होता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं, अतः शुभराग होता है, ऐसा नहीं है; परन्तु निश्चय के भानसहित जीवों को रागयुक्तदशा होने पर राग का तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाया है।

प्रश्न : सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने का शुभरागरूप व्यवहार भी बंध का कारण है और कुदेव आदि को मानने का अशुभरागरूप व्यवहार भी बंध का कारण है तो दोनों व्यवहार में कोई अन्तर रहता है या नहीं?

उत्तर : हाँ, दोनों प्रकार का राग निरर्थक ही है, दोनों बंध का कारण है, आत्मा को किसी भी राग से मोक्षमार्ग का धर्म नहीं होता है। जिसप्रकार पानी पानी के आधार से है तो भी पानी भरने के लिये घड़ा होता है; परन्तु कोई कपड़े में पानी नहीं भरता है, ऐसा वहाँ निमित्त का सुमेल है; उसीप्रकार सच्चे देव-शास्त्र-गुरु संबंधी शुभराग और कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु संबंधी अशुभराग हूँ दोनों राग चैतन्य की जाति के लिये निरर्थक हैं, दोनों बंध के

कारण हैं; तो भी साधक जीव को शुभराग के समय सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्तरूप होते हैं। शुभराग होता है, अतः सच्चे देव-गुरु को आना पड़ता है, ऐसा नहीं है। सच्चे देव-गुरु हैं, इसलिये शुभराग हुआ है; ऐसा भी नहीं है तो भी शुभराग में सच्चे देव-गुरु ही निमित्त होते हैं, अन्य नहीं होते हूँ ऐसा सुमेल है।

### ज्ञान उपयोग को शुभराग का अवलंबन नहीं है हूँ

यहाँ तो विशेष यह कहना है कि विकल्पवाली दशा में राग होने पर भी धर्मात्मा जीव के ज्ञान उपयोग को राग का अवलंबन नहीं है। उस समय भी स्वयं का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, उसका ही उपयोग अवलंबन करता है। राग भी ज्ञेय है और उस ज्ञेय का ज्ञान में सदाकाल अभाव है, अतः उपयोग रागरहित है।

### ज्ञेय ज्ञेय में हैं, ज्ञेय ज्ञान उपयोग में नहीं है हूँ

प्रश्न : ऐसा कहकर तो आपने सब ज्ञेयों को निकाल दिया?

उत्तर : ज्ञेयों को निकालने का प्रश्न ही नहीं उठता है; क्योंकि जो वस्तु किसी में मिश्रित हो गई है हूँ प्रवेश कर गई हो, उसे निकालने का प्रश्न उठता है, परन्तु जो वस्तु जिसमें नहीं होती, उसे निकालने का प्रश्न ही नहीं रहता है। पंचपरमेष्ठी आदि परज्ञेय उनमें हैं, उनका ज्ञान उपयोग में अभाव है। शुभराग भी ज्ञेय है, उस शुभराग का भी ज्ञान उपयोग में अभाव है। उपयोग स्व-आत्मा का है, उसे आत्मा में रखा है, ऐसा कह सकते हैं।

इस सातवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है हूँ अ = नहीं, लिंग = उपयोग, ग्रहण = ज्ञेयपदार्थों का आलंबन। उपयोग को ज्ञेयपदार्थों का आलंबन नहीं है, 'अलिंगग्रहण' का यहाँ ऐसा अर्थ होता है।

जिस उपयोग को यहाँ ज्ञेयपदार्थों का आलंबन नहीं है; परन्तु स्व का आलंबन है, ऐसे उपयोग लक्षणवाला तेरा आत्मा है, इसप्रकार तेरे स्वज्ञेय को तू जान। इसप्रकार तेरे आत्मा को बाह्य पदार्थों के आलंबनयुक्त ज्ञान नहीं है; परन्तु स्वभाव के आलंबनयुक्त ज्ञान है हूँ ऐसा तेरे आत्मारूप स्वज्ञेय को तू जान।

## आठवाँ बोल

जो लिंग को अर्थात् उपयोगनामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा जो कहीं से नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञानवाला है'; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा उपयोग को बाहर से नहीं लाता है; ऐसा तू जान हू**

इस आठवें बोल में उपयोग बाहर से नहीं लाया जाता, ऐसा कहते हैं। अनादि से मिथ्यादृष्टि का उपयोग परसन्मुख था, वह अब स्वयं कोई सत् समागम करे, वाणी सुने, इत्यादि शुभभाव करे तो उपयोग सुधरेगा कि नहीं? नहीं सुधरेगा। उपयोग कहीं बाहर से नहीं लाया जाता, वह क्रमशः अंतर में से प्रगट होता है, बाह्य किसी कारण में से प्रगट नहीं होता है, अतः अकारणीय है।

इसप्रकार आत्मा के उपयोग की यथार्थ श्रद्धा करना हू ज्ञान करना, वह धर्म का कारण है।

**ज्ञानोपयोग निरावलंबी है, ऐसा तू जान हू**

पहले बोल में कहा कि आत्मा द्रव्य है, वह स्वयं इन्द्रियों से स्व तथा पर को जाने, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है।

**दूसरे बोल में कहा कि आत्मा स्वयं इन्द्रियों से ज्ञात हो, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है।**

**तीसरे बोल में कहा कि धूम्र द्वारा अग्नि ज्ञात हो, उसीप्रकार आत्मा इन्द्रियों के अनुमान से ज्ञात हो, उसका ऐसा स्वभाव नहीं है।**

**चौथे बोल में कहा कि अन्य द्वारा आत्मा केवल अनुमान से ज्ञात हो, वह ऐसा प्रमेय पदार्थ नहीं है। अन्य जीव रागरहित स्वसंवेदनज्ञान द्वारा आत्मा को जाने तो वह ज्ञात हो सकता है।**

**पाँचवें बोल में कहा था कि स्वयं अन्य आत्मा को केवल अनुमान से जाने, स्वयं का ऐसा स्वभाव नहीं है, वह स्वसंवेदन से जान सकता है।**

**छठवें बोल में कहा था कि आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। परपदार्थ की अपेक्षारहित, इन्द्रिय तथा मन के अवलंबनरहित, स्वयं स्वयं को प्रत्यक्ष**

जाने, ऐसा उसका ज्ञातास्वभाव है।

**तथा सातवें बोल में कहा था कि छह बोलों में द्रव्य का कथन किया है। सातवें बोल में ज्ञान उपयोग का कथन करते हैं। उपयोग भी ज्ञेय है। उस ज्ञेय का स्वभाव कैसा है, वह कहते हैं हू**

पहले ज्ञान हीन था और तत्पश्चात् वृद्धिगत हो गया तो वह निमित्त तथा बाह्य पदार्थ थे; अतः वह बढ़ा? अथवा वह पदार्थों का अवलंबन लेता होगा? तो कहते हैं हू नहीं, वह उपयोग परपदार्थ का अवलंबन नहीं लेता है। उसीप्रकार ज्ञान में जो ज्ञेय निमित्त होते हैं, उन ज्ञेयों का अवलंबन करके ज्ञान नहीं होता है, वह ज्ञान अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के ही अवलंबन से होता है।

**अब इस आठवें बोल में कहते हैं कि ज्ञान उपयोग की वृद्धि बाह्य में से नहीं आती है, ऐसा तू जान।**

जो लिंग अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता है अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाया जाता है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा, जिसे कहीं से नहीं लाया जाता, ऐसे ज्ञानवाला है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

पहले ज्ञान की पर्याय से हीनता थी, तत्पश्चात् दूसरे समय ज्ञान में वृद्धि हुई, वह वृद्धि क्या बाहर से आई? सातवें बोल में कहा था कि ज्ञान उपयोग को देव-शास्त्र-गुरु का आलंबन नहीं है तो उनके आश्रय बिना यह किसप्रकार वृद्धिगत हुआ ?

भाई ! वह बाहर से नहीं आता है, अन्तर तत्त्व में से आता है। अब आठवें बोल में कहते हैं कि ज्ञान पर में से लाया नहीं जाता, जो ज्ञान का व्यापार ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव का अवलंबन छोड़कर निमित्त का लक्ष करता है, उसको ज्ञान उपयोग ही नहीं कहते हैं। जिसप्रकार इन्द्रियों से ज्ञान करे, वह आत्मा नहीं कहलाता, उसीप्रकार जो उपयोग पर का अवलंबन ले, उसे उपयोग नहीं कहते हैं।

अज्ञानी तर्क करता है कि द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध एकरूप हैं, उसको अवलंबन नहीं होता, ऐसा कथन तो ठीक है; परन्तु एक के बाद

एक होती हुई पर्याय में एकरूपता नहीं रहती और ज्ञान की विशेष-विशेष निर्मलता अनेकप्रकार की होती है, वह क्या ज्ञेयों के आधार से होती होगी? मन तथा शुभराग का अवलंबन है; इसलिये, शुद्धता बढ़ी है न? नहीं; वह निर्मलता की वृद्धि परपदार्थों में से अथवा शुभराग में से नहीं आती है। वह अपने शुद्ध द्रव्यस्वभाव में से ही आती है, अन्तर परिणामन की एकाग्रता बढ़ते-बढ़ते बाह्य में प्रगट दिखाई देती है।

**ज्ञान के वैभव का कारण पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार क्यों कहा?**

**प्रश्न :** यदि यह कहते हो कि निर्मलता अंतर में से प्रगट होती है तो कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने समयसार गाथा ५ में कहा है कि हमारे स्वसंवेदन ज्ञान का जन्म पूर्वाचार्यों के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से हुआ है और आचार्यों की परम्परा से यह वैभव हमें मिला है ह्व ऐसा कैसे कहा?

**उत्तर :** जब कोई भी ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव चेतन के आश्रय से अपने ज्ञान की अत्रुट धारा टिकाये रखता है; तब अपने ज्ञान में निमित्तरूप हुए पूर्व आचार्य कैसे थे, उन निमित्तों का ज्ञान कराते हैं। प्रत्येक आत्मा स्वयं स्वयं का ज्ञानप्रवाह उत्तरोत्तर टिकाये रखता है, तब क्या-क्या निमित्त थे, उनका ज्ञान कराते हैं। जिसप्रकार ज्ञानियों की परम्परा में उत्तरोत्तर ज्ञान टिकाये रखने में संधि है, उसीप्रकार उनके निमित्तों की परम्परा में उत्तरोत्तर संधि बतलाकर निमित्त-नैमित्तिक संबंध का कथन किया गया है।

**ज्ञान उपयोग की अचानक वृद्धि का कारण कौन ?**

गौतम गणधर महावीर प्रभु के निकट गये, उनको पहले ज्ञान बहुत हीन था और भगवान के समवशरण में गये, भगवान की वाणी सुनकर बारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान हुआ। पहले मति-श्रुत ज्ञान था और थोड़े समय में चार ज्ञान के स्वामी हो गये तो इतना सब ज्ञान कहाँ से आया? क्या भगवान की वाणी में से आया? क्या निमित्त ऊपर लक्ष करने से आया?

किसी जीव को सामान्य मति-श्रुत ज्ञान हो और तत्पश्चात् दो घड़ी में पुरुषार्थ करके एकाग्र होकर केवलज्ञान प्रगट करता है तो इतनी सब वृद्धि कहाँ से आई?

यहाँ भी सुनने से पहले ज्ञान हीन होता है और शब्द और वाणी कान में पड़ने के बाद ज्ञान बढ़ता है, वह वृद्धि क्या वाणी में से आती होगी?

अज्ञानी कहता है कि सब आत्माओं के द्रव्य-गुण तो अनादि-अनंत शुद्ध परिपूर्ण भरे हैं और पर्याय में प्रगटता की वृद्धि दिखाई देती है, वह निमित्त आता है तब बढ़ती है और निमित्त नहीं आता है तो नहीं बढ़ती है।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि ऐसा नहीं है। वह वृद्धि किन्हीं बाह्य पदार्थों अथवा शुभराग में से नहीं आती है। अन्तर में ज्ञानशक्ति का भण्डार पड़ा है, उसमें से अपने पुरुषार्थ द्वारा वह प्रगट होती है।

ज्ञान के ज्वार की तरंगें चैतन्य समुद्र के मध्यबिन्दु में से उछलती हैं।

**प्रवचन समुद्र बिन्दु में, उछटी आवे जैसे।**

**पूर्व चौदह की लब्धि का, उदाहरण भी तैसे।।**

(श्रीमद् राजचन्द्र)

समुद्र में ज्वार आता है उसका क्या कारण है? ऊपर से खूब वर्षा हो रही है, अतः ज्वार आया है क्या? बहुत-सी नदियाँ आकर समुद्र में मिलती हैं, अतः समुद्र उछल रहा है क्या? नहीं; चाहे जितनी नदियाँ मिलें और चाहे जितनी वर्षा हो रही हो तो भी समुद्र के उस ज्वार को बाहर के पानी का अवलंबन नहीं है। वह ज्वार तो समुद्र के मध्यबिंदु में से आता है।

इसी न्याय से इस चैतन्यस्वभाव के मध्यबिंदु में ज्ञान का ज्वार उछलता है। आत्मा शुद्ध चिदानंदस्वरूप है, उसमें एकाग्रता करने पर जो शक्तियाँ अंतर में विद्यमान हैं, उनमें से वह प्रगट होती है। बाह्य वाणी, भगवान अथवा गुरु संबंधी किसी शुभराग में से वह वृद्धि नहीं होती है।

उसे राग तथा श्रवण का आधार नहीं है। वे ज्ञान की तरंगों अंतरशक्तिस्वभाव चैतन्यसमुद्र में से उछलकर प्रगट होती हैं।

**ज्ञान की वृद्धि के समय बाह्य पदार्थों पर मात्र उपचार किया जाता है ह**

कोई कहता है कि शास्त्र वाँचन किया; अतः ज्ञान में वृद्धि हुई और शास्त्र में भी लेख आता है कि शिष्य विनय से पढ़ता है तो ज्ञान की वृद्धि होती है। गुरु के समागम में पढ़े तो ज्ञान बढ़ता है तथा कुन्दकुन्दाचार्य भगवान भी कहते हैं कि गुरु की कृपा से हमको यह ज्ञानवैभव प्राप्त हुआ है। ये सब कथन व्यवहार के हैं। अपने कारण से शुद्धस्वभाव में से ज्ञान की वृद्धि करता है तब गुरु, शास्त्र आदि को निमित्त कहकर उपचार करते हैं, वह मात्र बाह्य निमित्त है। यथार्थ में तो वह सब ज्ञान अंतर में से प्रगट होता है।

**प्रश्न :** ज्ञान अंतर से प्रगट होता है तो यह मंदिर, प्रतिमाजी, समयसार आदि का अवलंबन किसप्रकार है?

**उत्तर :** भाई, ये सब वस्तुएँ आत्मा के कारण नहीं आती हैं और आत्मा को उनका अवलंबन नहीं है। जीव को शुभराग होता है, तब उन पदार्थों पर लक्ष जाता है। स्वयं ज्ञान की वृद्धि करता है, तब उन पदार्थों को निमित्त कहा जाता है।

**उपयोग का स्वरूप ह**

जिसप्रकार जो आत्मा इन्द्रियों से जानने का कार्य करता है, उसे आत्मा नहीं कहते हैं; उसीप्रकार जो आत्मा अपने को पुण्यवान-पापवान मानता है, उसे आत्मा नहीं कहते हैं; उसीप्रकार जो उपयोग अपने ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव का अवलंबन छोड़कर, पर का अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु आदि बाह्य निमित्तों का, वाणी अथवा शुभराग का अवलंबन लेता है, उसे यहाँ उपयोग ही नहीं कहा है।

जो आत्मा इन्द्रियों का लक्ष छोड़कर अतीन्द्रियस्वभाव का लक्ष करता है तथा जो स्वयं को पुण्य-पाप रहित शुद्ध जानता है, वही आत्मा

है। उसीप्रकार देव, शास्त्र, गुरु, वाणी तथा शुभराग तथा अनंत परपदार्थों का अवलंबन छोड़कर अपने ज्ञानस्वभाव में जो उपयोग एकाग्र होता है, उसे ही उपयोग कहा जाता है।

इस आठवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह अ = नहीं, लिंग = उपयोग, ग्रहण = बाहर से लाना अर्थात् ज्ञान उपयोग की वृद्धि कहीं बाहर से नहीं होती है, ऐसा तू उपयोगरूप ज्ञेय का स्वभाव जान। अतः आत्मा कहीं बाहर से ज्ञान नहीं लाता है; ऐसा तेरे स्वज्ञेय को तू जान।

**नौवाँ बोल**

जिसे लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता, (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता) सो अलिंग ग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**अज्ञानी का उपयोग सम्बन्धी भ्रम ह**

अज्ञानी मानता है कि घर में पुत्रों ने कलह की, अतः मेरा ज्ञान च्युत हो गया, शरीर रोगी होने से ज्ञान घट गया, ध्यान में बैठा था उस समय कोई तलवार से शरीर को मारने के लिये आया; अतः मेरा उपयोग हीन हो गया; हमें तो बहुत ध्यान करना था; परन्तु भाई ! क्या करें, स्त्री-पुत्र कोलाहल करते हैं, लड़के बाजा बजाते हैं, अतः हमारा उपयोग च्युत हो जाता है। परिषह होता है, तब भी हमारा उपयोग काम नहीं करता है। सात्त्विक भोजन लेते हैं तब तक उपयोग अच्छा रहता है, परन्तु हलका भोजन खाते हैं तो उपयोग खराब हो जाता है, कान में कीड़ा काटता हो ह ऐसी गाली सुनने से उपयोग च्युत हो जाता है, शरीर का संहनन शक्तिशाली हो तो उपयोग अच्छा काम करता है ह इसप्रकार अनेकप्रकार के उपयोग सम्बन्धी भ्रम का अज्ञानी सेवन करता है।

**कोई उपयोगरूपी धन का हरण नहीं कर सकता है ह**

ये सब अज्ञानी का भ्रम है। बाहर के जड़ अथवा चेतन पदार्थों का



आत्मा में अत्यन्त अभाव है। वे आत्मा के उपयोग का घात कैसे कर सकते हैं? घात ही नहीं कर सकते हैं। अनुकूल संयोगों से ज्ञान उपयोग बढ़े और प्रतिकूल संयोगों से घटे तथा जड़कर्म मंद हो तो उपयोग बढ़े और कर्म का उदय तीव्र हो तो उपयोग हीन हो जाय, उपयोग का ऐसा स्वरूप ही नहीं है।

लोक में कहते हैं कि चोर किसी की अमुक वस्तु लूट ले गया अथवा हरण कर ले गया, उसीप्रकार यह उपयोगरूपी धन कोई लूट लेता होगा क्या? नहीं; ज्ञान उपयोगरूप धन किसी से हरण नहीं किया जा सकता है अथवा किसी से लूटा नहीं जा सकता है।

### अप्रतिहत उपयोग ह

ज्ञान-उपयोग का स्वरूप पर के द्वारा घात होनेवाला नहीं है; क्योंकि परपदार्थ ज्ञान में कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं, परन्तु ज्ञान का जो उपयोग अपनी पर्याय की निर्बलता से होते हुए राग के कारण हीन होता है, वह बात भी यहाँ नहीं ली है और उसे उपयोग ही नहीं कहा है; क्योंकि जो उपयोग चैतन्यस्वभाव के आश्रय से कार्य करता है और उसका ही आश्रय लेता है उस उपयोग में राग ही नहीं है तो फिर वह किसप्रकार हीन हो? स्व के अवलंबन पूर्वक का उपयोग आत्मा में एकाकार होता है, उसे ही यहाँ उपयोग कहा है। जिस उपयोग का पर से भी हरण नहीं होता है, उसका स्व से कैसे हरण किया जा सकता है? जो उपयोग च्युत होता है, उसे यहाँ उपयोग ही नहीं गिना है; अपितु चैतन्य के आश्रय से एकाकार होकर वृद्धि को प्राप्त होता है, ऐसे अप्रतिहत उपयोग को ही उपयोग कहा है।

### जो निमित्तों में तथा राग में अटकता है, वह उपयोग ही नहीं है ह

जो जीव अपना स्वरूप नहीं समझते हैं, वे अनात्मा हैं। जो उपयोग स्वद्रव्य का आश्रय नहीं करता है और पर में भ्रमण किया करता है, उसे उपयोग ही नहीं कहते हैं। जिसप्रकार आत्मा अनादि-अनंत है, वह किसी के कारण है ही नहीं; उसीप्रकार उपयोग भी बाहरी कारण से लाया

जाय, बढ़े अथवा घटे उसका ऐसा स्वरूप ही नहीं है। जो उपयोग अपने द्रव्य का आश्रय नहीं छोड़ता और पर का आश्रय नहीं लेता, वही उपयोग है। द्रव्य का आश्रय नहीं छोड़ता अर्थात् स्वभाव में एकाकार होता हुआ वृद्धि को ही प्राप्त होता है तथा पर का आश्रय नहीं करता अर्थात् कभी भी हरण नहीं किया जा सकता, उपयोग का ऐसा स्वरूप है। जो निमित्तों तथा राग में अटकता है (रुकता है) वह उपयोग ही नहीं है।

### उपयोग पर्याय है। 'है' उसे कौन हरण कर सकता है?

इस जगत में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों वस्तु हैं। जिसप्रकार द्रव्य ज्ञेय है, गुण ज्ञेय है; उसीप्रकार पर्याय भी ज्ञेय है। उपयोग ज्ञानगुण की पर्याय है तथा वह ज्ञेय भी है। यह ज्ञेय अधिकार है। यहाँ पर्याय-ज्ञेय कैसी होती है, उसका कथन करते हैं। सातवें बोल में कहा था कि ज्ञान पर्याय को पर का अवलंबन नहीं है।

ज्ञेयपदार्थ ह जो उपयोग 'है, है, है', उसे पर का अवलंबन क्यों हो? तथा ज्ञेयपदार्थ ह जो उपयोग 'है, है, है', उसे बाहर से कैसे लाया जाय? तथा ज्ञेयपदार्थ ह जो 'है, है, है', उसे कोई दूसरा कैसे हरण कर सकता है?

अर्थात् जो उपयोग 'है' उसे पर का अवलंबन नहीं हो सकता है, इस प्रकार सातवें बोल में कहा है; उसे बाहर से लाया नहीं जाता है, ऐसा आठवें बोल में कहा है, उसे कोई हरण नहीं कर सकता है, ऐसा नवमें बोल में कहा है। जिसप्रकार द्रव्य है, गुण है, उसीप्रकार पर्याय भी "है", अतः ज्ञान-उपयोगरूप पर्याय "है", उसे कौन हरण करके ले जाय? कोई हरण करके ले जाय ऐसा कहो, तो "है" पना नहीं रहता है, "है" पने की श्रद्धा नहीं रहती है। अतः पर्याय "है", इसप्रकार स्वीकार करनेवाले को कोई हरण करके ले जाय, ऐसी शंका ही नहीं होती है।

### पंचमकाल अथवा प्रतिकूलता ज्ञान उपयोग का हरण नहीं कर सकते हैं ह

उस ज्ञेयपर्याय का स्वभाव ऐसा है कि वह निमित्त अथवा बाहर से नहीं लाई जाती है, वह स्व का आश्रय नहीं छोड़ती है और कोई हरण

करके ले जाय ऐसा भी नहीं है। ज्ञान का कार्य क्या? ज्ञेयों का अवलंबन लेना ज्ञान का कार्य नहीं है, बाहर से वृद्धि को प्राप्त होना ज्ञान का कार्य नहीं है और किसी के द्वारा हीन हो जाय, ऐसा भी वह ज्ञान नहीं है। उस ज्ञेय का ऐसा स्वभाव है।

जगत में जीव कहते हैं कि भाई ! इस पंचमकाल में जन्म हुआ और काल के कारण उपयोग हीन हो गया; परन्तु यह बात मिथ्या है। उपयोग हीन हो जाय, उपयोग का वैसा स्वरूप ही नहीं है। संसार में लक्ष्मी जाने पर तथा प्रतिकूलता आने पर अज्ञानी जीव मानते हैं कि हमारी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। परन्तु भाई ! उसमें क्या नष्ट हुआ? अनुकूल संयोग तथा लक्ष्मी थी तो मेरी प्रतिष्ठा थी और प्रतिकूलता होने से मेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई है यह तो तूने सभी कल्पना नवीन उत्पन्न की है। ज्ञानपर्याय प्रतिकूल संयोग से नष्ट हो जाये, ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है।

तथा कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर क्रमशः वह एकेन्द्रिय में जाये तो उस जीव के ज्ञान-उपयोग को उपयोग ही नहीं कहा जाता। जो उपयोग आत्मा में जाता है, उसे ही उपयोग कहते हैं। जो पर में अथवा राग में रहता है, उसे उपयोग ही नहीं कहा है। पर से घात नहीं हो और स्व से च्युत नहीं हो, परन्तु स्व में एकाकार रहता है, यही उपयोग का स्वभाव है।

इस नववें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है द्व अ = नहीं, लिंग = उपयोग, ग्रहण = पर से हरण होना अर्थात् उपयोग पर के द्वारा हरण नहीं किया जा सकता है। इसप्रकार आत्मा का ज्ञान हरण नहीं किया जा सकता है, ऐसा उपयोग का स्वरूप है। उपयोग भी एक ज्ञेय है। तेरे उपयोगपर्यायरूपी-ज्ञेय को हे शिष्य ! तू ऐसा जान।

### दसवाँ बोल

जिसके लिंग में अर्थात् उपयोगनामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

द्रव्य, गुण तो अनादि-अनंत शुद्ध हैं; परन्तु उपयोग में भी मलिनता

नहीं है, ऐसा इस बोल में कहा है। चन्द्र कलंकित कहलाता है; परन्तु सूर्य में कोई धब्बा नहीं है। जिसप्रकार सूर्य में किसी भी प्रकार की मलिनता नहीं है, उसी प्रकार उपयोग भी सूर्य की भाँति कलंकरहित है।

**स्व-स्वरूप के गीत ही भगवान की स्तुति है**

चन्द्र में जो हिरण का आकार दिखाई देता है, उस पर से पद्मनंदि आचार्य भगवान् अलंकार करके भगवान का गुणगान करते हैं कि हे भगवान ! हे नाथ ! चन्द्रलोक में तेरे गुणगान देवियाँ सितार से गा रही हैं, वह इतना सुन्दर और भक्तियुक्त है कि उसे सुनने के लिये हिरण भी चन्द्रलोक में जाता है। देवियाँ, अप्सराएँ, देव सब तेरा गुणगान करते हैं और मध्यलोक में से हिरण वहाँ गया तो हम निर्ग्रन्थ मुनि इस स्वरूप का गाना गाते हैं, जो कि तेरा ही गान है; क्योंकि तेरे स्वरूप में और हमारे स्वरूप में निश्चय से कोई अंतर नहीं है।

**उपयोग कैसा है?**

यहाँ शुद्धोपयोग का कथन चलता है। शुद्धोपयोग में विकार ही नहीं है। पर का लक्ष रखकर जो उपयोग बढ़ता है और पर में रुक कर जो उपयोग नष्ट होता है, उसे यहाँ उपयोग ही नहीं कहा है। दया, दान, काम, क्रोधभाव आत्मा नहीं हैं, अनात्मा हैं, अधर्मभाव हैं, वे धर्मभाव नहीं हैं। उस अशुद्धोपयोग को उपयोग ही नहीं कहा है। अज्ञानी मानता है कि मलिनता मेरे उपयोग में है वह तो भ्रान्ति है।

जिसप्रकार द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है, उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय भी शुद्ध है, ऐसा कहा है। अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव शुद्ध है, उसमें जो पर्याय एकाकार होती है, उस पर्याय को ही उपयोग कहा है और शुद्धोपयोगस्वभावी आत्मा को ही आत्मा कहा है।

ज्ञानी को वर्तमान में राग निर्बलता के कारण है। उस राग संबंधी उपयोग को भी यहाँ उपयोग में नहीं गिना है। शुद्ध स्वभाव सन्मुख रहने से शुद्धता होती है, उस शुद्धता को ही उपयोग कहा है।

इस दसवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है द्व अ = नहीं, लिंग = उपयोग, ग्रहण = मलिनता। अर्थात् जिसमें मलिनता नहीं है,

ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसा शुद्ध उपयोगस्वभावी तेरा आत्मा है; ऐसा तेरे स्वज्ञेय को तू जान।

### ग्यारहवाँ बोल

लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**उपयोग द्रव्यकर्म को ग्रहण नहीं करता है, ऐसा तू जान हूँ**

उपयोग द्रव्यकर्म का ग्रहण ही नहीं करता है और द्रव्यकर्म के आने में निमित्त भी नहीं होता है, ऐसा यहाँ कहना है।

**शुद्धोपयोग को जड़कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है हूँ**

प्रश्न : शास्त्र में उल्लेख तो है कि कषाय से स्थिति बंध तथा अनुभाग बंध होता है और योग से प्रकृतिबंध तथा प्रदेशबंध होता है, उससे जड़कर्मों का आगमन होता है और यहाँ कहा है कि उपयोग द्रव्यकर्म में निमित्त भी नहीं है तो उसका क्या स्पष्टीकरण है?

उत्तर : भाई ! योग और कषाय रूप विकारी पर्याय को आत्मा ही नहीं कहते हैं। उपयोग में मलिनता ही नहीं है, ऐसा दसवें बोल में कहा है। जब उपयोग में मलिनता ही नहीं है तो फिर उसके निमित्त से आते हुए द्रव्यकर्म को उपयोग किसप्रकार ग्रहण करे? द्रव्यकर्म में उपयोग निमित्त भी किस प्रकार हो? अर्थात् ग्रहण भी नहीं करता है और उसीप्रकार निमित्त भी नहीं होता है। जड़कर्मों का जो अपने स्वयं के कारण से आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होता है, उसमें मलिनता निमित्तरूप होती है; परन्तु जहाँ उपयोग में मलिनता ही नहीं है, वहाँ मलिनता तथा जड़कर्म का जो निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, वह भी उपयोग में नहीं है। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध उड़ा दिया है। शुद्ध उपयोग में ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध ही नहीं है।

जिसप्रकार आत्मा सामान्य द्रव्य तथा गुण, जड़कर्म को ग्रहण नहीं

करते, उसीप्रकार शुद्ध उपयोग भी कर्म को ग्रहण नहीं करता है। यहाँ ग्रहण करने की तो बात ही नहीं है; परन्तु द्रव्यकर्म अपने कारण से आये, उसमें द्रव्य-गुण तो निमित्त नहीं; किन्तु शुद्ध उपयोग भी निमित्त नहीं है।

प्रश्न : शास्त्र में उल्लेख है हूँ जीव वीर्य की स्फुरणा ग्रहण करे जड़ धूप। यहाँ तो कहा है कि जीव के विपरीत वीर्य की स्फुरणा से आत्मा जड़कर्म ग्रहण करता है और आप तो अस्वीकार करते हो, उसका क्या समाधान है?

उत्तर : वहाँ जीव की विकारी पर्याय सिद्ध करनी है। जीव स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करता है, तब जड़कर्म के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। वहाँ भी जीव की विकारी पर्याय कर्म को ग्रहण करती है अथवा स्पर्श करती है अथवा खींच लाती है, ऐसा नहीं कहना है; परन्तु अशुद्ध उपादान का तथा जड़कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताना है। यहाँ तो शुद्ध उपयोग का कथन चलता है और शुद्ध उपयोग में मलिनता का अभाव है; अतः वह कर्म को ग्रहण नहीं करता है अथवा उसके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं है; ऐसा कहा है।

**साधक जीव को समय-समय शुद्धोपयोग की ही मुख्यता वर्तती है हूँ**

इसप्रकार शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण तथा शुद्ध उपयोग होकर सम्पूर्ण आत्मा है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धयुक्त पर्याय को अनात्मा कहा है, वह आत्मा ही नहीं है। गोम्मटसार में बहुत बार उल्लेख है कि चौथे गुणस्थान में जीव को इतनी प्रकृतियों का बंध होता है और छठे गुणस्थान में इतनी प्रकृतियों का बंध होता है। ये सब उल्लेख अशुद्ध उपादान के साथ का, जड़कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध उस-उस भूमिका में किसप्रकार है, उसे बताया है; परन्तु उस भूमिका में विद्यमान शुद्ध उपयोग को जड़कर्म के साथ बिलकुल संबंध नहीं है। साधकदशा में मलिनता अल्प है, परन्तु उसे गौण करके शुद्ध उपयोग को जोकि स्वभाव की ओर झुका है, मुख्य गिनकर मलिनता को अनात्मा कहा है। यह साधक की बात है। साधक जीव को समय-समय 'में ज्ञातादृष्टा शुद्धस्वभावी हूँ'

उस ओर के झुकाव की ही मुख्यता वर्तती है और दया-दान आदि शुभाशुभ भावरूप पर्यायों को जिसमें द्रव्यकर्म निमित्त होते हैं, उन्हें गौण करता है, उनकी मुख्यता नहीं करता है। मलिन पर्याय को एक समय भी मुख्य करे तो साधक नहीं रहता है; परन्तु मिथ्यादृष्टि हो जाता है। साधक को सदा शुद्ध ज्ञाता की ओर झुकी पर्याय की, जो स्वभाव के साथ अभेद होती है, उसकी मुख्यता होती है। उस मुख्यता की अपेक्षा से उस उपयोग को द्रव्यकर्मों का ग्रहण नहीं होता है, ऐसा कहा है।

**उपयोग लक्षण और आत्मा लक्ष्य, ऐसे लक्षण-लक्ष्य पर से पाँच बोल का सार हू**

आत्मा द्रव्य है और उपयोग उसकी पर्याय है अथवा आत्मा लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है। लक्षण के बिना लक्ष्य नहीं हो सकता है और लक्ष्य के बिना लक्षण नहीं हो सकता। आत्मा पहिचानने योग्य पदार्थ लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है, जिससे आत्मा पहिचाना जा सकता है।

१. सातवें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा का ही अवलंबन करता है; अतः उसे परपदार्थों का अवलंबन नहीं है।

२. आठवें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा में से आता है। अतः ज्ञान परपदार्थों में से नहीं आता है।

३. नवमें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा का ही आश्रय करता है। अतः ज्ञान पर द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

४. दसवें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा में ही एकाग्र होता है, परपदार्थों में एकाग्र नहीं होता है; अतः उसमें मलिनता नहीं है।

५. ग्यारहवें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा को ही ग्रहण करता है; परन्तु परपदार्थ, कर्म आदि का ग्रहण नहीं करता है, अतः यह असंयुक्त है।

इस ग्यारहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है हू अ =

नहीं, लिंग = उपयोग, ग्रहण = पौद्गलिक कर्म का ग्रहण अर्थात् उपयोग को पौद्गलिक कर्म का ग्रहण नहीं होता, अतः आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त है।

इसप्रकार अपना ज्ञान-उपयोग भी ज्ञेय है। वह ज्ञेय पुद्गलकर्म को ग्रहण नहीं करता है; जिससे उपयोग लक्षणयुक्त आत्मा भी पुद्गलकर्म को ग्रहण नहीं करता है हू ऐसा तेरा स्वज्ञेय जिसप्रकार है, उसप्रकार तू जान; ऐसा आचार्य भगवान आदेश देते हैं।

ज्ञेय जिसप्रकार है, उसीप्रकार यथार्थ जानना-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का कारण है और उससे धर्म और शांति होती है।

आत्मा का उपयोग अर्थात् ज्ञान का व्यापार है, उसमें पौद्गलिक कर्म का ग्रहण नहीं है। स्वसन्मुख उपयोग को यहाँ उपयोग कहते हैं। जो पर सन्मुख दृष्टि करता है, उसे पुण्य-पाप का परिणाम होता है। पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा नहीं हैं; परन्तु आस्रव हैं हू विकार हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। आत्मा उपयोगलक्षण द्वारा कर्म का ग्रहण नहीं करता है। जो स्वसन्मुखता नहीं छोड़ता है, उसे उपयोग कहते हैं।

**ज्ञान उपयोग को पर का आलंबन नहीं है हू**

सातवें बोल में कहा था कि ज्ञान उपयोग को ज्ञेयों का अवलंबन नहीं है। उपयोग को स्वज्ञेय/आत्मपदार्थ का अवलंबन है। स्व में परज्ञेयों का अभाव है। जिसमें जिसका अभाव है, उसका अवलंबन नहीं हो सकता है। अतः आत्मा को उन ज्ञेयों का अवलंबन नहीं है। स्व का अवलंबन करता है, उसी को उपयोग कहते हैं और जो ज्ञान परपदार्थ का अवलंबन लेता है, उसे उपयोग नहीं कहते हैं।

**ज्ञान उपयोग बाहर से नहीं लाया जाता है हू**

आठवें बोल में कहा था कि उपयोग परपदार्थ में से नहीं लाया जा सकता है। परपदार्थ की ओर झुके उपयोग को उपयोग ही नहीं कहते हैं, वह आत्मा ही नहीं है। जो आत्मतत्त्व की ओर झुकता है वही उपयोग है और वही आत्मा है। आत्मा में परपदार्थों तथा पुण्य-पाप का अभाव है;

अतः उपयोग पुण्य-पाप तथा परपदार्थों में से नहीं लाया जा सकता है।

### ज्ञान-उपयोग का हरण नहीं हो सकता है

नववें बोल में कहा था कि स्वसन्मुख रहकर जो कार्य करता है, वह उपयोग है। ज्ञान आत्मा का है, अतः उसे कोई अन्य वस्तु हरण करे, ऐसा नहीं बन सकता है। अन्य वस्तु का आत्मा में अभाव है, अतः ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता है। ऐसे उपयोग लक्षणयुक्त आत्मा है, ऐसा तू जान।

### ज्ञान उपयोग में मलिनता नहीं है

दसवें बोल में कहा था कि ज्ञान उपयोग में मलिनता नहीं है। जो उपयोग स्वसन्मुख झुकता है और आत्मा में एकाकार होता है, उसे उपयोग कहते हैं। जिसका उपयोग है वह तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनंत गुणों का पिण्ड आत्मा है। ज्ञान आत्मा का है तो भी जो ज्ञान, पुण्य-पाप का कार्य करता है, उसे ज्ञान ही नहीं कहते हैं; ऐसा हे शिष्य ! तू जान। ज्ञान उपयोग तेरी ओर झुकता है तो वह तेरी वस्तु कहलाती है; परन्तु पुण्य-पाप की ओर झुकता है तो तेरी वस्तु नहीं कहलाती है। स्व की ओर झुकना धर्म का कार्य है और पर की ओर झुकना अधर्म का कार्य है। जिसप्रकार सूर्य में मलिनता नहीं है, उसीप्रकार यहाँ शुद्धोपयोग में मलिनता नहीं है।

### ज्ञान उपयोग कर्म का ग्रहण नहीं करता है

ग्यारहवें बोल में कहा था कि उपयोग अपना है, वह पर को किसप्रकार ग्रहण कर सकता है? अथवा पर को ग्रहण करने में निमित्त भी किसप्रकार हो सकता है? हो ही नहीं सकता। पर की ओर झुककर कर्म बंधने में जो निमित्त हो, वह स्व का उपयोग ही नहीं है; परन्तु जो श्रद्धा, ज्ञान, स्थिरता का कार्य करता है, वह उपयोग है। उपयोग लक्षण द्वारा आत्मा पहिचाना जाता है। जो स्वसन्मुखदशा छोड़कर मलिन परिणामरूप अधर्म उत्पन्न करके कर्म को ग्रहण करने में निमित्त हो, उसे आत्मा का उपयोग ही नहीं कहते हैं। जो उपयोग आत्मा में एकाकार होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म उत्पन्न करता है; उसे आत्मा का उपयोग कहा है।

### बारहवाँ बोल

जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा विषयों का भोक्ता नहीं है; परन्तु स्व का भोक्ता है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान है**

आत्मा चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। उसमें शांति और आनन्द का सद्भाव है। इन्द्रियाँ, शरीर, लड्डू, रोटी, दाल, भात, शाक आदि पदार्थ जड़ हैं; उनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं, वे आत्मा से पर हैं। परपदार्थों का आत्मा में अभाव है और परपदार्थों में आत्मा का अभाव है। अतः आत्मा उन परपदार्थों को नहीं भोगता है। जिस वस्तु का जिसमें अभाव हो, वह उसे किस प्रकार भोग सकता है? आत्मा को इन्द्रियाँ ही नहीं हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ तो जड़ हैं; अतः उनके द्वारा आत्मा विषयों को भोगता है, यह बात झूठ है।

तथा इन्द्रियों की ओर झुक कर विषय भोगने का भाव होता है, वह आस्रव-बंध तत्त्व है, वह आत्मतत्त्व नहीं है। आत्मा विषयों को नहीं भोगता है, परन्तु हर्ष-शोक को भोगता है। उस हर्ष-शोक का शुद्ध जीवतत्त्व में अभाव है; अतः उसे आत्मा ही नहीं कहते हैं।

**साधक जीव को स्वभावसन्मुख दृष्टि की मुख्यता है; अतः वह स्व का भोक्ता है**

ग्यारहवें बोल में कहा था कि विकारी परिणाम आत्मा नहीं है; परन्तु श्रद्धा-ज्ञानरूप निर्विकारी परिणाम सहित आत्मा को ही आत्मा कहते हैं। उसे द्रव्यकर्म का ग्रहण नहीं होता है। जो अस्थिरता रूप राग-द्वेष होता है, उसे गौण करके स्वभावदृष्टि को मुख्य किया है। जो स्वभाव की ओर झुकता है, उसे कर्मबंध नहीं है। इसी न्याय से आत्मा ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभावी है। उसमें शांति, सुख और आनन्द है। अज्ञानी जीव इन्द्रिय सन्मुख होकर परपदार्थ को तो नहीं भोगता है; 'परन्तु परपदार्थ को मैं

भोगूँ, ऐसा भोक्ता का विकारी भाव आत्मा नहीं कहलाता है; क्योंकि वह आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है। परसन्मुख दृष्टि छोड़कर, स्वसन्मुख दृष्टि करके अपने अतीन्द्रिय आनंद-ज्ञान आदि को भोगता है, वही आत्मा है। सम्यग्दृष्टि को अल्प हास्य, रति के भाव होने पर भी उस ओर की दृष्टि नहीं है। परन्तु स्वभाव सन्मुख रहते हुए अपने ज्ञानसुखादि के भाव को भोगने की ही दृष्टि मुख्यरूप से होती है। अतः वह विकारी भाव का भोक्ता नहीं होता है; ऐसे आत्मा की श्रद्धा करना धर्म है।

**चैतन्य शांत अमृतरस की मिठाई छोड़कर पुण्य का भोग भिखारी की भाँति जूठन खाने के समान है ह्व**

शब्द तो पुद्गल की अवस्था है, उसमें इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। स्पर्श, रस, गंधयुक्त रूपी पदार्थों में अनुकूलता-प्रतिकूलता ही नहीं है। अज्ञानी जीव भोजन-पान के पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनको भोगने का भाव करता है; परन्तु वह उसकी भ्रांति है। परवस्तु को भोगने का भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है। लौकिक में भी जो गृहस्थ होता है, वह अपने घर में उत्तम-उत्तम वस्तुएँ खाता है; परन्तु जो जीव चूरा अथवा जूठन खाता है उसे भिखारी कहा जाता है; उसीप्रकार आत्मा का भण्डार ज्ञान, आनन्द, सुख आदि चैतन्य शक्तियों से अक्षय परिपूर्ण है, संयोग और पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर स्वभाव की दृष्टि करके, जो जीव अपनी चैतन्य निधि के भण्डार को खोलता है, उसे उसमें से स्वभाव की निर्मल पर्यायरूप ताजी मिठाइयाँ समय-समय पर मिलती है और वह उनको भोगता है। वह धर्मात्मा जीव चैतन्य-लक्ष्मी का स्वामी धनवान कहलाता है; परन्तु जो जीव अपने स्वरूप का भोग छोड़कर, शरीर को भोगूँ, भोजनपान के विकारीभाव को भोगूँ, दया-दानादि परिणाम को भोगने की इच्छा करता है, परलक्ष करता है, वह जीव तीव्र आकुलता भोगता है। वह ताजी मिठाइयाँ छोड़कर भिखारी की भाँति जूठन खाने के समान है। वह आत्मस्वरूप की लक्ष्मी का स्वामी नहीं है; परन्तु भिखारी है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है, उसे धर्म नहीं होता है।

इस बारहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह्व अ = नहीं, लिंग = इन्द्रियों द्वारा, ग्रहण = विषयों का उपभोग अर्थात् आत्मा को इन्द्रियों द्वारा विषयों का उपभोग नहीं है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। यह नास्ति का कथन है। अस्ति से आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि निर्मल पर्यायों का भोक्ता है ह्व ऐसा निर्णय होता है। इसप्रकार आत्मा स्वज्ञेय है, वह जैसा है वैसा उसका श्रद्धान करना सम्यक्त्व अर्थात् धर्म का कारण है।

अहो ! महा समर्थ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने एक अलिंगग्रहण शब्द में से बीस बोल निकाले हैं, प्रगट किये हैं। बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रथ भावलिङ्गी मुनि छट्टे-सातवें गुणस्थान में झूलते थे। बाह्य में नग्न दिगंबरदशा थी और अन्तर में राग की चिकनाई के स्वामित्वरहित रूखी दशा वर्तती थी। आचार्यदेव ने चैतन्य में विश्राम करते-करते, चैतन्य उपवन में रमण करते-करते बीस बोल प्रगट किये हैं।

### तेरहवाँ बोल

लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होनेवाला) नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा जड़प्राणों से जीवित नहीं रहता है; ऐसा स्वज्ञेय को तू जान !**

पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु ह्व ये दस प्राण हैं; परन्तु जीव उनसे जीवित नहीं रहता है; क्योंकि वे दसों प्राण जड़ हैं और आत्मा तो शाश्वत चैतन्यप्राण वाला है। जड़प्राण का आत्मा में अभाव है; अतः आत्मा जड़प्राण से जीवित नहीं रहता है।

**अज्ञानी का प्राण संबंधी भ्रम ह्व**

अज्ञानी मानता है कि जबतक श्वास और आयु टिकती है, तबतक जीव जीवित रहता है, मन-वचन-काया हो तो टिकता है, पाँचों इन्द्रियाँ ठीक रहें तो जीव टिकता है, वाणी ठीक बोली जाती हो, तबतक जीव

कहलाता है, मन निर्बल हो गया हो तो जीव से कम कार्य होता है; परन्तु यह सब भ्रम है; क्योंकि मन, वचन, काया तो सर्व जड़पदार्थ हैं, आत्मा उनसे जीवित नहीं रहता है। तथा अज्ञानी मानता है कि ह

**पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख हो घर में माया।**

**तीजा सुख कुलवन्ती नारी, चौथा सुख पुत्र आज्ञाकारी।।**

इसप्रकार अज्ञानी शरीर, पुत्र, स्त्री आदि में सुख मानता है, यह महा भ्रम है। यहाँ तो पाँच इन्द्रियाँ आदि जड़पदार्थों को निकाल दिया है, उनसे जीव जीवित नहीं रहता है तो दस प्राण से प्रत्यक्ष पृथक् बाह्य पदार्थ पुत्र, स्त्री, अनाज आदि सुख के कारण कहाँ से हो सकते हैं? वे सुख का कारण ही नहीं है। अज्ञानी पैसे को भी प्राण मानते हैं, यह सब स्थूल भ्रम है। दस प्राण तो अजीवतत्त्व हैं। अजीव तो जीव का ज्ञेय है; अतः जीव ऐसे दस अजीव प्राणों से नहीं जीवित रहता है।

**आत्मा चेतनाप्राण से जीवित रहता है ह**

इसप्रकार आत्मा माता-पिता के शुक्र और रज का अनुसरण करके होने वाला नहीं है और उनके द्वारा उत्पन्न नहीं होता है। आत्मा दस प्राणवाला नहीं है, आदि सब कथन नास्ति से किया है तो आत्मा कौन है? कैसा है? आत्मा सदाकाल अपने चेतनाप्राण से जीवित रहता है और अपने परमबोध और आनन्द का अनुसरण करके रहनेवाला है। अनादिकाल से तेरी दृष्टि दस प्राण पर है और तू मानता है कि जीव इनसे जीवित रहा है ह तेरी इस दृष्टि को छोड़ दे और 'तू चैतन्यप्राणस्वरूप है', ऐसी दृष्टि कर।

इस तेरहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह अ = नहीं, लिंग = इन्द्रिय, मन, ग्रहण = जीवत्व को धारण कर रखना अर्थात् आत्मा इन्द्रिय और मन आदि लक्षण द्वारा जीवत्व को नहीं धारण करता है ह ऐसा भाव समझकर स्वज्ञेय की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म का कारण है।

## चौदहवाँ बोल

लिंग का अर्थात् मेहनाकार का (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) ग्रहण जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा, जड़ इन्द्रियों के आकार को ग्रहण नहीं करता है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान ह**

जो इस शरीर की इन्द्रियों का आकार दिखाई देता है, जीव ने उसे ग्रहण नहीं किया है। जो पुरुष की इन्द्रिय की, स्त्री की इन्द्रिय की, नपुंसक की इन्द्रिय की आकृतियाँ दिखाई देती हैं; वे तो सब पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। उन आकृतियों का आत्मा में अभाव है और उस आकार में आत्मा का अभाव है। जिस वस्तु का जिसमें अभाव होता है, उस अभावरूप वस्तु का ग्रहण हो, ऐसा बन ही नहीं सकता। अतः आत्मा इन्द्रिय के आकार का ग्रहण नहीं करता है।

**अज्ञानी जीव आत्मा को लौकिक साधनमात्र मानता है ह**

अज्ञानी माता कहती है कि मैंने पुत्र को जन्म दिया, पुरुष कहता है कि मेरे कारण पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र के शरीर में पुत्र के आत्मा का भी अभाव है तो पुत्र के शरीर के आकार में माता-पिता निमित्त हों, ऐसा कैसे बने? तथा आत्मा में इन्द्रियों का अभाव है तो निमित्त होने का प्रश्न ही नहीं रहता है तो भी पुत्र का जन्म होने पर पिता विजयी हुआ और पुत्री का जन्म होने पर माता विजयी हुई, अज्ञानी भ्रम से ऐसा मानता है।

**आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है ह**

इन्द्रियों की समय-समय की पर्याय को आत्मा ने ग्रहण ही नहीं किया है। आदि में माता-पिता थे तो वंश चलता रहा, ऐसा मानना वह भ्रम है। पर की पर्याय कौन कर सकता है? कोई नहीं कर सकता है। शरीर के आकार की अवस्था उसके कारण और इन्द्रियों की अवस्था उनके कारण होती है। आत्मा उनको ग्रहण नहीं करता है। परज्ञेय की आकृति का आत्मा में अभाव है। अतः आत्मा कुटुम्ब का वंश रखे, ऐसा अथवा लौकिक साधनामात्र है ही नहीं।

**आत्मा वीतरागी पर्याय प्रगट करने में लोकोत्तर साधन है ह**

आत्मा कैसा है? लौकिक साधन नहीं है, परन्तु लोकोत्तर साधन है। आत्मा चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभावी है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय का (प्रजा का) उत्पादक है; परन्तु संसार की प्रजा का उत्पादक नहीं है। इसप्रकार आत्मा वीतरागी पर्याय को जन्म देता है। ऐसी वीतरागपर्याय का साधन त्रिकाली शुद्ध आत्मा हुआ; अतः उसे लोकोत्तर साधन कहते हैं।

इस चौदहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह अ = नहीं, लिंग = पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार, ग्रहण-पकड़ना। आत्मा पुरुषादि की इन्द्रिय के आकार को ग्रहण नहीं करता है, अतः आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है। आचार्य भगवान कहते हैं कि तू जड़ इन्द्रियों का आश्रय छोड़ और चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिरता कर तो तेरे में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्यरूप पर्याय प्रगट होगी। अतः आत्मा लोकोत्तर साधन है।

इसप्रकार आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है, परन्तु लोकोत्तर साधन है; ऐसा स्वज्ञेय का ज्ञान-श्रद्धान करना वह धर्म का कारण है।

### पन्द्रहवाँ बोल

लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला ह लोकव्याप्तिवाला नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा लोक व्याप्तिवाला नहीं है; ऐसा स्वज्ञेय को तू जान ह**

अन्य मतावलंबी आत्मा को लोकव्यापक मानता है। अमुक लोगों का मानना है कि आत्मा विभाव से पृथक् अर्थात् मुक्त होता है, तब सम्पूर्ण लोकप्रमाण व्याप्त हो जाता है। जिसप्रकार पक्षी के पंख टूट जाने पर पक्षी वहीं का वहीं पड़ा रहता है और हिलता-चलता नहीं है; उसीप्रकार

इस आत्मा के पुण्य-पापरूपी पंख टूट जाने पर वह लोक में व्याप्त होकर पड़ा रहता है, वह अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव से व्यवहार से ऊँचाई पर नहीं जाता है; ऐसा अनेक पाखंडी मानते हैं। जबतक अशुद्ध होता है, तबतक मर्यादित क्षेत्र में रहता है; परन्तु शुद्ध होने के पश्चात् अमर्यादित क्षेत्रप्रमाण रहता है, ऐसा पाखण्डी लोक मानते हैं, परन्तु यह बात झूठ है।

**आत्मा अपने असंख्यप्रदेशात्मक क्षेत्र में ही रहता है ह**

प्रत्येक आत्मा जिसप्रकार संसार में प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रहता है; उसीप्रकार मुक्त होने के पश्चात् भी भिन्न-भिन्न रहता है। वह लोक में व्याप्त नहीं होता है, अपने असंख्य प्रदेश को छोड़कर लोक में व्याप्त होना, यह उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा शुद्ध होने के पश्चात् अपने अंतिम शरीरप्रमाण से किंचित् न्यून अपने आकार में ह निश्चय से अपने असंख्यप्रदेश में रहता है और ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण व्यवहार से लोक के अग्रभाग में विराजता है।

अन्य मतवाला मानता है कि सब मिलकर एक आत्मा है और मोक्ष होने के बाद आत्मा भिन्न नहीं रहता है; परन्तु उसकी यह मान्यता झूठी है। सब मिलकर एक आत्मा हो जाये तो अपने शुद्ध स्वभाव का स्वतंत्र भोग नहीं रह सकता है। प्रत्येक आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि अनंत गुणों का पिण्ड है। प्रत्येक शरीर भिन्न-भिन्न है। इसप्रकार अनंत आत्मायें हैं, सब मिलकर एक आत्मा नहीं है। तथा जीव शुद्ध होने के पश्चात् निश्चय से तो अपने असंख्यप्रदेश में रहता है और व्यवहार से ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में विराजता है। अतः अन्य मतवाले की मान्यता वस्तुस्वरूप से अत्यन्त विपरीत है। जीव अपने असंख्यप्रदेश में रहता है और लोक में पसरकर पर में व्याप्त नहीं होता है ह इसका नाम अनेकांत है।

इस पंद्रहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह अ = नहीं, लिंग = अमेहनाकार द्वारा, ग्रहण = लोक में व्यापकता। अर्थात् आत्मा लोकव्याप्त नहीं है, ऐसा तू तेरे स्वज्ञेय को जान। इसप्रकार अपने आत्मा



को, 'लोक व्याप्तिवाला नहीं है; परन्तु असंख्यप्रदेशात्मक आकार में निश्चित रहता है', ह्व ऐसा श्रद्धा और ज्ञान में लेना धर्म का कारण है।

### सोलहवाँ बोल

जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है', इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा द्रव्य से अथवा भाव से स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक नहीं है; ऐसा तू जान ह्व**

शरीर का आत्मा में अभाव है। चौदहवें बोल में कहा था कि पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार आत्मा में नहीं है। यहाँ कहते हैं कि स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक शरीर का आत्मा में अभाव है; क्योंकि वह जड़ है अजीवतत्त्व है और आत्मा तो जीवतत्त्व है।

**वेद का विकारी भाव त्रिकाली स्वभाव में नहीं है ह्व**

अपना स्वभाव आनंदस्वरूप है, उसे भोगने से च्युत होकर परशरीर को भोगने का भाव होता है। वह भाववेदरूप अशुभभाव है, वह पापतत्त्व है। आत्मा जीवतत्त्व है, अतः उस भाववेद का त्रिकाली आत्मस्वभाव में अभाव है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य तथा भाव वेदों से रहित है। परन्तु कोई कहता है कि पुरुष, स्त्री आदि का शरीर द्रव्यवेद है और आत्मा में होनेवाले विकारी वेदभाव भाववेद हैं, ऐसा बिल्कुल नहीं है, यह तो मात्र भ्रम है ह्व वह कथन तो झूठा है। यहाँ तो कहते हैं कि संसार अवस्था में अपने स्वभाव से च्युत होता है, उस समय किसी भी भाववेद का उदय तो है और बाह्य में कोई भी द्रव्यवेद तो है, परन्तु वह आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में नहीं है; ऐसा उस द्रव्य तथा भाववेद का स्वभावदृष्टि के द्वारा निषेध कराया है।

**आत्मा अवेदी है और उसके लक्ष से धर्म होता है ह्व**

आत्मा अवेदी है, इसप्रकार सच्चा ज्ञान कब किया कहलाता है? द्रव्यवेद जो अजीव है क्या उसके सन्मुख देखने से सम्यक्त्व होगा?

अथवा भाववेद पापतत्त्व है क्या उसके सन्मुख देखने से सम्यक् प्रतीति होगी? नहीं, आत्मा भाववेद और द्रव्यवेद रहित अवेदी है, अपने ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध आनंद का भोग करनेवाला है, ऐसी स्वदृष्टि करे और पर की दृष्टि छोड़े तो सम्यग्दर्शन होता है और धर्म होता है। अपना आत्मा अवेदी है, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करने के पश्चात् द्रव्यवेद का, जो कि अजीव है, उसका ज्ञान करे तो व्यवहार से उसका अजीव संबंधी ज्ञान सत्य है। अपना आत्मा अवेदी है, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करने के पश्चात् भाववेद अपना अशुभ-परिणाम है, वह पापतत्त्व है ह्व ऐसा ज्ञान करे तो व्यवहार से उसका पापतत्त्व सम्बन्धी ज्ञान सत्य है; परन्तु जीवतत्त्व के यथार्थज्ञान बिना अन्य तत्त्वों का ज्ञान सच्चा नहीं होता है।

**अज्ञानी जीव पर को अपना आधार मानता है ह्व**

अज्ञानी जीव को अपने अवेदी आत्मा का भान नहीं है; अतः संयोगों तथा विकारीभाव पर उसकी दृष्टि जाती है। स्त्रियाँ कहती हैं कि हम क्या करें? हम तो अबला हैं; अतः किसी के आधार बिना जीवित नहीं रह सकती हैं। पुरुष कहते हैं कि हम बहुतों का पालनपोषण करते हैं, स्त्री, कुटुम्ब, बाल-बच्चों को हमारा आधार है। नपुंसक कहता है कि हम तो जन्म से ही नपुंसक हैं, अतः हम क्या कर सकते हैं? इसप्रकार वेद की संयोगीदृष्टि के कारण पराधीनता की कल्पना करते हैं; उनको कभी भी धर्म नहीं होता है।

**नारकी को द्रव्य और भाववेद दोनों नपुंसक होने पर भी सम्यग्दर्शन हो सकता है ह्व**

ज्ञानी कहते हैं कि इस संयोगदृष्टि को छोड़। स्त्री का, पुरुष का अथवा नपुंसक का शरीर ही तेरा नहीं है। जब शरीर ही तेरा नहीं है तो शरीर के निर्वाह के लिये तुझे परसन्मुख देखने की क्या आवश्यकता है? तू तो तेरे ज्ञान, दर्शन आदि स्वशक्ति के आधार से जीवित है और जो भाववेद का परिणाम है वह तो पापतत्त्व है, वह तेरा जीवतत्त्व नहीं है; अतः उसकी दृष्टि छोड़। द्रव्यवेद और भाववेद सम्यग्दर्शन अथवा धर्म

को नहीं रोकता है। नारकी जीव द्रव्य और भाव से नपुंसकवेदी है तो भी आत्मा त्रिकाल अवेदी है; ऐसा भान करने से पुरुषार्थी नारकी जीव भी बहुत प्रतिकूल संयोग में होते हुए भी सम्यग्दर्शन रूप धर्म को प्राप्त कर सकता है। तू यहाँ मनुष्यत्व में धर्म प्राप्त न कर सके, ऐसा नहीं बनता है। अतः वेदों की दृष्टि छोड़ और अवेदी आत्मा की स्वसन्मुख दृष्टि कर ह इसप्रकार कहने का आशय है।

इस सोलहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह्र अ = नहीं, लिंग = स्त्री, पुरुष और नपुंसकवेद द्रव्य और भावरूप नहीं है अर्थात् आत्मा अवेदी है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। आत्मा तो अपने ज्ञान, दर्शन, सुख आदि का वेदक है; परन्तु शरीर तथा विकारी भाव का वेदक नहीं है ह्र इसप्रकार तेरा आत्मा तेरा स्वज्ञेय है, उसको तू जान।

इस प्रमाण से स्वज्ञेय ऐसे आत्मा को श्रद्धा और ज्ञान में लेना, वही सम्यग्दर्शन का कारण है।

यह आत्मा जिसप्रकार है, उसीप्रकार उसके असली स्वरूप को जाने और माने तो धर्म होता है। इसका मतलब यह हुआ कि उसने अपना यथार्थस्वरूप अनंतकाल से एक सैकण्ड मात्र भी नहीं जाना है। आत्मा जैसा है वैसा नहीं मानकर उसकी विपरीत मान्यता की है। अतः हे जीव ! आत्मा को अलिंगग्रहण जान। किसी भी इंद्रिय के द्वारा पर को जाने, ऐसा आत्मा नहीं है। इन्द्रियों द्वारा मुझे ज्ञान होता है, ऐसी अनादि से मान्यता की है। ऐसी मान्यतारूप भ्रम वर्तमान अवस्था में है, इन्द्रियाँ भी हैं, ऐसा स्वीकार करने पर भी उक्त दशायें आत्मा नहीं हैं, ऐसा कहा है। तथा वह इन्द्रियों से ज्ञात हो ऐसा नहीं है, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी है, ऐसा कहा है। इन्द्रियों से ज्ञान होता है, ऐसा भ्रम है; परन्तु आत्मा यथार्थतया इन्द्रियों से स्व-पर को नहीं जानता। सब बोलों में व्यवहार का ज्ञान कराके उसका निषेध किया गया है।

**आत्मा, द्रव्य तथा भाववेद से रहित है ह्र**

सोलहवाँ बोल फिर से कहा जाता है। आत्मा को लिंगों का अर्थात् स्त्री पुरुष वेदों का ग्रहण नहीं है, स्त्री-पुत्रों का आकार आत्मा में नहीं है।

व्यवहार से शरीर स्त्री-पुरुष के आकाररूप संयोग होते हैं; किन्तु वे आत्मा में नहीं हैं। स्त्री अथवा पुरुषवेद का भाव औपाधिकभाव है; परन्तु वह आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है, वह एकसमय की अवस्था है; अतः ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव को छोड़कर आत्मा को इस जितना मानना वह पर्यायबुद्धि है; भ्रम है, अज्ञान है। पुरुषादि के आकार को आत्मा मानना, वह जड़ को जीव मानने जैसा है और भाववेद को आत्मा मानना वह पापतत्त्व को जीवतत्त्व मानने जैसा है। अजीव को जीव मानना तथा पाप को जीव मानना, अधर्म है; परन्तु शरीर तथा भाववेद से रहित आत्मा शुद्धचिदानन्दस्वरूप है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म है, जीवनकला है। सुखी जीवन कैसे जीना, उसकी यह कुंजी है।

### सत्रहवाँ बोल

लिंगों का अर्थात् धर्मचिन्हों का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है'; इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

**आत्मा बाह्य धर्मचिह्नों को ग्रहण नहीं करता है; ऐसा स्वज्ञेय को तू जान ह्र**

शरीर की नग्न दिगम्बरदशा, वह धर्म का चिह्न नहीं है।

१. आत्मा शुद्धचिदानन्दस्वरूप है, ऐसा भान होने के पश्चात् स्वभाव में विशेष स्थिरता होना अंतरमुनिदशा है और जब अंतर में निर्ग्रथदशा प्रगट होती है तब बाह्य में वस्त्र आदि नहीं होते हैं अर्थात् शरीर की नग्न दिगम्बरदशा होती है तथा मयूरपीछी और कमंडल होते हैं। बाह्य में नग्नदशा ही नहीं होती है, इसप्रकार कोई मानता है तो यह स्थूल भूल है।

२. परन्तु बाह्य निमित्त-मयूरपीछी आदि तथा शरीर की नग्नदशा आदि का आत्मा में अभाव है। आत्मा उन्हें ग्रहण नहीं करता है; क्योंकि वे जड़ पदार्थ हैं, वे उनके कारण होते हैं। आत्मा उनके उठाने-रखने की क्रिया नहीं कर सकता है।

३. तथा वह नग्नदशा, मयूरपिच्छ, कमंडलु आदि हैं; अतः मुनि का

मुनिपना रहता है, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि अंतर की भावलिंगीदशा, वह मुनिपना है।

इसप्रकार व्यवहार से बाह्य संयोग का ज्ञान करा कर निश्चय में उस व्यवहार का अभाव वर्तता है; इसप्रकार कहते हैं। 'मैं शरीर की अवस्था कर सकता हूँ, दिगम्बर हूँ, मुनिपने की अवस्था जितना ही हूँ, 'इसप्रकार मुनि कभी भी नहीं मानते हैं तो भी उन्हें अंतर में मुनिदशा वर्तती है, तब शरीर की अवस्था शरीर के कारण नग्न होती है।

**शरीर की नग्नदशा आत्मा से होती है, इसप्रकार माननेवाला जीव मुनि नहीं है; अपितु मिथ्यादृष्टि है ह्व**

जो जीव ऐसा मानता है कि शरीर की नग्नदशा को मैंने किया है, मैंने इच्छा से वस्त्र का त्याग किया ह्व इसप्रकार शरीर और वस्त्र की क्रिया का जो स्वामी बनता है, वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है। अंतरंग में जब तीन प्रकार की कषाय रहित वीतरागी रमणता हो, तब देह की नग्नदशा उसके कारण होती है; जिसको ऐसा भान नहीं है और परपदार्थों की क्रिया होती है, उसका कर्त्ता-हर्त्ता होता है, वह मूढ़ है, अज्ञानी है, उसे आत्मा के धर्म की खबर नहीं है। परवस्तु के ग्रहण-त्याग का भाव ही अधर्मभाव है।

कोई कहता है कि बाह्यलिंग की धर्म के लिये आवश्यकता नहीं है। चाहे जैसा बाह्यलिंग हो तो भी धर्म हो सकता है, यह मान्यता भी बहुत भ्रमपूर्ण है। चाहे जो लिंग हो और केवलज्ञान हो तथा मुनि होकर वस्त्र-पात्र रखे और उस दशा में ही केवलज्ञान प्राप्त करे, इसप्रकार माननेवाला बहुत स्थूल भूल में है। वह तो बाह्य से भी मुनि नहीं है। पहले व्यवहार सिद्ध किया है। उतना व्यवहार स्वीकार करना पड़ेगा कि जब मुनिदशा होती है, तब नग्नदशा ही होती है और बाह्य उपकरण के रूप में मयूरपिच्छ, कमंडलु के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता है। इतना स्वीकार करने के पश्चात् यहाँ तो इसप्रकार कहते हैं कि इनसे आत्मा नहीं पहिचाना जाता है।

**इस सत्रहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह्व अ = नहीं,**

लिंग = बाह्य धर्म चिह्न, ग्रहण = ग्रहण। अर्थात् आत्मा बाह्य धर्मचिह्नों को ग्रहण नहीं करता है; परन्तु शुद्ध चिदानन्द स्वभाव को ग्रहण करता है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। ऐसा तेरे स्वज्ञेय को तू जान और श्रद्धा कर, ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं और वह सम्यग्दर्शन का कारण है।

### अठारहवाँ बोल

लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्धद्रव्य है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। तेरा अभेद आत्मा, गुणभेद का स्पर्श नहीं करता है; ऐसा स्वज्ञेय को तू जान ह्व

आत्मा वस्तु है। वह अनंतगुणों का पिण्ड है। वह मात्र ज्ञानगुणवाला नहीं है। अभेद आत्मा गुण के भेद को स्पर्श करे ऐसा नहीं है।

१. आत्मा मन, वाणी, देह का स्पर्श नहीं करता है; क्योंकि वे तो जड़ हैं, उनका आत्मा में अभाव है। जो वस्तु पृथक् हो, उसे किसप्रकार स्पर्श करे? पृथक् को स्पर्श करे तो आत्मा और शरीर एक हो जाय, परन्तु ऐसा कभी नहीं बनता है।

२. आत्मा जड़कर्म-ज्ञानावरण आदि को स्पर्श नहीं करता है; क्योंकि वे सब रूपी हैं, उनका अरूपी आत्मा में अभाव है। अज्ञानी का आत्मा भी कभी भी कर्म को स्पर्श ही नहीं करता है; क्योंकि आत्मा और कर्म में अत्यन्त अभाव वर्तता है।

३. अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से च्युत होकर अपनी एक समय की पर्याय में पुण्य-पाप के विकारी भाव होते हैं, त्रिकाली स्वभाव ने उनको कभी स्पर्श ही नहीं किया है। सम्पूर्ण वस्तु यदि विकार को स्पर्श करे तो त्रिकालीस्वभाव विकारमय हो जाये और ऐसा होने से विकाररहित होने का अवसर कभी भी प्राप्त नहीं हो।

४. आत्मा में ज्ञानादि अनंत गुण हैं। ज्ञानगुण, दर्शनगुण आदि गुणभेद आत्मा में होने पर भी अनंतगुणों का एक पिंडरूप आत्मा गुणभेद का स्पर्श नहीं करता है। 'मैं ज्ञान का धारक हूँ और ज्ञान मेरा गुण है' ऐसे

गुण-गुणी के भेद को अभेद आत्मा स्वीकार नहीं करता है। अभेद आत्मा भेद का स्पर्श करे तो वह भेदरूप हो जाये, भेदरूप होने पर अभेद होने का प्रसंग कभी भी प्राप्त नहीं हो और अभेद माने बिना कभी भी धर्म नहीं होता है।

देखो ! यह सम्यग्दर्शन का विषय कैसा होता है, उसका कथन चलता है। सम्यग्दर्शन का विषय आत्मा एकरूप कैसा है उसे यथार्थ नहीं जाने तो इस ज्ञान बिना बालतप और बालव्रत कार्यकारी नहीं होते हैं। त्रिलोकनाथ तीर्थकर देवाधिदेव ने अपने केवलज्ञान में वस्तु का स्वरूप जैसा देखा है, वैसा ही उनकी वाणी द्वारा प्रगट हुआ और उसी के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने वस्तुस्वरूप को जानकर, अनुभव कर इस महान गाथा की रचना की है। उसे मानने से सम्यग्दर्शन होता है। लोग बाह्य में 'यह करूँ, वह करूँ', इसप्रकार बाह्य पदार्थों में और क्रिया में धर्म मानते हैं। भाई ! जिसको वस्तुस्वभाव का ज्ञान नहीं है, उसे धर्म कभी भी नहीं होता है।

**सम्यग्दर्शन का विषय शुद्ध, एकाकार, अभेद आत्मा है ह**

प्रश्न : सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा कैसा है? वह जैसा है वैसा जाने तो धर्म हो। कोई जीव शक्कर को अफीम माने तो क्या उसका शक्कर का ज्ञान सच्चा कहलाता है? अथवा शक्कर और अफीम-दोनों को एक ही पदार्थ माने तो क्या उसका शक्कर का ज्ञान सच्चा कहलाता है? और शक्कर के ऊपर जो मैल है, उसको शक्कर का स्वरूप माने तो क्या सच्चा ज्ञान कहलाता है?

उत्तर : नहीं, वह सच्चा ज्ञान नहीं कहलाता है। शक्कर शक्कर है, अफीम नहीं है; दोनों भिन्न हैं। शक्कर के ऊपर का मैल भी शक्कर का स्वरूप नहीं है; उसीप्रकार शरीर को आत्मा माने तो आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता है। आत्मा और शरीर दोनों को एक माने तो भी आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता। आत्मा की पर्याय में क्षणिक विकार है, उसे अपना त्रिकाली स्वरूप माने तो भी आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता है।

शरीर-मन-वाणी रहित, विकल्परहित और गुणभेदरहित, एकाकार, अभेद आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है।

यहाँ बीसों बोल में पहले व्यवहार सिद्ध करते जाते हैं और उसके पश्चात् व्यवहार का निषेध करके निश्चय का ज्ञान कराते जाते हैं। मात्र व्यवहार को स्वीकार करे और उसमें रुक जाये तो भी धर्म नहीं होता है। **गुणभेद होने पर भी आत्मा गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है ह**

यहाँ १८वें बोल में व्यवहार सिद्ध करके निषेध कराया है। जो वस्तु हो उसका निषेध किया जाता है; परन्तु जो न हो उसका क्या निषेध हो?

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, स्वच्छत्व, विभुत्व आदि आत्मा में अनंतगुण हैं। कोई मानता हो कि ऐसा गुणभेद ही नहीं है तो उसको व्यवहार श्रद्धा भी नहीं है। एक गुण अन्य गुणरूप नहीं है ह इसप्रकार गुणभेद है, तो भी उसमें जीव रुकता है तो धर्म नहीं होता है। गुणभेद में आत्मा एकाकार हो तो आत्मा का एकत्व भिन्न नहीं रहता है। आत्मा त्रिकाली गुणों का पिण्ड है, वह सामान्य है और दर्शन, ज्ञान आदि गुण वे विशेष हैं। सामान्य विशेष को स्पर्श नहीं करता है, सामान्य सामान्य में है, विशेष विशेष में है। सामान्य में विशेष नहीं है और विशेष में सामान्य नहीं है। सामान्य ऐसे आत्मा विशेष ऐसे ज्ञानगुण को स्पर्श करे तो सामान्य और विशेष एक ही जायें, दोनों पृथक् नहीं रहें। अनंतगुणों का समूहरूप एकाकार आत्मा मात्र ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करता है। यहाँ शुद्ध द्रव्य की श्रद्धा कराई है। शरीररहित, कर्मरहित, विकाररहित, गुणभेदरहित ऐसे अभेद शुद्धद्रव्य की दृष्टि करानी है।

शुद्धद्रव्य एकरूप है, यदि वह गुणभेद का स्पर्श करे तो द्रव्य शुद्ध नहीं रहता है। गुणभेद है उसका निषेध कराते हैं। गुणभेद बिलकुल नहीं होता तो निषेध किसका करते? सामान्य विशेष में व्याप्त हो जाये तो सामान्य पदार्थ एकरूप नहीं रहता। अतः यहाँ कहते हैं कि सामान्य स्वभाव ने ज्ञानगुण को स्पर्श ही नहीं किया है। यह ज्ञानगुण है और आत्मा ज्ञानगुण का धारक है, ऐसे भेद के विकल्प से धर्म नहीं होता है, परन्तु अखण्ड ज्ञाता एकाकार है, उसकी श्रद्धा करने से धर्म होता है।

इस अठारहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह्य अ = नहीं, लिंग = गुण, ग्रहण = पदार्थज्ञान, वह जिसको नहीं है ऐसा आत्मा है। अर्थात् आत्मा गुणविशेष से अस्पर्शित ऐसा शुद्धद्रव्य है। इस बोल में ज्ञानगुण और ज्ञान का धारक आत्मा गुणी ह्य ऐसे गुण-गुणी भेद का निषेध कराकर एकाकार आत्मा की श्रद्धा कराते हैं।

गुणभेदरहित आत्मा तेरा स्वज्ञेय है, ऐसा तू जान, इसप्रकार आचार्य भगवान कहते हैं। इसप्रकार स्वज्ञेय का श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म है।

### उन्नीसवाँ बोल

लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पर्यायविशेष से अलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्धद्रव्य है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

तेरा नित्य आत्मा अनित्य निर्मल पर्याय को भी स्पर्श नहीं करता है, ऐसे स्वज्ञेय को तू जान ह्य

निर्मल पर्याय से नहीं स्पर्शित आत्मा शुद्धद्रव्य है। १८वें बोल में 'अर्थावबोध' शब्द दिया था और कहा था कि गुणभेद होने पर भी अभेद आत्मा को गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है, इसप्रकार गुणभेद का निषेध कराकर अभेद आत्मा की श्रद्धा कराई थी। यहाँ ऐसा कहते हैं कि साधकदशा में सम्यग्ज्ञान की निर्मलपर्याय को अथवा केवलज्ञान के समय केवलज्ञानी की पूर्ण निर्मल पर्याय का आत्मा चुम्बन नहीं करता है, स्पर्श नहीं करता है। द्रव्य, पर्याय जितना ही नहीं है; इसप्रकार कहकर पर्याय-अंश का लक्ष छुड़ाना है और अंशी द्रव्य की श्रद्धा करानी है।

आत्मा सामान्य एकरूप है। वह समय-समय की पर्यायमय हो जाये तो द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न नहीं रहते हैं। जिसप्रकार पर्याय क्षणिक है; उसी प्रकार द्रव्य भी क्षणिक हो जाये अर्थात् द्रव्य अनादि-अनंत नहीं रहे।

प्रवाहरूप से तूने अनादि से विकार परिणाम ही किये हैं, उनको तो आत्मा ने कभी स्पर्श किया नहीं, उनके साथ एकरूप हुआ ही नहीं। अज्ञानी भले ही मानता हो कि मैं सम्पूर्ण विकारी हो गया; परन्तु उसका आत्मा भी विपरीत मान्यता के समय द्रव्यदृष्टि से तो विकाररहित ही है;

क्योंकि यदि शुद्धद्रव्य विकारमय हो जाये तो विकाररहित होने का कभी प्रसंग ही नहीं बने; यहाँ तो यह बात ही नहीं है।

यहाँ तो इससे भी आगे की बात कहनी है कि आत्मा ज्ञाता-दृष्टा-शुद्ध स्वभावी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय को भी आत्मा स्पर्श नहीं करता है, आलिंगन नहीं करता है; परन्तु आत्मा नित्य शुद्धद्रव्य है। ऐसा तेरा ज्ञेयस्वभाव है। जैसा ज्ञेयस्वभाव है वैसा जाने तो सम्यक्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो। ऐसी अपूर्व बात अनंतकाल में सुनने को मिली है। यथार्थ समझ करके सम्यक् प्रतीति करे तो धर्म हो, परन्तु जिसको यह बात सुनने को भी नहीं मिली है, उसे तो धर्म कहाँ से होगा? अर्थात् नहीं ही होगा।

प्रश्न : द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता है, इसप्रकार कहते हो तो क्या द्रव्य, पर्याय बिना का होगा?

उत्तर : द्रव्यसामान्य, निश्चय से तो पर्याय बिना का है। द्रव्यसामान्य और पर्यायविशेष ह्य 'दोनों मिलकर सम्पूर्ण द्रव्य होता है, ऐसा द्रव्य का अर्थ यहाँ नहीं लेना। यहाँ शुद्धद्रव्य का अर्थ सामान्य, सदृश, एकरूप, त्रिकाली स्वभाव लेना। द्रव्य सामान्य है, पर्याय विशेष है। सामान्य में विशेष का अभाव है। अभाव कहते ही 'त्रिकाली स्वभाव एकसमय की पर्याय को स्पर्श नहीं करता है' ऐसा निर्णय होता है।

शुद्धस्वभावी द्रव्य वह नित्य है और निर्मल पर्याय वह एकसमय की होने से अनित्य है। नित्य ऐसा शुद्धद्रव्य अनित्य ऐसे सम्यग्ज्ञान की अथवा केवलज्ञान की पर्याय को निश्चय से स्पर्श करे तो द्रव्य नित्य नहीं रहता है अर्थात् द्रव्य के क्षणिक होने का प्रसंग आता है; परन्तु ऐसा कभी नहीं बनता है।

अनित्यपर्याय का लक्ष छोड़ और नित्यद्रव्य का लक्ष कर ह्य

जिसप्रकार १८वें बोल में कहा था कि अभेद आत्मा में भेद का अभाव है; अतः अभेद आत्मा गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है, उसीप्रकार यहाँ नित्य ज्ञानानंद शुद्धस्वभावी आत्मा त्रिकाली है; वह एकसमय की अनित्य निर्मलपर्याय का स्पर्श नहीं करता है ह्य इसप्रकार कहकर जो

निर्मल पर्याय अनित्य है, उस पर से लक्ष छुड़ाकर जो नित्यद्रव्य शुद्ध, एकरूप, अभेद पड़ा है, उस पर दृष्टि कराने का प्रयोजन है। तेरा आत्मा निर्मल पर्याय जितना नहीं है, तू तो त्रिकाली शुद्ध है। उस पर लक्ष करेगा तो सम्यग्दर्शन होगा और नित्य के लक्ष से ही निर्मलता बढ़कर परिपूर्ण निर्मलता होगी, इसप्रकार कहने का आशय (भाव) है।

इस उन्नीसवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है ह्र अ = नहीं, लिंग = पर्याय, ग्रहण = ज्ञान की निर्मल पर्याय ह्र वह जिसकी नहीं है अर्थात् शुद्धद्रव्य, ज्ञान की एक समय की निर्मलपर्याय जितना ही नहीं है; परन्तु नित्य, सदृश, सामान्य, एकरूप है; इसप्रकार तू स्वज्ञेय को जान। इसप्रकार स्वज्ञेय की श्रद्धा, ज्ञान करना धर्म का कारण है।

### बीसवाँ बोल

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

शुद्धपर्याय की अनुभूति ही आत्मा है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान ह्र सम्यग्ज्ञान की पर्याय त्रिकाली ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करती है, इसप्रकार यहाँ कथन है। लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य अर्थात् त्रिकाली ज्ञानगुण, प्रत्यभिज्ञान अर्थात् यह वही है ह्र ऐसा जो भूत-वर्तमान की संधिवाला ज्ञान, वह प्रत्यभिज्ञान है। पूर्व की स्मृति और प्रत्यक्ष के जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। ऐसे प्रत्यभिज्ञान का कारण सामान्य त्रिकाली गुण है। आत्मा, वह सामान्य त्रिकाली गुण को नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्ध पर्याय है ह्र ऐसा कहना है।

सम्यग्ज्ञान की पर्याय, शरीर के कारण नहीं है, शुभभाव के कारण नहीं है; उसीप्रकार त्रिकाली ज्ञानगुण सामान्य जो कि शक्तिरूप है, उसके कारण भी नहीं है। यदि वह पर्याय द्रव्य के कारण है, ऐसा कहो तो पर्याय का 'है पना' (अस्तित्व) नहीं रहता है, अहेतुक सत्पना (अस्तित्व) नहीं रहता है।

१८वें बोल में कहा था कि आत्मद्रव्य, सामान्य, अभेद है, वह गुणभेद-विशेष को स्पर्श नहीं करता है। १९वें बोल में कहा था कि आत्मद्रव्य सामान्य पर्याय के भेद-विशेष को स्पर्श नहीं करता है। २०वें बोल में इससे भी सूक्ष्म बात है। साधकदशा में जो सम्यग्ज्ञान की पर्याय है अथवा मोक्ष में केवलज्ञान की जो पर्याय है, वह विशेष है। वह विशेष शुभभाव अथवा शरीर के आधार से तो नहीं है; परन्तु वह, त्रिकाली ज्ञानगुण सामान्य एकरूप है, उसके कारण भी नहीं है। शुद्ध पर्यायरूप जो विशेष है, वह सामान्य के आधार से प्रगट होती है, ऐसा माना जाय तो विशेष, जो कि निरपेक्ष तत्त्व है, उसकी स्वाधीनता नहीं रहती है, पराधीन हो जाता है और अनित्यसत् शुद्धपर्याय का, जो 'है' का अभाव हो जाता है; अतः शुद्धपर्याय 'है', वह ध्रुवसामान्य का स्पर्श नहीं करती है ह्र चुम्बन नहीं करती है। स्वतंत्र अनुभव की पर्याय सामान्यद्रव्य को स्पर्श नहीं करती है; क्योंकि पर्याय द्रव्य को निश्चय से स्पर्श करें तो दोनों एक हो जायें।

प्रश्न : शुद्धपर्याय 'है', इसप्रकार कहकर पर्याय का आश्रय तो नहीं कराना है?

उत्तर : नहीं, पर्याय का आश्रय नहीं कराना है। निर्विकारी पर्याय जो विशेष है, वह सामान्य के आधार से नहीं है; इसप्रकार कहना है। निरपेक्षता सिद्ध करनी है।

निर्विकारी ज्ञानपर्याय, सामान्य ज्ञानगुण को स्पर्श करती हो तो सामान्य और विशेष एक हो जायें, भिन्न नहीं रहें। निर्विकारी पर्याय में ध्रुवसामान्य का अभाव है। अतः आत्मा, द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्ध पर्याय है।

### शुद्ध पर्याय अहेतुक है ह्र

एक ओर त्रिकाली सामान्यज्ञान गुण है, दूसरी ओर ज्ञान की निर्मल पर्याय है, दोनों एक ही समय में हैं, समयभेद नहीं है। एकसमय की पर्याय में त्रिकाली गुण का अभाव है। इसप्रकार शुद्धपर्याय अहेतुक है, अकारणीय है, उसे कोई कारण नहीं है।

१. वीतरागी निमित्त मिलने के कारण शुद्धपर्याय प्रगट हुई, इसप्रकार कोई कहता है तो वह स्वतंत्र नहीं रहती है, पराधीन हो जाती है।

२. शुभराग व्यवहार है; अतः उसके कारण शुद्धपर्याय प्रगट हुई, ऐसा कोई कहे तो भी वह स्वतंत्र नहीं रहती है, पराधीन हो जाती है।

३. 'त्रिकाली ज्ञानगुण सामान्य है; अतः सम्यग्ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई', यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर शुद्धपर्याय 'है', इसप्रकार नहीं रहता है। शुद्धपर्याय स्वतंत्र, सत्, अहेतुक है, ऐसा यहाँ कहना है।

४. वेदन-जानना तो पर्याय में ही है। अप्रगट शक्तिरूप त्रिकाली सामान्य को कोई वेदन, क्रिया अथवा जानना नहीं है ह्व ऐसा पर्याय सत् में आत्मा जानता हुआ, तब उस शुद्ध पर्याय को आत्मा कहा।

जो शुद्धपर्याय का अनुभव करता है, वह आत्मा है; जो राग का अनुभव करता है वह आत्मा नहीं है। निमित्त, विकल्प और भेद पर से दृष्टि छूटकर, चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि हुई, वह संवर-निर्जरा की अनुभूतिरूप शुद्धपर्याय हुई, वही आत्मा है ह्व ऐसा स्वज्ञेय को जान।

इसप्रकार स्याद्वादसहित स्वज्ञेय को यथार्थ जानना वह धर्म का कारण है।

अठारहवें बोल में कहा था कि आत्मा गुणभेद से नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धद्रव्य है ह्व ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

यह आत्मा कैसा है कि जिसके जानने से धर्म हो? धर्म का करनेवाला आत्मा है। धर्म के करने में शांति है अथवा बाहर से आती है? कर्ता कहो कि धर्मरूप परिणत कहो ह्व एक ही बात है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय वह धर्म है। आत्मा को जानने से अविकारी परिणाम होता है अर्थात् धर्म होता है। हे शिष्य ! तू आत्मा को अलिंगग्रहण जान। वह किसी चिह्न द्वारा पहिचानने योग्य नहीं है। जो बीस प्रकार से कहा है, ऐसा आत्मा को जाने तो उसके लक्ष से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होगी।

पाँच लाख रुपया किसप्रकार कमाया जाये? उसकी रीति (विधि) किसी को बतलाई जाये तो वह कितनी रुचि से सुनता है। वह रुपया तो

जड़ है, उसे इष्ट मानकर ममता करता है। जिसप्रकार वह ममता पैसे में नहीं है; उसीप्रकार आत्मा में भी नहीं है। अज्ञानी जीव नवीन-नवीन ममता उत्पन्न करता है। आत्मवस्तु में कृत्रिमता नहीं है, कृत्रिमता नवीन-नवीन उत्पन्न करता है। उसे दूरकर स्वभाव सन्मुख होने से सम्यक्त्व की नवीन पर्याय प्रगट होती है। वह कैसे चैतन्य स्वरूप आत्मा पर दृष्टि करने से प्रगट होती है? आत्मा कौन है? ये बातें इस बोल में आयी हैं।

हे भव्य ! तू आत्मा को अलिंगग्रहण जान, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। इस १८वें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ : अ = नहीं, लिंग = गुण, ग्रहण = अर्थावबोध अर्थात् ज्ञान। लिंग और ग्रहण के अर्थ भिन्न किये हैं। देखो ! लिंग का अर्थ तो गुण कहा है; परन्तु गुण तो सामान्य है, गुण तो अनेक हैं, उनमें से कौन-सा गुण? तो कहते हैं कि ज्ञान गुण। देखो ! ग्रहण शब्द में से ज्ञानगुण निकाला है अर्थात् आत्मा को ज्ञान गुण नहीं है अर्थात् जिसमें ज्ञानगुण और आत्मा गुणी, ऐसा भेद नहीं है, वह आत्मा शुद्धद्रव्य है।

१. शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो आत्मा में नहीं है; क्योंकि वह तो अजीव पदार्थ है, अतः उसके लक्ष से धर्म नहीं होता है।

२. दया, दान, काम, क्रोध आदि के भाव औपाधिकभाव है, कृत्रिम हैं, वे वस्तुस्वरूप में नहीं हैं। अतः उनके लक्ष से धर्म नहीं होता है।

३. आत्मा अनंतगुणरूप एक अभेद वस्तु है। उस अभेद वस्तु में 'यह ज्ञानगुण है' ऐसा भेद उत्पन्न करने पर वस्तु अभेद नहीं रहती है। ऐसे भेद के लक्ष से भी धर्म नहीं होता है। अतः यहाँ कहते हैं कि अभेद आत्मा एक ज्ञानगुण का स्पर्श नहीं करता है ह्व ऐसा तू आत्मा को जान।

यह ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेय आत्मपदार्थ कैसा है कि जिसकी श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन हो? सम्यग्दर्शन अर्थात् प्रथम धर्म ह्व अनादि काल से नहीं प्रगट हुआ अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपीधर्म, कैसे आत्मा को श्रद्धा में लेने से होता है?

आत्मस्वरूप से विपरीत मान्यतावाला अजैन है/मिथ्यादृष्टि है ह्व

१. आत्मा में परवस्तु का अभाव है; अतः जो जीव आत्मा को

शरीरवाला या कर्मवाला मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

२. तथा आत्मा में शुभाशुभ परिणाम होता है, वह पुण्य-पाप तत्त्व है, आस्रवतत्त्व है, उसे जीवतत्त्व मानना, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

३. आत्मा एक अभेदवस्तु है, उसमें ज्ञानगुण है और यह ज्ञानगुण का धारक गुणी है, इसप्रकार भेद उत्पन्न करके उसमें अटकना, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

अतः इस बोल में कहते हैं कि अभेद आत्मा ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करता है, आलिंगन नहीं करता है, वह एकरूप शुद्ध असंगी तत्त्व है। आत्मा शरीर-मन-वाणीरहित, कर्मरहित; शुभाशुभ परिणाम जितना नहीं है, उसीप्रकार गुणभेद में रुके, वैसा भी नहीं है; परन्तु शुद्ध, अभेद, एकाकार, परिपूर्ण आत्मा है, उसे दृष्टि में लेना-श्रद्धा में लेना, वह सम्यग्दर्शन है।

### पर के अभावस्वभाववाला आत्मा हू

१. शरीर, मन, वाणी, कर्म, जड़ वस्तुएँ तथा अन्य आत्मायें उन सर्व का इस आत्मा में अभाव है अर्थात् वह उनके अभाव स्वभाववाला है।

२. पुण्य-पाप के भाव त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं। अतः आत्मा उनके अभाव स्वभाववाला है। आत्मा को विकारवाला मानने से सच्ची श्रद्धा नहीं होती है।

३. सामान्य में विशेष का अभाव है। निश्चय से सामान्य पदार्थ विशेष को स्पर्श करे तो सामान्य और विशेष एक हो जायें। सामान्य, विशेष के भेद रहित अभेद एकाकार आत्मा वह शुद्धद्रव्य है।

इस बोल में लिंग का अर्थ गुण किया है; परन्तु गुण तो बहुत हैं, अतः ग्रहण शब्द का अर्थ ज्ञान किया है। अभेद आत्मा ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करता है।

अनादि से अज्ञानी जीव मानता है कि एक शरीर अन्य शरीर को रोकता है, स्पर्श करता है; एक आत्मा शरीर को स्पर्श करता है, कर्म को स्पर्श करता है और अन्य आत्मा को स्पर्श करता है; त्रिकाली स्वभाव विकार को स्पर्श करता है और गुणभेद को स्पर्श करता है; परन्तु यह सब

मान्यता भूल से भरी (भ्रमपूर्ण) है। एक का दूसरे में अभाव होने से एक दूसरे को परमार्थ से स्पर्श नहीं करता है।

इसप्रकार आत्मा गुणविशेष से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्धद्रव्य है। वस्तु अभेद है; उसमें गुण-गुणी का भेद नहीं पड़ता है। सम्यग्दर्शन का विषय सम्पूर्ण आत्मा है हू ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा अभेद-एकरूप वस्तु है। वह ज्ञानविशेष को स्पर्श नहीं करता है। उसे जाने बिना धर्म नहीं होता है। धर्म धर्मी में से उत्पन्न होता है। अभेद एकरूप आत्मा की श्रद्धा करने से नवीन धर्म पर्याय प्रगट होती है। त्रिकाली अभेदस्वभाव में ज्ञानादि गुणभेद का अभाव है हू

अभेद आत्मा ज्ञानादि गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है और सम्पूर्ण द्रव्य में ज्ञानगुण के भेद का अभाव है। दो वस्तु हों उनमें किसीप्रकार का अभाव है यह बतलाते हैं। जो वस्तु ही नहीं हो तो अभाव बतलाया नहीं जा सकता है; अतः आत्मा में ज्ञान आदि का गुणभेद है, कोई गुणभेद ही नहीं माने तो उसका व्यवहार ही सच्चा नहीं है। भेद और अभेदरूप वस्तु एक ही समय में है। इसप्रकार व्यवहार का ज्ञान कराने के पश्चात् अभेदद्रव्य में ज्ञानगुण के भेद का अभाव बतलाया है। भेद के लक्ष से सम्यग्दर्शन नहीं होता है; परन्तु अभेद के लक्ष से सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रमाण से गुणभेद से नहीं स्पर्शित अभेद आत्मा तेरा स्वज्ञेय है, ऐसा तू जान। इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान करने से धर्म होता है।

उन्नीसवें बोल में कहा था कि आत्मा ज्ञानपर्याय विशेष से नहीं स्पर्शित शुद्धद्रव्य है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसको नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा पर्यायविशेष से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्धद्रव्य है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

यहाँ लिंग अर्थात् पर्याय, परन्तु पर्याय तो अनंत हैं; अतः ग्रहण का अर्थ ज्ञान की पर्याय लिया है। वह जिसको अर्थात् आत्मा को नहीं है, वह शुद्धद्रव्य है। यहाँ आत्मा को ज्ञान की पर्याय नहीं है अर्थात् शुद्धद्रव्य



एक पर्याय जितना नहीं है। त्रिकाली द्रव्य में क्षणिकपर्याय का अभाव है, इसप्रकार कहना है।

सम्यग्दर्शन किसके आश्रय से प्रगट होता है, वह कहते हैं।

१. त्रिकाली स्वभाव यदि निमित्त का आश्रय करे तो पर के साथ एकताबुद्धि होती है, सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

२. त्रिकाली स्वभाव यदि दया-दानादि का आश्रय करे तो आत्मा विकारी हो जाये और इसलिये धर्म होने का प्रसंग नहीं बने।

३. त्रिकाली स्वभाव को यदि निर्मलपर्याय जितना माने तो भी धर्म नहीं होता है।

(१) शुद्धस्वभाव त्रिकाली है और पर्याय एकसमय की है।

(२) शुद्धस्वभाव अंशी है और पर्याय वह अंश है।

(३) शुद्धस्वभाव सामान्य है और पर्याय वह विशेष है।

निश्चय से अंशी स्वभाव, अंश को स्पर्श करे तो अंशी और अंश पृथक् नहीं रहते हैं, जो कि वस्तुस्वरूप के विपरीत है। अतः आत्मा ज्ञानपर्याय से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्धद्रव्य है।

**अपने स्वभाव का अखंडपना भूलकर अज्ञानी जीव पर में अखंडपने की कल्पना करता है ह**

जिसप्रकार लौकिक में किसी के पास पाँच करोड़ रुपये की पूँजी हो तो उसके पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू सब ऐसा मानते हैं कि हम पाँच करोड़ के स्वामी हैं। घर में २५ व्यक्ति हों उनमें एक व्यक्ति को पचीसवाँ भाग पूँजी मिलेगी, तो भी वह कहता है कि हम पाँच करोड़ के स्वामी हैं। वहाँ खण्ड भेद नहीं करता है; क्योंकि वहाँ रुचि है; उसीप्रकार अंतरस्वभाव सम्पूर्णद्रव्य को लक्ष में लेवे ऐसा है; वह खण्ड-खण्ड दशा को अथवा अधूरी दशा को लक्ष में लेवे ऐसा नहीं है। स्वयं अखण्ड वस्तु है, वह परपदार्थ से रहित, विकार से रहित, गुणभेद से रहित और निर्मलपर्याय के भेद से रहित है। जिसे उसका भान नहीं है, वह बाहर के संयोगों में जो किसी काल में अपने साथ नहीं रहते, उनमें अखंडपने की कल्पना करता

है। वे संयोग किसी काल में उसके नहीं हो सकते और अखण्डपने तो उसके साथ रहनेवाले ही नहीं हैं, तो भी अज्ञानी उनमें अखण्डपना मानकर सुख मिलने की आशा करता है, वह उसका मोह है और वह संसार का कारण है।

**धर्म की रुचिवाले जीव को त्रिकाली स्वरूप की श्रद्धा करना चाहिये ह**

अतः जिसे संसार का नाश करना हो, उसे अखंड ज्ञायक-स्वभाव की श्रद्धा करनी चाहिये। जिस स्वभाव में विकार का अभाव है, जिस स्वभाव में गुणभेद नहीं है, उसीप्रकार जो स्वभाव निर्मल ज्ञानपर्याय जितना नहीं है; परन्तु त्रिकाली एकरूप है, जो नित्यानंद ध्रुववस्तु है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन और धर्म होता है।

त्रिकाली स्वभाव को लक्ष में लिये बिना, जो जीव मात्र क्रियाकांड में धर्म मानता है, उसे कदापि धर्म नहीं होता।

१. जिनमन्दिर आदि जड़पदार्थ हैं, उन्हें आत्मा नहीं कर सकता है तो भी आत्मा उनकी क्रिया कर सकता है; इसप्रकार मानना मिथ्यात्व है।

२. तथा जिनमन्दिर के कारण राग हुआ अथवा राग हुआ; इसलिये जिनमन्दिर बना, ऐसा मानना मिथ्यात्व उत्पन्न करता है।

३. जिनमन्दिर का शुभराग हुआ; अतः जीव को धर्म होगा, इसप्रकार माननेवाला मिथ्यात्व उत्पन्न करता है।

४. पर्याय पर दृष्टि रखे; परन्तु अखंडद्रव्य को ध्यान में नहीं ले तो भी मिथ्यात्व होता है।

**त्रिकाली शुद्धस्वभावसामान्य में निर्मल ज्ञानपर्याय विशेष का अभाव है ह**

अतः जीवों को जैसा आत्मा है, वैसा जानना चाहिये। इस बोल में निर्मल पर्याय से भी नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धद्रव्य कहना है अर्थात् त्रिकाली द्रव्य में वर्तमान ज्ञानपर्याय का भी अभाव है; परन्तु वह अभाव कब कहलाता है? प्रथम, दो अंश हैं, ऐसा बतलाने के पश्चात् अभाव कहते

हैं। यहाँ शुद्ध पर्याय भविष्य में प्रगट करनी है, ऐसा नहीं लेना है; क्योंकि जो वर्तमान में न हो, उसके साथ अभाव वर्तता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। परन्तु त्रिकाली द्रव्य जिससमय है, उसीसमय शुद्ध ज्ञानपर्याय है, भूत-भविष्य में नहीं है। इसप्रकार व्यवहार से पर्याय सिद्ध की है। 'है' उसका ज्ञान कराया है, तत्पश्चात् कहा है कि शुद्ध ज्ञानपर्याय तो वर्तमान जितनी (मात्र) है और उस वर्तमानपर्याय का त्रिकालीस्वभाव में अभाव है।

निर्मलपर्याय अंश है, उसके लक्ष से सम्यग्दर्शन नहीं होता है; परन्तु अंशी आत्मा के लक्ष से सम्यग्दर्शन होता है। अतः ज्ञान की पर्याय जो अंश है, उसका अंशी आत्मा में अभाव बतलाकर, अंशी शुद्धद्रव्य का लक्ष कराया है। आत्मा सामान्य है और पर्याय विशेष है। सामान्य में विशेष का अभाव है; इसप्रकार कहकर सामान्यद्रव्य का लक्ष कराया है।

इस बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ है अ = नहीं, लिंग = पर्याय, ग्रहण = ज्ञान की पर्याय है वह जिसको नहीं है अर्थात् आत्मा शुद्धज्ञान की पर्याय को भी स्पर्श नहीं करता है है ऐसा शुद्धद्रव्य है, इसप्रकार स्वज्ञेय को जान।

इस स्वज्ञेय श्रद्धा-ज्ञान में लेना, वह धर्म का कारण है। अब इस बीसवें बोल में कहते हैं कि आत्मा सामान्य त्रिकाली द्रव्य से नहीं स्पर्शित, ऐसा शुद्धपर्याय है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसको नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्ध पर्याय है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

पहले प्रत्यभिज्ञान का अर्थ कहते हैं। आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनकी समय-समय अवस्था होती है। गुण ध्रुव रहते हैं। प्रत्यभिज्ञान एकसमय की ज्ञान की पर्याय है। यह वही वस्तु है जो पूर्वकाल में देखी थी; ऐसे जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उस प्रत्यभिज्ञान की पर्याय का कारण त्रिकाली ज्ञानसामान्य है।

आत्मा त्रिकाली ज्ञानसामान्य से नहीं स्पर्शित शुद्धपर्याय है,

अविकारीज्ञान की पर्याय त्रिकाली गुण के आधार से प्रगट नहीं होती है। निश्चय से उसको सामान्य का भी आधार नहीं है है ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

देखो ! यहाँ सूक्ष्म बात ली है। अठारहवें बोल में ऐसा कहा था है त्रिकाली द्रव्य सामान्य, वह ज्ञानरूप गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है। आत्मा में ज्ञानगुण का भेद नहीं है अर्थात् आत्मा सामान्य अभेदरूप है, ऐसा कहा था। उन्नीसवें बोल में ऐसा कहा था है त्रिकाली द्रव्यसामान्य में ज्ञान की पर्याय नहीं है अर्थात् सामान्य में विशेष नहीं है, सामान्य में विशेष का अभाव है; ऐसा कहा था। यहाँ बीसवें बोल में कहते हैं कि एकसमय की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य का अभाव है। ज्ञानगुण की पर्याय त्रिकाली ज्ञानगुण के आधार से नहीं है, विशेष सामान्य के आधार से नहीं है। एकसमय की सम्यग्ज्ञान की पर्याय अथवा केवलज्ञान की पर्याय निरपेक्ष है। त्रिकाली गुण के आधार से वह प्रगट नहीं होती है; इसप्रकार निरपेक्षता बतलाई है। इसप्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञान से नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धपर्याय है; ऐसा यहाँ बतलाया है।

निर्विकारी ज्ञान की पर्याय प्रगट करनी है, उसका यहाँ प्रकरण नहीं है। शुद्धपर्याय 'है' उसका प्रकरण है। शुद्धपर्याय है, यह विशेष है। विशेष 'है' इसप्रकार कहते ही यह त्रिकाली ज्ञानसामान्य के आधार से नहीं है; इसप्रकार निर्णय होता है। पदार्थ 'है' इसप्रकार कहते ही, यह पर से नहीं है, इसप्रकार निर्णय होता है। पर्याय 'है' इसप्रकार कहो, तत्पश्चात् पर से 'है' ऐसा कहो तो उसका 'है' पना सिद्ध नहीं होता है। विशेष की अपेक्षा से सामान्य पर है; क्योंकि विशेष वह सामान्य नहीं है।

सामान्य के आधार से विशेष मानने में आये तो विशेष निरपेक्ष सिद्ध नहीं होता है। विशेष को पराधीन माने तो पराधीनदशा होती है, वह पर्यायबुद्धि है।

आत्मा अनादि से द्रव्य से शुद्ध है और उसके आश्रय करने से निर्मलपर्याय प्रगट होती है, अतः पर्याय में द्रव्य का अभाव वर्तता है;

यहाँ ऐसा नहीं बतलाना है। यहाँ तो प्रगटित शुद्धपर्याय है, उसकी बात है। शुद्ध पर्याय पहले नहीं थी और तत्पश्चात् द्रव्य के आश्रय से प्रगट हुई, अतः पर्याय में द्रव्य का अभाव वर्तता है; इसप्रकार कोई तर्क करे तो वह तर्क मिथ्या है, यह बात ही यहाँ नहीं लेना है। यहाँ तो निरपेक्ष कथन करना है। शुद्धपर्याय पहले नहीं थी और बाद में प्रगट हुई, ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता है। निरपेक्ष कहो और सामान्य के आधार से कहो तो निरपेक्षपना स्वतंत्र नहीं रहता है। तथा शुद्ध पर्याय में त्रिकाली सामान्यज्ञान का अभाव है अर्थात् विशेष में सामान्य का अभाव है। अभाव किनमें बतलाया जाता है? दो अंश वर्तमान में हों, उनमें अभाव बतलाया जाता है। जो वह अस्तिरूप वस्तु ही नहीं हो तो अभाव नहीं बताया जा सकता है।

जिसप्रकार १८वें बोल में कहा था कि द्रव्य अभेद है, उसीसमय ज्ञानादि गुणभेद है तो सही; किन्तु अभेदस्वभाव में ज्ञानादि गुणभेद का अभाव है; अतः द्रव्य ज्ञान को स्पर्श नहीं करता है।

१९वें बोल में कहा था कि गुण सामान्य है, उसीसमय ज्ञान की निर्मल पर्याय है; परन्तु सामान्य शक्तिस्वरूप द्रव्य में ज्ञान की निर्मलपर्याय का अभाव है अर्थात् सामान्य में विशेष का अभाव है; अतः द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता है।

यहाँ २०वें बोल में इसप्रकार कहते हैं कि जब शुद्धपर्याय है; उसीसमय त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है; परन्तु ज्ञान की शुद्धपर्याय में द्रव्यसामान्य का अभाव है अर्थात् विशेष में सामान्य का अभाव है; अतः शुद्धपर्याय सामान्यद्रव्य को स्पर्श नहीं करती है।

शुद्धपर्याय में सामान्य का अभाव है; क्योंकि विशेष में सामान्य का अभाव नहीं हो तो विशेष और सामान्य एक हो जायें; वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। विशेष विशेष से ही है, सामान्य से नहीं है।

यहाँ विशेष निरपेक्ष है, यह सिद्ध करना है।

१८-१९-२०वें बोल में दो-दो प्रकार वर्तमान में सिद्ध करके एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते हैं; इसप्रकार कहकर अभेद की श्रद्धा कराना है।

१८वें बोल में गुणभेद का गुणी में अभाव बताकर, अभेद गुणी सम्यग्दर्शन का विषय होता है, ऐसा बतलाया है।

१९वें बोल में प्रगट हुई सम्यग्ज्ञान की पर्याय है, उसे सामान्य, ध्रुव, ज्ञाता-दृष्टा सदृश स्वभाव स्पर्श नहीं करता है, ऐसा बतलाकर सामान्य ध्रुव सदृश स्वभावरूप आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है, ऐसा बतलाया है।

२०वें बोल में ऐसा कहते हैं कि वर्तमान निर्मलज्ञानपर्याय ध्रुव ज्ञानस्वभाव को स्पर्श नहीं करती है। शुद्धपर्याय वर्तमान में प्रगट है। 'है' उसकी बात है। शुद्धपर्याय पहले नहीं थी और तत्पश्चात् ध्रुव के लक्ष से प्रगट होगी, उस सापेक्षता की बात ही नहीं लेनी है। शुद्धपर्याय है, है और है, सामान्य ध्रुव भी है; परन्तु शुद्धपर्याय सामान्य के कारण नहीं है; क्योंकि विशेष में सामान्य का अभाव है।

१. शुद्ध प्रगट हुई पर्याय, देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त मिला ह इसकारण प्रगट होती है, ऐसा नहीं है।

२. शुद्ध प्रगट हुई पर्याय, पुण्य का शुभभाव है; अतः प्रगट हुई है, ऐसा नहीं है।

३. शुद्ध प्रगट हुई पर्याय, सामान्य ज्ञानगुण शक्तिरूप है, अतः प्रगट हुई है; ऐसा भी नहीं है।

४. पूर्व की अनुभूति के कारण वर्तमान अनुभूति हुई, ऐसा भी नहीं है। शुद्धपर्याय है ह वह निरपेक्ष है, अहेतुक है।

इसप्रकार निर्णय करने पर निमित्तों और शुभभाग पर से लक्ष तो छूटता ही है, उसीप्रकार विशेष और सामान्य के भेद पर से भी लक्ष छूटकर एकाकार वस्तु पर लक्ष जाता है।

सब गुण असहाय कहे हैं। एक गुण से अन्य गुण का अभाव है, उसे अतद्भाव कहते हैं। दर्शनगुण ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता है और ज्ञानगुण दर्शन की अपेक्षा नहीं रखता। जिसप्रकार गुण असहाय हैं, स्वतंत्र-निरपेक्ष हैं; उसीप्रकार ज्ञान की शुद्ध प्रगट पर्याय है, वह ज्ञानगुणसामान्य की अपेक्षा नहीं रखती है। शुद्धपर्याय में त्रिकाली ज्ञानगुण का अभाव है।

एक-एक शुद्धपर्याय-सम्यग्ज्ञान की अथवा केवलज्ञान की हृ असहाय है, निरपेक्ष है।

**प्रश्न :** निरपेक्ष पर्याय कहकर क्या पर्यायदृष्टि करानी है?

**उत्तर :** नहीं, पर्यायदृष्टि नहीं करानी है। समय-समय की पर्याय सत् अहेतुक है। वह निमित्त की अथवा राग की अपेक्षा नहीं रखती है, किन्तु ज्ञानगुण सामान्य है, उसकी भी अपेक्षा नहीं रखती है। इसप्रकार उसकी निरपेक्षता बतलाई है। जो शुद्धपर्यायरूप परिणामित है, वही आत्मा है, आत्मा स्वयं ही शुद्धपर्याय है। इसप्रकार बतलाकर द्रव्यदृष्टि कराई है। सामान्य तथा विशेष के भेदवाला आत्मा सम्यग्दर्शन का ध्येय नहीं है। शुद्धपर्याय, वही आत्मा है; इसप्रकार कहकर अभेददृष्टि कराई है।

इस प्रमाण से यहाँ अलिंगग्रहण का अर्थ ह्र अ = नहीं, लिंग = प्रत्यभिज्ञान का कारण, ग्रहण = त्रिकाली सामान्यज्ञान अर्थात् जिसको ज्ञानसामान्य नहीं है, ऐसा आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञान से नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धपर्याय है। आत्मा स्वयं ही शुद्धपर्याय है। आत्मा और शुद्धपर्याय में भेद नहीं है, इसप्रकार तेरे स्वज्ञेय को जान। ऐसे स्वज्ञेय आत्मा को जानना-श्रद्धा करना धर्म है। ●

### सच्चा उदासीन भाव

लोगों को दूसरों का दुःख सुनकर प्रायः वैराग्य आ जाता है; परन्तु वह वैराग्य सच्चा नहीं है। जीव को दुख अप्रिय है, इसलिए प्रायः दुःख की बात सुनने पर उदासीन भाव हो जाता है; परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उसे संसार से सच्चा वैराग्य हो गया। उसे तो चक्रवर्ती की ऋद्धियाँ सुनकर हर्ष होता है। संसार से विरक्त भाव वाले को तो चक्रवर्ती की ऋद्धि या नारकी के दुःख दोनों में संसार का दुःख एक-सा लगता है। दोनों में एक-सा उदासीन भाव होता है।

**ह्र दृष्टि का निधान, पृष्ठ-२४**

### प्रवचनसार गाथा १७३

अब, अमूर्त ऐसे आत्मा के स्निग्ध रुक्षत्व का अभाव होने से बंध कैसे हो सकता है ह्र ऐसा पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं।

**मुक्तो रूपादिगुणो बज्झादि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।**

**तत्त्विवरीदो अप्पा बज्झादि किध पोग्गलं कम्मं॥१७३॥**

( हरिगीत )

मूर्त पुद्गल बंधे नित स्पर्श गुण के योग से।

अमूर्त आत्म मूर्त पुद्गल कर्म बाँधे किसतरह॥१७३॥

**अन्वयार्थ :** ह्र [ मूर्तः ] मूर्त (ऐसे पुद्गल) तो [ रूपादिगुणः ] रूपादिगुणयुक्त होने से [ अन्योन्यैः स्पर्शैः ] परस्पर (बंधयोग्य) स्पर्शों से [ बध्यते ] बंधते हैं; (परन्तु) [ तद्विपरीतः आत्मा ] उससे विपरीत (अमूर्त) ऐसा आत्मा [ पौद्गलिकं कर्म ] पौद्गलिक कर्म को [ कथं ] कैसे [ बध्नाति ] बाँधता है?

**टीका :** ह्र मूर्त ऐसे दो पुद्गल तो रूपादिगुणयुक्त होने से यथोक्त स्निग्धरुक्षत्वरूप स्पर्शविशेष (बंधयोग्य स्पर्श) के कारण उनका पारस्परिक बंध अवश्य समझा जा सकता है; किन्तु आत्मा और कर्मपुद्गल का बंध होना कैसे समझा जा सकता है? क्योंकि मूर्त ऐसा कर्मपुद्गल रूपादिगुणयुक्त है, इसलिये उसके यथोक्त स्निग्धरुक्षत्वरूप स्पर्शविशेष का संभव होने पर भी अमूर्त ऐसे आत्मा को रूपादिगुणयुक्तता नहीं है इसलिये उसके यथोक्त स्निग्धरुक्षत्वरूप स्पर्शविशेष का असंभव होनेसे एक अंग विकल है। (अर्थात् बंधयोग्य दो अंगों में से एक अंग अयोग्य है ह्र स्पर्शगुणरहित होने से बंध की योग्यतावाला नहीं है।)

### गाथा १७३ पर प्रवचन

पुद्गल परमाणु में रूखेपन तथा चिकनेपन के दो गुण अधिक हो तो उनका बंध होता है। जैसे चार अंशवाले का छह अंशवाले परमाणु के साथ बंध होता है, वैसे ही दो से लेकर अनंत अंश चिकने अथवा रूखे वाले हों, उनसे दो अंश अधिक रूखे अथवा चिकनेवाले हों तब बंध होता है। वे स्पर्श विशेष के कारण ही बंधते हैं यह बात समझनी चाहिए।

देखो! यहाँ शिष्य इतना तो स्वीकार करता है कि पुद्गलकर्म के स्कंध उसके रुखे-चिकनेपन के कारण बंधते हैं; जीव के राग-द्वेष के कारण नहीं बंधते। यहाँ विशेष पूछने के उद्देश्य से शिष्य पूछता है कि अरूपी का रूपी के साथ बंधन किस प्रकार होता है? आत्मा स्पर्श, रस, गंध रहित है और कर्म तो स्पर्श, रस, गंधवाला है ह्व इसकारण उन दोनों का मेल किस प्रकार हो सकता है? संसारदशा में आत्मा तथा कर्म का जो निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है, वह कैसे होता है? इसप्रकार शिष्य पूछता है।

कोई कहता है कि यह समझने में समय खराब किये बिना अपने को तो सामायिक आदि कार्य करना चाहिए, उसमें क्या बाधा है? तो भाई! एक समय के बंध की तुम्हें खबर नहीं तो अबंध आत्मा कैसा है? उसकी तुम्हें कभी खबर नहीं पड़ेगी। अबंध आत्मा के भान बिना सामायिक इत्यादि नहीं हो सकती तथा धर्म भी नहीं होता।

जिसप्रकार वीतरागी देव का रागी के साथ मेल नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा का कर्म के साथ मेल नहीं होता। भगवान की भक्ति करते हुए ऐसा कहने में आता है कि हे भगवान! आप तो राग रहित हैं और मैं रागवाला हूँ, दोनों का मेल किसप्रकार हो सकता है? कोई तुम्हारी भक्ति करे तो तुम्हें राग नहीं होता और कोई निंदा करे तो तुम्हें द्वेष नहीं होता। तुम्हारी भक्ति से जीव स्वर्ग में जाते हैं और तुम्हारी निंदा से जीव नरक में जाते हैं; पर तुम स्वर्ग में या नरक में उन्हें डालते नहीं। तुम तो वीतरागी हो, अतः मेरा तुम्हारे साथ किसप्रकार मेल हो सकता है? यदि तुम रागी हो तो मेल हो; किन्तु आप कभी रागी नहीं होते; इसलिए मैं वीतरागी हो जाऊँ तो मेल हो जायेगा।

जैसे वीतरागी का रागी के साथ मेल नहीं होता, वैसे ही आत्मा को चिकना तथा रूखापन नहीं, इसलिए बंध नहीं हो सकता। उसके एक अंग विकल कहा है (आत्मा के रूखा-चिकनापन रहितपना ही आत्मा का अंग विकलपना है) इसलिए अरूपी आत्मा का रूपी कर्म के साथ मेल किसप्रकार हो सकता है? इस गाथा में जो प्रश्न पूछा है, उसका उत्तर अगली गाथा १७४ में देते हैं। ●

### प्रवचनसार गाथा १७४

अब ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्मा अमूर्त होने पर भी उसको इसप्रकार बंध होता है :ह्व

**रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।**

**दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि॥१७४॥**

( हरिगीत )

जिसतरह रूपादि विरहित जीव जाने मूर्त को ।

बस उसतरह ही जीव बाँधे मूर्त पुद्गलकर्म को ॥१७४॥

अन्वयार्थ :ह्व [ यथा ] जैसे [ रूपादिकैः रहितः ] रूपादिरहित (जीव) [ रूपादीनि ] रूपादि को [ द्रव्याणि गुणान् च ] द्रव्यों को तथा गुणों को (रूपी द्रव्यों को और उनके गुणों को) [ पश्यति जानाति ] देखता है और जानता है [ तथा ] उसीप्रकार [ तेन ] उसके साथ (अरूपी का रूपी के साथ) [ बंधः जानीहि ] बंध जानो।

टीका :ह्व जैसे रूपादिरहित (जीव) रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को देखता है तथा जानता है; उसीप्रकार रूपादिरहित (जीव) रूपी कर्मपुद्गलों के साथ बंधता है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यहाँ भी (देखने-जानने के संबंध में भी) यह प्रश्न अनिवार्य है कि अमूर्त मूर्त को कैसे देखता-जानता है?

और ऐसा भी नहीं है कि यह (अरूपीका रूपी के साथ बंध होने की) बात अत्यन्त दुर्घट है इसलिये उसे दृष्टान्तरूप बनाया है, परन्तु दृष्टान्त द्वारा आबालगोपाल सभी को प्रगट (ज्ञात) हो जाय इसलिये दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यथा :ह्व बालगोपाल का पृथक् रहनेवाले मिट्टी के बैल को अथवा (सच्चे) बैल को देखने और जानने पर बैल के साथ संबंध नहीं है तथापि विषयरूप से रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ़ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का संबंध बैल के साथ संबंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है; इसीप्रकार आत्मा अरूपीपने के कारण स्पर्शशून्य

है, इसलिये उसका कर्म-पुद्गलों के साथ संबंध नहीं है, तथापि एकावगाहरूप से रहनेवाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त हैं ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावों के साथ का संबंध कर्मपुद्गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

**भावार्थ :**ह 'आत्मा अमूर्तिक होनेपर भी वह मूर्तिककर्मपुद्गलों के साथ कैसे बंधता है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि ह आत्मा के अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिक पदार्थों को कैसे जानता है? जैसे वह मूर्तिक पदार्थों को जानता है; वैसे ही मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बंधता है।

वास्तव में अरूपी आत्मा का रूपी पदार्थों के साथ कोई संबंध न होनेपर भी अरूपी का रूपी के साथ संबंध होने का व्यवहार भी विरोध को प्राप्त नहीं होता। जहाँ ऐसा कहा जाता है कि 'आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक पदार्थ के साथ कोई संबंध नहीं है; उसका तो मात्र उस मूर्तिक पदार्थ के आकार रूप होनेवाले ज्ञान के साथ ही संबंध है और उस पदार्थाकार ज्ञान के साथ के संबंध के कारण ही 'अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का संबन्धरूप व्यवहार सिद्ध होता है। इसीप्रकार जहाँ ऐसा कहा जाता है कि 'अमुक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बंध है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; आत्मा का तो कर्मपुद्गल जिसमें निमित्त हैं ऐसे रागद्वेषादिभावों के साथ ही सम्बन्ध (बंध) है और उन कर्मनिमित्तक रागद्वेषादि भावों के साथ सम्बन्ध होनेसे ही 'इस आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बंध है' ऐसा अमूर्तिक मूर्तिक का बन्धरूप व्यवहार सिद्ध होता है।

यद्यपि मनुष्य का स्त्री-पुत्र-धनादि के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, वे उस मनुष्य से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि स्त्री-पुत्र-धनादि के प्रति राग करनेवाले मनुष्य को राग का बन्धन होने से और उस राग में स्त्री-पुत्र-

धनादि के निमित्त होने से व्यवहार से ऐसा अवश्य कहा जाता है कि 'इस मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि का बन्धन है; इसीप्रकार यद्यपि आत्मा का कर्मपुद्गलों के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि रागद्वेषादि भाव करनेवाले आत्मा को रागद्वेषादि भावों का बन्धन होने से और उन भावों में कर्मपुद्गल निमित्त होने से व्यवहार से ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि 'इस आत्मा को कर्मपुद्गलों का बन्धन है।'

### गाथा १७४ पर प्रवचन

अरूपी आत्मा रूपी पदार्थ को जानता है। गुड़ मीठा है, नमक खारा है, यह पदार्थ तीखा है, नीम कड़वी है ह्व ऐसा आत्मा जानता है। पुद्गल की अवस्था को, अंश को जानकर यह अंशीरूप द्रव्य का ज्ञान कर लेता है। जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ हैं। जड़ को खबर नहीं कि मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय ये हैं; किन्तु आत्मा उनको जान लेता है। जिसप्रकार आत्मा रूपी पदार्थ को जानता है और देखता है; उसीप्रकार आत्मा संसार अवस्था में रूपी कर्मों के साथ बंधता है। जो आत्मा को तथा रूपी कर्म को एक क्षेत्र में बंधना अशक्य है ह्व ऐसा कहें तो यहाँ भी यह प्रश्न होता है कि आत्मा अरूपी होने पर भी रूपी को कैसे जानता है? अर्थात् जैसे अरूपी आत्मा रूपी पदार्थ को जानता है, देखता है, वैसे ही अरूपी आत्मा रूपी कर्म के साथ बंधता है, इसमें किसी भी तरह की आपत्ति नहीं।

यहाँ ऐसा नहीं कि अरूपी का रूपी के साथ बंध होने की बात बहुत कठिन है; किन्तु फिर भी दृष्टान्त से इसलिए समझाते हैं कि दृष्टान्त द्वारा आबाल-गोपाल सभी समझ सकते हैं।

एक बालक के पास मिट्टी का बैल है तथा एक वृद्ध के पास सच्चा बैल है, वह मिट्टी का बैल बालक से जुदा है और सच्चा बैल वृद्ध से जुदा है। उसके जुदा होने पर भी बालक मिट्टी के बैल को जानता है तथा वृद्ध भी सच्चे बैल को जानता है। बैल को जानते हुए बालक तथा वृद्ध दोनों

जुदे हैं। बैल के साथ उनका कोई संबंध नहीं। जैसे बालक बैल को देखता जानता हुआ ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वरूप है, वैसे ही वृद्ध भी बैल को जानता-देखता हुआ ज्ञानदर्शन उपयोग स्वरूप है और उस समय उस वस्तु को जानता है; किन्तु उस वस्तु के बदले में अगर दूसरी चीज हो उसको नहीं जानता। बालक का ज्ञान विषयी है और मिट्टी का बैल उसका विषय है। वृद्ध का ज्ञान विषयी है तथा सच्चा-बैल उसका विषय है। इस प्रकार वह आत्मा दर्शन-ज्ञान-उपयोगपने परिणाम है। ज्ञान आत्मा का है और उसमें बैल निमित्त है। ज्ञान और बैल अलग होने पर भी ज्ञान-ज्ञेय का संबंध है।

इसी दृष्टान्त से आत्मा अरूपी है, स्पर्श शून्य है; इसलिए आत्मा का स्पर्शादि वाले कर्मपुद्गल के साथ संबंध नहीं है; फिर भी जो जीव स्वयं के ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से चूककर मिथ्यात्व, राग-द्वेष करता है, उसके राग-द्वेष में कर्म निमित्त हैं, इसलिए आत्मा को कर्मपुद्गल के साथ संबंध होता है। इसप्रकार कर्म के साथ आत्मा को बंधरूप व्यवहार सिद्ध होता है।

जिसप्रकार अमूर्तज्ञान का मूर्त ज्ञेय के साथ संबंध होता है, उसीप्रकार अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ संबंध होता है।

पर-पदार्थ ज्ञेय होने पर भी अज्ञानी जीव उनको स्वयं का मानकर ममता करता है। वास्तव में पर-पदार्थ तो ज्ञान में निमित्त हैं; किन्तु अज्ञानी जीव ममत्ववश उनको ममता में निमित्त बनाता है। छोटा बालक बैल के मर जाने पर राग-द्वेष करता है; वह मनुष्य बैल के मरने पर 'मेरा बैल मर गया' ऐसा मानकर ममता करके राग-द्वेष करता है। स्त्री, कुटुंब पैसे की अवस्था में फेरफार होने पर अज्ञानी जीव राग-द्वेष करता है। वे चीज राग-द्वेष नहीं कराती; किन्तु स्वयं ये राग-द्वेष करता है तो उसको निमित्त कहते हैं। पर-पदार्थ तो ज्ञान में जानने योग्य हैं; किन्तु अज्ञानी जीव उनको अपना मानकर ममता करके उसको ममता में निमित्त बनाता है, वस्तु तो जुदी-जुदी है। जैसे बच्चे से बाप जुदा है; किन्तु बच्चा मर

जाय तो बाप दुःखी होता है, गाय से बछड़ा जुदा है, मिट्टी के बैल से बालक जुदा है, झोंपड़ी से गरीब मनुष्य जुदा है, बंगले से साहुकार जुदा है ह्व ये सभी पदार्थ जुदे हैं और ज्ञान में जानने योग्य हैं; किन्तु अज्ञानी ममता करके उनको अपना मानकर उनमें राग-द्वेष करता है और राग-द्वेष होने पर कर्मों का बंधन होता है। इसप्रकार आत्मा को कर्म का संबंध होता है।

गाथा १७२ में कहा था कि जो जीव चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का आश्रय लेता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है और विशेष स्थिरता होने पर मोक्ष होता है। यहाँ कहते हैं कि जो जीव बाह्य-पदार्थों को ज्ञेयरूप से न जानता हुआ उनमें अपनापन करता है, उसका संसार रहता है। जो जीव स्वयं का जानने-देखने रूप व्यापार नहीं करता और पर-सन्मुख रहता है, उसके राग-द्वेष होते ही हैं और राग-द्वेष होते हैं तो उसमें जड़कर्म निमित्त होता है। ऐसे पर्यायदृष्टि वाले जीव को कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहता ही है। उसका यहाँ ज्ञान कराया है। जो जीव स्व की ओर ढलता है, उसको पुराने कर्मों का निमित्त नहीं होता तथा नये कर्म नहीं बंधते; किन्तु जो जीव पर्यायबुद्धि करके राग-द्वेष करता है, उसे पुराने कर्मों का निमित्त होता है और नया कर्म बंधता है तथा वह जितने प्रमाण में राग-द्वेष करता है, उसे उतने प्रमाण कर्म में बंधता है। अज्ञानी जीव स्वयं के ज्ञानस्वभाव से चूककर राग-द्वेष में अटकता है, वही निश्चय बंध है तथा जड़कर्म का एक क्षेत्रावगाह बंध होना वह व्यवहार संबंध है। इसप्रकार राग-द्वेषादि भावों में जिसका उपयोग है, उस जीव को कर्मपुद्गल के साथ बंधरूप व्यवहार सिद्ध होता है।

यहाँ आचार्य भगवान ने कहा है कि जो भी कर्म इत्यादि पदार्थ जाने जाते हैं, वे सभी तुम्हारे ज्ञान के ज्ञेय हैं, जानने योग्य हैं। तुम्हारा उनके साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध हैं; किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानता। वह ज्ञायक नहीं रहता हुआ, पर को स्वयं का मानकर ममता करता है। इसकारण पर्यायदृष्टि वाले जीव को राग-द्वेष में जड़कर्म निमित्त होता है।

इसप्रकार अरूपी आत्मा का रूपी कर्मों के साथ संबंध होता है ह्व ऐसा सिद्ध किया।

**भावार्थ :**ह्व आत्मा अरूपी होने पर उसका रूपी कर्म पुद्गल के साथ बंध कैसे होता है? इस प्रश्न का आचार्य भगवान ने उत्तर दिया कि जिसप्रकार आत्मा मूर्तिक पदार्थों को जानता है, उसीप्रकार आत्मा रागरूप परिणमता हुआ मूर्तिक कर्मों के साथ बंधता है।

यद्यपि अरूपी आत्मा का रूपी पदार्थों के साथ वास्तव में कोई संबंध नहीं है; फिर भी अरूपी का रूपी के साथ संबंध होने का व्यवहार विरोध को प्राप्त नहीं होता। आत्मा रूपी पदार्थ को जानता है ह्व ऐसा कहने में आता है, वहाँ परमार्थ से रूपी पदार्थ के साथ आत्मा का कोई संबंध नहीं है, कारण कि आत्मा अरूपी है और पुद्गल पदार्थ रूपी हैं। अरूपी में रूपी का अत्यंत अभाव है। एक पुद्गल की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल की वर्तमान पर्याय में अन्योन्य अभाव है। लकड़ी के परमाणु पलटकर किसी समय वस्त्ररूप हो जाते हैं; इसलिए उनमें अन्योन्य अभाव कहा है; किन्तु आत्मा तथा जड़पदार्थों के बीच अत्यन्त अभाव है। किसी भी समय आत्मा जड़रूप नहीं होता और जड़ पदार्थ आत्मा रूप नहीं होते, इसलिए दोनों में अत्यन्त अभाव है ह्व ऐसा होने से दोनों में कोई संबंध नहीं।

गाथा-१७२ में कहा था कि आत्मा किसी चिन्ह से जाना नहीं जाता, इन्द्रियों से जानते नहीं, इन्द्रियों से जाना जावे ऐसा भी नहीं, अनुमान से जाना जावे ऐसा नहीं। विकार आत्मा में नहीं। एक समय की वीतरागी पर्याय भी ध्रुव में नहीं ह्व ऐसा कहा था। अब आत्मा पर-पदार्थों को मिला सकता नहीं। आत्मा ममता करता है। वह ममता आत्मा के असंख्य प्रदेशों में रहती है और वह एक समय की है। विकार का क्षेत्र असंख्य प्रदेशी होने पर भी विकार का स्वामी सम्यग्दृष्टि नहीं होता। सम्यग्दर्शन का ध्येय तो अखण्ड, निर्विकारी, परिपूर्ण आत्मा है। आत्मा शुद्ध चिदानंद है ह्व ऐसा भान होने पर जो वीतरागी पर्याय प्रगट होती है,

वह आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में होती है, फिर भी उसका काल एक समय का ही है। उस पर्याय का ध्रुव सामान्य में अभाव है और सामान्य ध्रुव का विशेष में अभाव है।

इसप्रकार वहाँ आत्मा को विकार रहित, गुण-गुणी भेद रहित, सामान्य विशेष के भेद रहित बताया था, तब फिर उस आत्मा को कर्म का बंध कैसे हो सकता है? उसकी स्पष्टता चल रही है।

अमूर्तिक आत्मा मूर्त पदार्थों को जानता है, इतना मात्र मूर्त के साथ आत्मा का संबंध है। आत्मा अमूर्त होने पर भी मूर्त पदार्थों को जानता है। खारे-मीठे पदार्थों को जानता हुआ ज्ञान खारा-मीठा नहीं हो जाता। उन पदार्थों के साथ आत्मा का कोई संबंध नहीं है; फिर भी आत्मा को उन पदार्थों का ज्ञान है और उस ज्ञान के संबंध से ही अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थों को जानता है ह्व ऐसा अरूपी-रूपी का संबंधरूप व्यवहार सिद्ध होता है। जैसे अरहंत अथवा सिद्ध परमात्मा को तीन काल के पदार्थों का संबंध नहीं तो भी वे तीन काल के पदार्थों को जानते हैं, वहाँ भी व्यवहार सिद्ध होता है।

अमूर्तिक आत्मा को राग-द्वेष में अटकने के कारण मूर्त कर्मों के साथ व्यवहार संबंध होता है। “**किसी आत्मा को मूर्तिक कर्म-पुद्गल के साथ बंध है**” ह्व ऐसा कहने में आता है, इसका खुलासा इसप्रकार है कि प्रथम तो **कोई आत्मा** कहा है अर्थात् सभी नहीं; अर्थात् जो आत्मा राग-द्वेष करता है, उसको उस परिणाम में द्रव्यकर्म निमित्त होता है। वहाँ भी रागी जीव का तो स्वयं के परिणाम के साथ ही संबंध है। जो जीव ऐसा मानता है कि कर्म के कारण मेरी दशा हीन हुई अथवा ज्ञानावरण के कारण ज्ञान हीन हुआ, उस जीव को संसार से छूटने का तो प्रसंग ही नहीं रहा; क्योंकि पर-पदार्थ और कर्म तो अनादिकाल से ही है। ज्ञान की हीनता अथवा मोह के परिणाम जो जीव करता है, वह स्वयं की भूल के कारण करता है, उन परिणाम का तथा जीव का संबंध है। यह जीव स्वयं के अपराध के कारण ज्ञान-दर्शन-वीर्य की हीनता तथा राग-द्वेष करता



है, उनके साथ ही जीव का संबंध है। उस हीनता के परिणाम में जड़-पुद्गल कर्म निमित्त हैं; क्योंकि हीनता के परिणाम स्वभाव के लक्ष्य से नहीं होते; इसलिए आत्मा को मूर्तिक कर्मों के साथ बंध है। ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का बंधरूप व्यवहार सिद्ध होता है; किन्तु परमार्थ से उनका कोई संबंध नहीं।

स्त्री-पुत्रों के प्रति ममता ही वास्तविक बंध का कारण है। संसार पर्याय अथवा मोक्षपर्याय आत्मा में होती है, जड़ में नहीं होती, जड़ के कारण नहीं होती। मनुष्य का स्त्री, पुत्र, धनादि के साथ वास्तव में कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वे पदार्थ उस मनुष्य से बिलकुल भिन्न हैं। पैसा, मकान, कपड़ा इत्यादि जड़ पदार्थ तथा स्त्री-पुत्र इत्यादि जीवों का आत्मा में अत्यन्त अभाव है। ऐसा होने पर भी पर्यायदृष्टि वाला जीव उन पर-पदार्थों में ममताभाव करके राग-द्वेष करता है। वे पदार्थ राग-द्वेष नहीं कराते, बंधन नहीं कराते। जीव स्वयं अज्ञानभाव से ममता करता है तो वे पदार्थ ममता में निमित्त कहे जाते हैं। मृत्यु होने पर पैसा आदि पदार्थ यहीं पड़े रह जाते हैं; किन्तु ममता इत्यादि के परिणाम जीव साथ में लेकर जाता है। अर्थात् जो जीव ममता करता है वह उसके ममता के निमित्त से वह स्त्री, कुटुंब, धन इत्यादि का बंधन है वह ऐसा कहने में आता है। वास्तव में उन पदार्थों का बंधन नहीं; अपितु स्वयं की ममता का ही बंधन है।

स्त्री-पुत्र बंध के कारण हैं वह यह उपचार का कथन है। आत्मा को ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के साथ संबंध नहीं; क्योंकि उनका आत्मा में अत्यन्त अभाव है। ऐसा होने पर भी जो जीव ममता करता है, पर-पदार्थों में ठीक-अठीक बुद्धि करके स्वभाव से चूककर पर में अटकता है, वह जीव स्वयं की पर्याय में राग-द्वेषादि रूप भावबंधन करता है। वह भावबंध निश्चय से है और उस भावबंध में स्त्री-पुत्रादि निमित्त हैं; इसकारण रागी जीव को स्त्री-पुत्र का बंधन होता है वह ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध वाली भावबंध पर्याय एक ज्ञेय है, उसका ज्ञान कराने का ही यहाँ प्रयोजन है। आत्मा तो पवित्र शुद्ध है, उसके

अशुद्धता कहाँ से आई? अशुद्धता स्वभाव में नहीं है तथा जड़कर्म भी अशुद्धता नहीं कराते। अशुद्धता स्वयं की पर्याय में स्वयं से हुई है और हो रही है, उसमें जड़कर्म निमित्त मात्र हैं; क्योंकि स्वयं के लक्ष्य से अशुद्धता नहीं होती; अपितु जड़कर्मों के लक्ष्य से अशुद्धता होती है। पर्याय में बिलकुल अशुद्धता नहीं वह ऐसा मानना भी मिथ्या है और मलिनता होने पर भी मलिनता का निमित्त ही न माने तो भी व्यवहार सच्चा नहीं है। मलिन पर्याय भी एक ज्ञेय हैं। मलिन पर्याय और कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है वह ऐसा यहाँ ज्ञान कराया है।

जो जीव भावबंध तथा स्वयं की पर्याय का सच्चा ज्ञान नहीं करता, वह भावबंध से रहित अपने निजस्वरूप को नहीं जान सकता। इसलिए भावबंध का द्रव्यबंध के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताकर कहा कि वे दोनों जीव के स्वरूप नहीं। जीव तो अबंधस्वभावी है वह ऐसा यथार्थ ज्ञान करना ही प्रयोजनवान है। ●

आ हा हा! (जिसकी रुचि में) सारी दुनिया को भूल जाये वह ऐसा तेरा परमात्म तत्त्व है। अरे रे! तीन लोक का नाथ होकर तू राग में रुक गया। राग में तो दुःख की ज्वाला सुलगती है, वहाँ से दृष्टि हटा ले! और जहाँ सुख का सागर भरा है, वहाँ दृष्टि लगा ले। राग को तू भूल जा! तेरे परमात्मतत्त्व को पर्याय स्वीकार करती है; परन्तु “मैं इस पर्याय रूप हूँ” यह भी भूल जा! अविनाशी भगवान के सामने क्षणिक पर्याय का क्या मूल्य है? जब पर्याय को ही भूलने की बात है, तो राग और देह की बात ही कहाँ रही? आ हा हा! एक बार तो मुर्दा भी खड़ा हो जाए अर्थात् सुनते ही उछलकर अन्दर में चला जाए वह ऐसी बात है। **हृदय दृष्टि का निधान, पृष्ठ-३**

### प्रवचनसार गाथा १७५

अब भावबंध का स्वरूप बतलाते हैं :ह

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।

पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बन्धो ॥१७५॥

( हरिगीत )

प्राप्त कर उपयोगमय जिय विषय विविध प्रकार के ।

रुष-तुष्ट होकर मुग्ध होकर विविधविध बंधन करे ॥१७५॥

अन्वयार्थ :ह [ यः हि पुनः ] जो [ उपयोगमयः जीवः ] उपयोगमय जीव [ विविधान् विषयान् ] विविध विषयों को [ प्राप्य ] प्राप्त करके [ मुह्यति ] मोह करता है, [ रज्यति ] राग करता है, [ वा ] अथवा [ प्रद्वेष्टि ] द्वेष करता है, [ सः ] वह जीव [ तैः ] उनके द्वारा (मोह-राग-द्वेष के द्वारा) [ बन्धः ] बन्धरूप है ।

टीका :ह प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है; क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है (अर्थात् ज्ञान-दर्शनस्वरूप है ।) उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह आत्मा-काला, पीला, और लाल आश्रय जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और लालपन के द्वारा उपरक्त स्वभाववाले स्फटिकमणि की भाँति ह पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा उपरक्त (विकारी, मलिन, कलुषित) आत्मस्वभाववाला होने से, स्वयं अकेला ही बंध (बंधरूप) है; क्योंकि मोहरागद्वेषादिभाव उसका द्वितीय है ।

### गाथा १७५ पर प्रवचन

जीव स्वयं के स्वभाव को न जानता हुआ जगत के पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके उनमें अटक जाता है, यही भावबन्ध है तथा यही संसार है । संसार कोई बाह्यपदार्थों में नहीं; अपितु स्वयं के अज्ञानभाव और राग-द्वेष की पर्याय में ही संसार है । अज्ञानी ऐसा मानता है कि शरीर

निरोगी हो तो लाभ होता है और रोगी हो तो नुकसान होता है । अनुकूल पदार्थ मिले तो अच्छा और प्रतिकूल पदार्थ मिले तो बुरा ह ऐसा पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके अज्ञानभाव का सेवन करता है और राग-द्वेष करता है । स्वयं ज्ञायकस्वभावी है, पर-पदार्थ ज्ञेय हैं ह ऐसा न मानता हुआ इष्ट-अनिष्टपना करके अनुकूल विषयों में राग करता है तथा प्रतिकूल विषयों में द्वेष करता है ।

१. जगत के पदार्थ हैं; इसलिए भावबन्ध होता है ह ऐसा नहीं है; कारण कि वे पदार्थ भगवान के ज्ञान में ज्ञात होते हैं; फिर भी उनको भावबंध नहीं होता । जो जीव इन चीजों से लाभ-हानि मानकर भ्रांति का सेवन करता है, उसे भावबन्ध होता है ।

२. यदि उन वस्तुओं के साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध छूट जाये तो भावबंध छूट जाय ह ऐसा भी नहीं; क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनिराज के किसी भी चीज का परिग्रह नहीं; फिर भी भावबंध नहीं छूटता; क्योंकि परपदार्थ मेरा है और मैं उसको छोड़ सकता हूँ ह ऐसी मान्यता उनके है और यही भाव-बंध है । यह मान्यता तो छूटी नहीं; इसलिए पर-पदार्थों के छूटने से भी भावबंध नहीं छूटता; अपितु पर से ममत्व छूटने से भावबन्ध छूटता है ।

प्रथम तो यह मुद्दे की बात खास ध्यान में लेने योग्य है कि यह आत्मा उपयोगमय है, देहदेवल में विराजनेवाला चैतन्यप्रभु है । एक डिब्बी में बहुत मूल्यवान हीरा रखा हुआ हो तो वह डिब्बी कोई हीरे की नहीं हो जाती, डिब्बी और हीरा जुड़े-जुड़े हैं; उसीप्रकार शरीररूपी डिब्बे से यह चैतन्य हीरा जुदा है ह ऐसा आत्मा उपयोगमय, जाननेदेखने के स्वभाव स्वरूप है ।

उपयोगमय आत्मा अर्थात् जानने देखने के स्वभाव वाला आत्मा यह जीव तत्त्व है, शरीर तथा कर्म अजीव तत्त्व है । दया-दानादि के शुभभाव पुण्यतत्त्व हैं । हिंसा, झूठ, चोरी के अशुभ भाव पाप तत्त्व हैं । पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं और उनमें अटकना भावबन्ध है । स्वयं के आत्मा की श्रद्धा करके शुद्धि प्रगट होना संवर तत्त्व है । विशेष लीनता

होने पर शुद्धि की वृद्धि होना निर्जरा तत्त्व है और परिपूर्ण शुद्धि होना मोक्ष तत्त्व है। आत्मा कितना है? क्या पुण्य-पाप भावबन्ध जितना है? नहीं, पुण्य-पाप भावबन्ध तो विकारी पर्याय हैं; इसलिए आत्मा उतना नहीं। संवर-निर्जरा जितना है क्या? नहीं, संवर-निर्जरा तो अधूरी निर्मल पर्याय है; इसलिए आत्मा उतना नहीं। तो फिर आत्मा मोक्ष जितना है? नहीं, मोक्ष तो एक समय की परिपूर्ण शुद्धपर्याय है; इसलिए आत्मा उतना नहीं। आत्मा तो अनादि-अनंत एकरूप, विकार-रहित, अपूर्णता रहित, भेदरहित, परिपूर्ण, अखण्ड उपयोगमय है। यहाँ आत्मा को उपयोगमय कहा है, उपयोगवाला नहीं कहा। उपयोग कहने से चेतनागुण और उस वाला कहने से वह गुण धारण करने वाला हूँ ऐसा ख्याल में ले तो चेतना और चेतना का धारक हूँ ऐसा गुण-गुणी का भेद लक्ष्य में आता है; अतः वह व्यवहार है। इसलिए आत्मा उपयोगमय है हूँ ऐसा कहने से चेतनारूप-ज्ञानदर्शनरूप उस समय अभेद आत्मा ख्याल में आता है। ऐसा अखण्ड आत्मा श्रद्धा में लेना ही सम्यग्दर्शन है।

अब यहाँ उपयोग के दो भेदों को कहते हैं हूँ

**१. सविकल्प :** हूँ सविकल्प अर्थात् भेद सहित जानना। जैसे यह शरीर, यह कर्म, यह जीव हूँ ऐसा सभी द्रव्यों को तथा गुण-पर्यायों को एक-एक का भेद करके जाननेवाला आत्मा का सविकल्प उपयोग है। उसको ज्ञान-उपयोग, ज्ञान चेतना, साकार उपयोग ऐसा भी कहने में आता है।

**२. निर्विकल्प :** हूँ आत्मा में राग-रहित निर्विकल्पदशा होती है हूँ यहाँ ऐसा अर्थ नहीं लेता। यहाँ तो निर्विकल्प अर्थात् भेद किये बिना सामान्य अवलोकन, उसे निर्विकल्प कहा है। यह शरीर है और यह जीव है इत्यादि कोई भी भेद किये बिना उसके होनेपने की सामान्य सत्ता का ग्रहण करना निर्विकल्प उपयोग है। जो मात्र अवलोकन करता है, वह दर्शनोपयोग है, उसे दर्शन चेतना, निराकार उपयोग ऐसा भी कहने में आता है।

इसप्रकार आत्मा ज्ञान तथा दर्शनमय है।

भावबन्ध उपयोगमय आत्मा में नहीं हूँ ऐसा आचार्य कहते हैं। शरीर, कर्म इत्यादि अजीव पदार्थ हैं, वे भी उपयोगमय आत्मा में नहीं तथा शुभ-अशुभ भाव भी उपयोगमय आत्मा में नहीं। भावबन्ध यदि आत्मा में हों तो आत्मा भावबन्धमय हो जाये और फिर कभी भी विकार रहित नहीं हो।

दया-दानादि के परिणाम पुण्य-तत्त्व हैं, उनसे थोड़ा-थोड़ा धर्म होगा हूँ ऐसा माननेवाला जीव पुण्य को धर्म मानता है, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है।

अज्ञानी पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके संसार चालू रखता है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है, उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण जुदे-जुदे पदार्थ दिखायी देते हैं। उन पदार्थों का जानने में आने का स्वभाव है तथा स्वयं का जानने का स्वभाव है; किन्तु अज्ञानी जीव जानने के स्वभाव से चूककर, कुटुम्ब के व्यक्ति अनुकूल हो तो ठीक है और शरीर में रोग हो तो ठीक नहीं, पैसा हो तो अच्छा है और गरीबी हो तो अच्छी नहीं हूँ ऐसी भ्रांति उत्पन्न करता है और अनुकूल पदार्थों में राग करता है तथा प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष करता है। ये सभी पदार्थ तो ज्ञान में जानने योग्य हैं; किन्तु अज्ञानी जीव इनको स्वयं का मानकर सुख-दुःख की कल्पना करता है, इसे मिथ्यात्व शल्य कहते हैं, इसका नाम संसार है। संसार एक ही समय का है; लेकिन यह अज्ञान के कारण प्रवाहरूप चालू रखता है।

यह ज्ञेय अधिकार है। भावबन्ध अथवा संसार भी ज्ञेय है, वह भी प्रतिभास्य है, ज्ञान में जानने योग्य पदार्थ है। भावबन्ध पर्याय में अज्ञान के कारण है। पर-पदार्थों में भावबन्ध नहीं; कर्म भावबन्ध कराते नहीं। वैसे ही भावबन्ध उपयोगमय आत्मा में नहीं। भावबन्ध एकसमय की अज्ञान से होनेवाली राग-द्वेष की पर्याय है, वह अधर्म है अनर्थ का कारण है। ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिये कि भावबन्ध उपयोगमय अबन्ध आत्मा में

नहीं। भावबन्ध तो उपयोगमय आत्मा पर्याय में उत्पन्न होता है। जब भावबन्ध नष्ट होता है, तब धर्म की पर्याय प्रगत होती है।

भक्ति का भाव पुण्य है, विकार है, अधर्मभाव है, वह उपादेय नहीं। अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव आता है; किन्तु शुभ आदरणीय नहीं; क्योंकि वह भाव शांति को लूटनेवाला है। जो राग को उपादेय माने तथा उसे धर्म का कारण माने वह जीव तो मिथ्यादृष्टि है। जीवतत्त्व को यथार्थ माने तभी धर्म होता है। जीव तो उपयोगमय है, ज्ञाताद्रष्टा स्वरूप है हूँ ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करे तो धर्म होता है।

इस जीव ने सच्ची समझ के बिना तत्त्व का विरोध करके निगोद के अनंत भव किये हैं। क्रूर परिणाम करके नरक में भी जीव अनेक बार गया है। भगवान के पास साक्षात् भक्ति की, मणिरत्न के दीपक से आरती उतारी और द्रव्यलिंगी मुनि होकर पाँच महाव्रतादि के उत्कृष्ट शुभ परिणाम करके नवमें त्रैवेयक तक गया। इसप्रकार शुभाशुभ भाव अनेक बार किये किन्तु आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, उपयोगमय है हूँ इसप्रकार श्रद्धा नहीं की, इसकारण धर्म नहीं हुआ और संसार में परिभ्रमण चालू रहा।

ज्ञेयों में अनुकूलता-प्रतिकूलता कल्पित करके अज्ञानी जीव पर्याय में भावबन्ध करता है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है, उसमें जुदे-जुदे पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। सभी पदार्थ उसमें जानने योग्य हैं; किन्तु अज्ञानी जीव अज्ञान के कारण मोह-भाव करता है। 'शरीर मेरा है, मेरे से शरीर चलता है, मेरे कारण वाणी निकलती है, स्त्री को देखकर अशुभराग होता है, भगवान की प्रतिमा मुझे कल्याणकारक है' ऐसे मिथ्याभाव करता है। उन पदार्थों की क्रिया स्वयं के कारण होती है हूँ ऐसा ज्ञान में जानना चाहिए। उसके बदले आत्मा पर का करता है और पर वस्तु आत्मा को लाभ-नुकसान करती हैं हूँ ऐसी भ्रान्ति करके राग-द्वेष करता है।

जीव अनुकूल विषयों के प्रति राग तथा प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष करके भावबन्ध करता है, वही संसार है। गाय के गले में रस्सी है वहाँ गाय और रस्सी जुदी हैं। गाय तो छूटी ही है तथा रस्सी रस्सी में है और गाय

गाय में है। वैसे ही जड़ कर्मों का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह संबंध है। कर्म जुदा हैं और आत्मा जुदा है; किन्तु अनादिकाल से जीव अज्ञान से मानता है कि जीव कर्म के कारण संसार में भटकता है, यह उसकी भ्रान्ति है और यही भावबन्ध है।

पर्यायदृष्टिवाला जीव स्वयं ही भावबन्धरूप परिणमता है। आत्मा स्फटिकमणि जैसा निर्मल है; किन्तु स्फटिक काले, पीले और लाल रंग के संयोग में आने पर अपनी योग्यतानुसार काली, पीली और लालरंगरूप से परिणमित होती है। रंग को तो निमित्त कहा जाता है; किन्तु वह रंगीन अवस्था स्फटिक का मूलस्वभाव नहीं है। उसका मूल स्वभाव तो स्वच्छरूप है। उसीप्रकार आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभावमय है; किन्तु जब वह स्वयं के स्वभाव को भूलकर पर के ऊपर लक्ष्य करता है तो स्वयं में मलिनता अर्थात् शुभाशुभ भाव उत्पन्न होते हैं। अनुकूल पदार्थों में राग करना, प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष करना, पैसे कमाने आदि के अशुभभाव में सुख मानना, दया-दानादि पुण्य भाव में धर्म मानना हूँ ये सभी मोह-मिथ्यात्व के भाव औपाधिक भाव हैं।

ऐसा मलिन परिणामरूप से परिणमा आत्मा स्वयं ही बंधरूप है। यहाँ कोई कहता है कि बंध तो दो का मिलकर होता है, अकेला आत्मा बंधस्वरूप कैसे हो सकता है? उससे कहते हैं कि एक तो आत्मा और दूसरा मोह-राग-द्वेषादिभाव हूँ ऐसा होने से मोह-राग-द्वेषादि भाव से मलिन स्वभाव वाला आत्मा स्वयं ही भावबन्ध स्वरूप होता है।

निमित्त के कारण उपादान में कार्य होता है हूँ ऐसा माननेवाला ज्ञेयों के यथार्थस्वरूप को नहीं जानता। निमित्त कहीं शुभाशुभ भाव नहीं कराते। स्वयं शुभभाव करें तो उसमें भगवान अथवा प्रतिमा को निमित्त कहा जाता है। जब स्वयं अशुभ भाव करे तो स्त्री-पुत्रादिक को उसमें निमित्त कहा जाता है। भगवान इत्यादि पर-पदार्थ पर में हैं और आत्मा आत्मा में है। यदि लकड़ी ऊँची होती है तो वह अपने कारण से होती है, अपने हाथ आदि के कारण नहीं। ऐसा होने पर भी कोई माने की हाथ

आदि से अथवा इच्छा के कारण लकड़ी ऊँची हुई तो उसने ज्ञान में प्रतिभासित ज्ञेय का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना।

**प्रश्न :** ह्व तो फिर प्रेरक निमित्त का क्या अर्थ है?

**उत्तर :** ह्व ये तो निमित्तों के भेद हैं। इच्छा करते हुए जीव को अथवा गति करते हुए पुद्गलों को प्रेरक निमित्त कहते हैं और स्थिर पड़ा हो तो उसे उदासीन निमित्त कहते हैं। प्रेरक निमित्त पर वस्तु में कुछ कर सकता हो ऐसा अर्थ नहीं है। घट बनते समय कुम्हार और चक्र प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं, वहाँ कुम्हार ने इच्छा की इसलिए चक्र नहीं चलता है तथा चक्र चलता है इसलिए घट बनता है ऐसा भी नहीं है। कोई किसी को प्रेरणा नहीं देता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र गति करता है। घोड़े के ऊपर मनुष्य बैठा हो और ऊँचा-नीचा हो तो वह स्वयं के कारण से होता है, घोड़ा दौड़ता है इसलिए ऊँचा-नीचा नहीं होता। अहो ! प्रत्येक ज्ञेय-पदार्थ प्रतिभास्य है ह्व ज्ञान में जानने योग्य है तथा ज्ञेयों का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान जानता है। ज्ञेयों में कोई अनुकूल-प्रतिकूल है ही नहीं, कोई किसी को कुछ दे ह्व ऐसा ज्ञेयों का स्वरूप नहीं।

यहाँ अज्ञानी को भावबन्ध होने के कारणों का कथन करते हुए कहते हैं कि अज्ञानी ज्ञेयों के स्वतंत्र स्वरूप को न जानता हुआ मोह-राग-द्वेष करता है और स्वयं की पर्याय में विकार उत्पन्न करके भावबन्ध करता है, यही संसार है।

१. आत्मा स्वयं के स्वभाव को न जानकर पर में अटकता है, यही भावबन्ध है, यह स्वयं के अपराध के कारण होता है; फिर भी अज्ञानी पर-पदार्थ से अथवा कर्म से अटकना होता है ह्व ऐसा मानकर मिथ्यात्व उत्पन्न करता है।

२. जिसको ऐसा भावबन्ध होता है, उसको द्रव्यबंध पुद्गल में पुद्गल के कारण होता है; किन्तु जीव ने राग किया इसलिए; द्रव्यबंध हुआ ऐसा माने तो मिथ्यात्व होता है।

३. द्रव्यबंध होता ही नहीं ह्व ऐसा मानना भी भ्रम है तथा भावबन्ध

और द्रव्यबन्ध दोनों को भिन्न नहीं माने, एक माने तो भी भ्रान्ति है।

४. शुभाशुभ भाव भावबन्ध हैं, उनकी रुचि रखना, उनको सुख का कारण मानना भी भ्रम ही है।

५. भावबन्ध तो एकसमय की विकारी अवस्था है, वह त्रिकाली नहीं; इसलिए उसे त्रिकाली मानना भी भ्रान्ति है।

उपयोगमय आत्मा के आश्रय से भावबन्ध नष्ट होता है। यहाँ भावबन्ध का स्वरूप बताकर, भ्रान्ति कैसे टले और संसार का कैसे नाश हो, यह कहते हैं। यह आत्मा उपयोगमय है, पुण्य-पाप जितना नहीं। संवर-निर्जरा जितना नहीं और मोक्ष की पर्याय जितना भी नहीं। आत्मा में वर्तमान में केवलज्ञान नहीं और बाद में केवलज्ञान होगा ह्व ऐसा उपयोगमय आत्मा का स्वरूप नहीं, कारण कि यह तो पर्याय की बात है। आत्मा तो अनादि-अनंत एकरूप ज्ञाता-दृष्टा उपयोगमय है। उपयोग नया प्रकटेगा यह बात भी नहीं। अनादि-अनंत एकरूप उपयोगमय आत्मा जानने-देखने के स्वभाव वाला है। उसका श्रद्धान-ज्ञान करके स्थिरता करने से भावबन्ध उत्पन्न ही नहीं होता इसे ही भावबन्ध का नाश करना कहा जाता है।

इसप्रकार भावबन्ध आत्मा की विकारी पर्याय है। आत्मा के लिये वह पर्याय ज्ञेय है। उसका यथार्थ ज्ञान कराकर उसको टालने का उपाय भी बताया है।

**प्रश्न :** ह्व यहाँ कोई प्रश्न करता है कि भगवान के पास शिवपद माँगने की भक्ति करे तो ठीक है न?

**उत्तर :** ह्व भाई, यह तो निमित्त का कथन है। भगवान तो वीतरागी हैं, चैतन्यस्वरूप में एकाकार हैं, सर्वज्ञ हैं, उनको जगत के ऊपर करुणा नहीं होती; क्योंकि करुणा का भाव तो राग है और भगवान रागरहित हैं। भगवान कहते हैं कि तुम्हारा शिवपद तुम्हारे पास है, तू अपने स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान करके स्थिरता करो तो तुझे शिवपद मिलेगा। जब यह जीव पुरुषार्थ से शिवपद की प्राप्ति करता है, तब भगवान को उसमें निमित्त कहा जाता है। जब तक परिपूर्ण शुद्धदशा प्राप्त न हो, तब तक शुभराग

होता है। उससमय भगवान के ऊपर आरोप करके शिवपद दीजिए ऐसा कथन होता है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान मुझे तार देंगे और कृपा करेंगे ह्व ऐसा मानना मिथ्यात्व शल्य है। कितने ही जीव मानते हैं कि भगवान आदि सारे निमित्त मिलेंगे तो धर्म होगा। भाई, निमित्त तो पर-द्रव्य हैं, उन्हें आत्मा इकट्ठा नहीं कर सकता, ग्रहण नहीं कर सकता; अतः पर-पदार्थों को मिला सकता हूँ ह्व ऐसी मान्यता खोटी है। और कदाचित् पर-पदार्थ किसी कारण से मिल जायें तो भी उससे आत्मा को लाभ अथवा नुकसान नहीं होता ह्व ऐसा समझना चाहिए।

**पुण्य-पापरूपी कीचड़ की कोठी में से स्वच्छ जल कभी प्राप्त नहीं होता।** अनादि काल से जीव अज्ञान के कारण पर-वस्तु में आनन्द मानता है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख मानता है। आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है, उसे न जानकर अनुकूल पदार्थों से लाभ मानता है और प्रतिकूल पदार्थों से नुकसान मानता है। आचार्य भगवान कहते हैं कि क्या तू आनन्द रहित है? तेरे में सुख-आनन्द है कि नहीं जो तू दूसरे से आनन्द लेने जाता है? किन्तु अज्ञानी जीव पर में सुख मानता है। कीचड़ की कोठी को धोने से कीचड़ ही निकलता है; सोना नहीं निकलता, उसीप्रकार पर वस्तु के ऊपर दृष्टि करके पर-वस्तु के हेर-फेर करने में सुख माने, पुण्य के परिणाम को सुखकर माने तो मिथ्यात्व और मलिनता ही निकलती है; किन्तु सुखरूपी स्वच्छता कभी नहीं निकलती। शुभाशुभ भाव हो वह अलग बात है; किन्तु उससे सुख मानना मिथ्यात्व है और यही भावबन्ध है।

यहाँ प्रश्न है कि आत्मा की पर्याय मोह-राग 'द्वितीय' कैसे? उत्तर देते हैं कि भावबन्ध आत्मा की अरूपी विकारी पर्याय हैं, वह किसी जड़ में उत्पन्न नहीं होती तथा जड़ के कारण से भी नहीं होती। मलिनता आत्मा की अवस्था में होने से वह आत्मा की स्वच्छता को रोकती है, सुख उत्पन्न नहीं होने देती; इसलिए उसे (मोह-राग को) 'द्वितीय' चीज

कहा है। यदि मलिनता और त्रिकाल स्वभाव एक होता तो मलिनता सुख को नहीं रोकती अथवा त्रिकाली स्वभाव मलिन हो जाता इसलिए त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा मलिनता दूसरी चीज है। बंध दो चीजों का होता है अर्थात् आत्मा और मलिनता के परिणाम दो का बन्ध हुआ है; किसी पर पदार्थ के साथ बंध नहीं हुआ।

पर पदार्थों की अवस्था आत्मा से नहीं होती। ये जिनमंदिर, स्वाध्याय मंदिर इत्यादि आत्मा से नहीं हुए। उन-उन पदार्थों की पर्याय पुद्गल परावर्तन के नियम के अनुसार उनके स्वयं के कारण हुई है। आत्मा के शुभभाव के कारण जड़ की पर्याय नहीं होती। जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ में हैं और आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय आत्मा में हैं।

हे भाई! भावबन्ध को टालने में तुम स्वयं ही हरि हो! किन्तु अज्ञानी जीव मानता है कि मैं था तो यह सब हुआ, मैं हूँ तो भाषा निकलती है, मेरे कारण शरीर चलता है। राज्य की, कुटुंब की व्यवस्था मेरे कारण होती है। मैं हूँ तो कमाकर रुपया लाता हूँ। किन्तु हे भाई, तू प्रभु है, तू हरि है, तू स्वयं को एक क्षण तो देख? तू पर का करने वाला नहीं, वैसे ही विकार करनेवाला भी नहीं।

धर्म तथा सुख के लिए बाहर में बहुत देखा; किन्तु अन्दर में विराजमान निज भगवान को नहीं देखा। पर पदार्थ को करने रूप तथा पुण्य से धर्म मानने रूप मिथ्यात्वभाव रूपी महान पाप को जो हरता है ह्व नाश करता है, उसे 'हरि' कहते हैं। "पापं हरति इति हरिः" दूसरा कोई हरि तुम्हारे पाप टालने में समर्थ नहीं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके मिथ्यात्व, राग-द्वेष का नाश करनेवाला तू स्वयं हरि है। आत्मा स्वयं हरि शक्ति स्वरूप है, वही स्वयं व्यक्त पर्याय में हरि होता है। सम्यग्ज्ञान चक्षु खोला नहीं अर्थात् तुझे स्वयं के हरि की पहिचान नहीं हुई। इसलिए एक बार तो अपने स्वरूप को पहचान! यह आत्मा स्वयं ही हरि है। ज्ञाता-दृष्टा उपयोगमय है। यदि उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे तो भावबन्ध टलकर धर्मदशा को प्राप्त करके हरिरूप परिपूर्ण दशा को प्राप्त हो।

### प्रवचनसार गाथा १७६

अब, भावबंध की युक्ति और द्रव्यबन्ध का स्वरूप कहते हैं :ह

**भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।**

**रज्जदि तेणेव पुणो बज्जदि कम्म ति उवदेसो ॥१७६॥**

( हरिगीत )

जिस भाव से आगत विषय को देखे-जाने जीव यह ।

उसी से अनुरक्त हो जिय विविधविध बंधन करे ॥१७६॥

अन्वयार्थ :ह [ जीवः ] जीव [ येन भावेन ] जिस भावसे [ विषये आगतं ] विषयागत पदार्थ को [ पश्यति जानाति ] देखता है और जानता है [ तेन एव ] उसी से [ रज्यति ] उपरक्त होता है; [ पुनः ] और उसीसे [ कर्म बध्यते ] कर्म बंधता है; ह ( इति ) ऐसा ( उपदेशः ) उपदेश है ।

टीका :ह यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभास स्वरूप (ज्ञान और दर्शन स्वरूप) होने से प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थ समूह को जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव से देखता है और जानता है, उसी से उपरक्त होता है । जो वह उपराग (विकार) है वह वास्तव में स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय भावबंध है । और उसी से अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है । इस प्रकार यह द्रव्यबंध का निमित्त भावबंध है ।

### गाथा १७६ पर प्रवचन

यह आत्मा साकार और निराकार स्वरूप है । साकार अर्थात् स्व-पर को भेद करके जानना । जैसे ह यह शरीर है, यह आत्मा है, यह मनुष्य है ह ऐसा भेद करके जानना साकार उपयोग अथवा ज्ञान उपयोग है और सभी चीजों का भेद किये बिना सामान्य अवलोकन मात्र को निराकार उपयोग अथवा दर्शनोपयोग कहते हैं ।

यहाँ बाहर के आकार की बात नहीं । आत्मा का स्वयं का आकार तो होता ही है । प्रत्येक वस्तु में प्रदेशत्व गुण है और उस गुण के कारण उसका कोई न कोई आकार तो होता ही है । आत्मा ज्ञान-दर्शन से युक्त

अरूपी है और वह शरीर के आकार से जुदा है । शरीर का आकार शरीर में तथा आत्मा का आकार आत्मा में है । शरीर का आकार आत्मा में नहीं; अतः यहाँ उस आकार की बात नहीं है । यहाँ तो आत्मा के ज्ञान-दर्शन स्वरूप की बात है ।

पदार्थ तथा पदार्थों का ज्ञान मलिनता का कारण नहीं । इस ज्ञान स्वभाव में सभी पदार्थ जानने योग्य हैं, उन पदार्थों को जानने का आत्मा का स्वभाव है । वे पदार्थ अथवा उन पदार्थों का ज्ञान मलिनता का कारण नहीं; केवलज्ञानी के ज्ञान में तीन लोक के पदार्थ जाने जाते हैं; फिर भी उनको राग नहीं होता । अज्ञानी जीव उन पदार्थों में मोह करता है, वही संसार का कारण है ।

जीव की विपरीत दृष्टि ही मलिनता का कारण है । एक मनुष्य सामान्य रीति से आँख से पदार्थों को देखता है तो पदार्थ सही दिखते हैं; किन्तु काले चश्मे से देखे तो काले दिखते हैं, लाल चश्मे से देखे तो लाल दिखते हैं; सही रूप से नहीं दिखते । उसीप्रकार पर को मैं कर सकता हूँ, पुण्य से धर्म होता है इत्यादि मिथ्याभाव हैं । अनुकूल पदार्थों में प्रीति और प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष ह इस प्रकार मोह, राग और द्वेष से जीव मलिनता को प्राप्त करता है । हमने इतने जीवों की दया पाली, मंदिर गये आदि अनेक प्रकार की मूढ़ता अज्ञानी जीव करता है । जानने-देखने के स्वभाव को भूलकर पुण्य को ठीक मानकर अधर्म का सेवन करता है । अच्छा भोजन करे; लेकिन कुछ समय बाद वह विष्टा बन जाता है, उसको कोई सम्हाल कर नहीं रखता, वैसे ही उत्कृष्ट शुभभाव करे; फिर भी उन्हें सम्हालकर नहीं रखे जा सकते अर्थात् पुण्य भी आदरणीय नहीं है ।

द्रव्यबंध रूखे-चिकनेपन के कारण होता है, उसमें भावबन्ध निमित्तमात्र है । जैसे पुद्गल में चिकनापन और रूखापन बंध के कारण हैं, वैसे ही जीव में राग-द्वेष बन्ध के कारण हैं । जब जीव राग-द्वेष करता है, तब उसका निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वयं के कारण कर्म के स्कंधरूप द्रव्यबंधरूप परिणमते हैं । जब परमाणु में चिकने अथवा रूखेपन

के अंश दो अधिक हों तो वे बंध के कारण होते हैं। दो अंश चार अंशवाले के साथ और तीन अंश वाला पाँच अंशवाले के साथ बंध को प्राप्त होता है। लड्डू, रोटी, दाल, भात इत्यादि परमाणु के स्कंध उनमें दो अंश अधिक मिलने से स्कंधरूप हुये हैं, उन्हें आत्मा ने स्कंधरूप नहीं बनाया। उसीप्रकार पुद्गल परमाणु दो अंश अधिक मिलने से स्वयं के कारण कर्म के स्कंधरूप परिणम जाते हैं और उससे द्रव्यबंध होता है। उस द्रव्यबंध में जीव का भावबन्ध निमित्तमात्र है। भावबन्ध हुआ इसलिए द्रव्यबंध हुआ ऐसा पुद्गल द्रव्य पराधीन नहीं; किन्तु जब जीव राग करता है, तब कर्म उसके कारण जरूर बँधते हैं हू ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताया है।

इसप्रकार भावबन्ध और द्रव्यबन्ध दोनों ज्ञेय हैं, उनका यथार्थ ज्ञान करके आत्मा दोनों बंधों से रहित अबंध स्वरूप है हू ऐसा श्रद्धा ज्ञान करे तो भावबन्ध और द्रव्यबन्ध से रहित होकर सुखदशा को प्राप्त करता है।

इस गाथा में भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य भावबन्ध का स्वरूप कहते हैं हू नवतत्त्व का स्वरूप भगवान् ने जैसा देखा वैसा उनकी वाणी में आया है और वैसा ही आचार्य भगवान् कहते हैं। दूसरे जीवों को उपदेश दूँ हू ऐसा विकल्प भगवान् को नहीं होता। बारहवें गुणस्थान में सभी विकल्पों का अभाव होकर वीतरागदशा प्राप्त होती है। उसके पश्चात् तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान-सर्वज्ञदशा प्राप्त करते हैं। वे तीन लोक व तीन काल के पदार्थों (द्रव्य-गुण-पर्याय) को जानते हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् ॐ ध्वनि सहज इच्छा बिना निकलती है और समझने वाले जीव स्वयं की लायकात से समझते हैं।

१. मैं जीवों को उपदेश दूँ और दूसरे जीव समझ जायें हू ऐसा भगवान् को विकल्प नहीं; कारण कि भगवान् वीतरागदशा को प्राप्त हुए हैं।

२. भगवान् को केवलज्ञान हुआ और वाणी छूटी ऐसा भी नहीं; कारण कि केवलज्ञान तो ज्ञानगुण की पर्याय है और वाणी भाषा वर्गणा अर्थात् जड़ की पर्याय है, दोनों में अत्यन्त अभाव है।

३. छद्मस्थ दशा में तीर्थकर प्रकृति बाँधी इसलिए वाणी निकलती हो हू ऐसा भी नहीं है; क्योंकि नामकर्म के और दिव्यध्वनि के परमाणु जुदे-जुदे हैं, दोनों में अन्योन्याभाव है।

४. समझनेवाले श्रोताजनों के पुण्य के कारण वाणी निकली हो हू ऐसा कोई कहे तो भी वह ठीक नहीं; क्योंकि श्रोता के पुण्य-जड़कर्म और दिव्यध्वनि के परमाणु भिन्न-भिन्न हैं, दोनों में अन्योन्य अभाव है।

५. भगवान् की दिव्यध्वनि छूटी इसलिए जीव धर्म समझते हैं हू ऐसा भी नहीं; क्योंकि दिव्यध्वनि जड़ है और जीवों की धर्म पर्याय अरूपी है, दोनों में अत्यन्त अभाव है।

ऐसा प्रथम स्वतंत्र ज्ञान करे, पश्चात् निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने के लिए कहते हैं कि श्रोता के पुण्य से अथवा तीर्थकर प्रकृति के उदय से केवलज्ञान प्राप्त करके भगवान् की दिव्यध्वनि छूटी और उसको समझने वाले पात्र जीव समझे तो ऐसा आरोप आता है कि वाणी से समझे; भगवान् वाणी के कर्त्ता-धर्त्ता नहीं। केवलज्ञान स्वतंत्र, कर्म स्वतंत्र, वाणी स्वतंत्र, श्रोता का ज्ञान स्वतंत्र हू ऐसा प्रत्येक स्वतंत्र है। कोई किसी का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है।

यहाँ दिव्यध्वनि में आया हुआ भावबन्ध का स्वरूप कहते हैं हू यह आत्मा ज्ञाता-दृष्टा जागृत स्वभाववान् है, उसको भूलकर मोह-राग-द्वेष करके अटकता है, उसे भावबन्ध कहते हैं। मकान की क्रिया, शरीर की क्रिया, मंदिर की क्रिया हू ये सभी परमाणु की पर्याय परमाणु से होती हैं, आत्मा से नहीं। फिर भी वे आत्मा से हुई हू ऐसा मानना मोह है और भावबन्ध है।

कोई कहे आप यहाँ नहीं थे तो यहाँ कुछ नहीं था, जब से आप आये तब से काम हुआ है। पर भाई ! प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वतंत्र है। परमाणु कायम रहकर पलटता है, उसमें विविधता परमाणु के कारण आती है, पर के कारण नहीं आती। मकान बनता है, शरीर चलता है, लकड़ी जलती है हू ये सभी क्रियायें स्वतंत्र जड़ के कारण हो रही है।



परिणामी परिणाम से जुदा नहीं हो सकता। यदि आत्मा परिणामी होकर जड़ के परिणाम को करे तो आत्मा और जड़ एक हो जाये और उससे आत्मा के नाश का प्रसंग आये; किन्तु ऐसा नहीं होता।

वे सभी चीजें अपने कारण से बनी हैं; आत्मा से नहीं बनी हूँ ऐसा मानना स्याद्वाद है। वे चीजें निश्चय से अपने कारण बनी हैं और व्यवहार से आत्मा से बनी हैं; यह स्याद्वाद नहीं; अपितु मिथ्यावाद है।

१. आत्मा के शुभभाव से यह मंदिर नहीं बना। यदि शुभभाव से मन्दिर बनता हो तो शुभभाव आते ही मन्दिर बन जाना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। शुभभाव होने पर मन्दिर बनता भी है अथवा नहीं भी बनता और बनता है तो तुरन्त ही नहीं बन जाता। वह अपने पुद्गल परावर्तन के काल में बनता है; फिर आत्मा से बनता है, ऐसा मानना वह भ्रान्ति है।

२. वे मन्दिर बने इसलिए शुभभाव होता है हूँ ऐसा भी नहीं। यदि मन्दिर के कारण शुभभाव हो तो सभी के होना चाहिए; किन्तु सभी के नहीं होता। ऐसे तो शुभभाव तो पराधीन (मन्दिराधीन) हो गया तथा उसे पराधीन मानना भी मिथ्या भ्रान्ति है।

३. वहीं शुभभाव हुआ इसलिए धर्म होता है हूँ ऐसा भी नहीं; कारण कि शुभभाव तो आस्रव है और धर्म तो संवर-निर्जरा है। विकार से अविकारी दशा प्रगट नहीं होती; अतः शुभभाव से धर्म मानना भी भ्रान्ति है।

अहो! जीव ने नवतत्त्व भी स्वतंत्र नहीं माने। यदि पुण्य से मकान की पर्याय हो तो अजीव की पर्याय पराधीन हो गई। पुण्य से धर्म हो तो आस्रव तत्त्व स्वयं ही संवर-निर्जरा हो जाता है। अजीव पदार्थ के कारण जीव को शुभभाव होता है हूँ ऐसा माने तो जीव की पर्याय पराधीन हो जाये। इससे एक भी तत्त्व की सच्ची श्रद्धा नहीं रहती।

अज्ञानी मानता है कि मैं हूँ तो जड़ की पर्याय होती है, मैं हूँ तो सभी के काम होते हैं; किन्तु मैं आत्मा हूँ तो मेरे में वीतरागी निर्मल पर्याय प्रगटे

हूँ ऐसा नहीं मानता। जीवों ने यह तत्त्व की बात समझी ही नहीं।

वास्तव में प्रत्येक क्रिया स्वतंत्र होती है, उस पर निमित्त का उपचार करने में आता है। मंदिर बना, उसमें जो जीव का शुभभाव हुआ, उससे उसने मंदिर बनाया हूँ ऐसा उपचार करने में आता है। जब मेहमान घर पर आते हैं, उनकी मेहमानी करते हुए विनय से कहने में आता है कि “यह आपका ही मकान है, आपको जो चीज चाहिए वह सुख से ले लो, इत्यादि” किन्तु मेहमान क्या उस मकान के भागीदार हो जाते हैं? मेहमान मकान को अपना समझकर मांगे तो क्या कोई उसको दे देता है? नहीं, उसको मूर्ख समझकर घर से निकाल देता है। वास्तव में यह तो व्यवहार का कथन है। वैसे ही शास्त्र के भावों को समझना चाहिए।

भक्ति में आता है कि “हे भगवान! तुमने लाखों को तारा, मुझे भी तार दो” तो क्या भगवान दूसरे को तार देते हैं? नहीं, भगवान तो कहते हैं कि तू नपुंसक नहीं जो तुझे दूसरे की जरूरत पड़े। मेरे आश्रय से तुझे ज्ञान नहीं प्रगट होगा।

मंदिर के कारण पुण्य नहीं, पुण्य से धर्म नहीं। पुण्य तो विकार है, वह तुम्हारे स्वभाव में नहीं। पर वस्तु को तू कर नहीं सकता हूँ ऐसा सही स्वरूप समझ। तेरे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करने से धर्म होता है और विशेष स्थिरता करने से केवलज्ञान प्रगट होगा। भगवान के पास तेरा कुछ भी नहीं। भक्ति में जो बोलने में आता है, वैसे उसका अर्थ नहीं है; किन्तु उसका भाव समझकर जो जीव स्वयं धर्म प्रगट करता है, उसको भगवान निमित्त कहे जाते हैं। जैसे हाथी के दाँत दो प्रकार के हैं हूँ बाहर के दिखाने के अलग और खाने के अलग। बाहर के दाँत सोने से बने होने पर भी वे हाथी को खाने में उपयोगी नहीं होते। वैसे ही व्यवहार और निमित्त के वाक्य बाहर के दाँत जैसे हैं; वे परमार्थ अर्थात् मोक्षमार्ग प्रगट करने के काम नहीं आते।

“अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उन साधन से?” जीव ने सच्चे तत्त्व को नहीं समझा और सच्चे तत्त्व को समझे बिना व्रत-

पूजा इत्यादि अनेक बार किये हैं और शुभभाव करके नौवें त्रैवेयक तक भी गया है।

यम नियम संयम आप कियो, पुनी त्याग विराग अथाग लहो।  
वनवास लयो मुख मौन रहो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥१॥  
मन पौन निरोध स्वबोध कियो, हठ जोग प्रयोग सुतार भयो।  
जप भेद जपे तप त्योंहि तपे, उरसेंहि उदासि लहि सबपें ॥२॥  
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खण्डन भेद लिये।  
वह साधन वार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो ॥३॥

अहो! अज्ञानपूर्वक जीव ने पाँच महाव्रतादि का पालन किया। अमुक चीजें अमुक रीति से मिले तो ही आहार लें हूँ ऐसा नियम भी लिया। अनेक बार वैराग्य लाने के अर्थ बाह्य-पदार्थों का त्याग किया, बनवास गया, मौन रहा, पद्मासन लगाकर ध्यान में बैठा, मन को रोका, प्राणायाम आदि की क्रिया हठ पूर्वक की। 'णमो अरहंताणं' का जाप किया और बार-बार मासोपवास किये, धूप आदि में अनेक तप किये और मन से सभी से उदास रहा। शास्त्र की बात समझी, ग्यारह अंगों को पढ़ा और अन्य मत का खण्डन भी किया हूँ इसप्रकार साधन तो अनेक बार किये; किन्तु शांति नहीं मिली।

अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उन साधन से?  
बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे, मुख आगल हैं कह बात कहें?

हे जीव! तू ऐसा विचार क्यों नहीं करता कि इन साधन के अलावा तूने अनेक प्रकार की बाह्य-क्रिया की; किन्तु वे साधन आत्म कल्याण के लिए कार्यकारी नहीं। ज्ञानी के बाह्य क्रियाकाण्ड का स्वामीपना नहीं होता। वास्तविक तत्त्व समझे बिना त्याग, व्रत, तप सभी व्यर्थ हैं। सच्चे गुरु के समागम में ही जीव अपनी पात्रतानुसार वस्तुस्वरूप समझ सकते हैं, इसलिए जीवों को सत्समागम में पात्रतानुसार तत्त्व समझने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

जीवों को वास्तविक तत्त्व की खबर नहीं अर्थात् वे पुण्य में धर्म मानते हैं। कोई कहता है कि जो पंचकल्याणक महोत्सव कराता है,

उसकी आठवें भव में मुक्ति होती है, यह बात ठीक नहीं है। ऐसे पंचकल्याणक अनंतबार कराये; किन्तु मुक्ति नहीं हुई; क्योंकि वह शुभराग है और शुभराग से धर्म होगा हूँ ऐसा मानना मिथ्यात्व है। ऐसी मलिनता के कारण आत्मा में भावबन्ध होता है। और भावबन्ध है; इसलिए द्रव्यबंध हूँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों का बंध आत्मा के एक क्षेत्र में होता है, किन्तु विकार हुआ इसलिए कर्मबंध हुआ ऐसा नहीं है; दोनों स्वतंत्र हैं। जैसे जल में बहुत कंकण बरसे लेकिन जल कंकणरूप नहीं हुआ और कंकण जलरूप नहीं होता। उसीप्रकार जल के कारण कंकण तथा कंकण के कारण जल नहीं आया। वैसे ही संसारदशा में अनादि काल से भावबन्ध है तथा कर्म के परमाणुओं का द्रव्यबंध भी है; फिर भी कोई किसी के कारण नहीं, दोनों में एकक्षेत्रावगाह संबंध है। जब अनादिकाल से जड़, चेतन साथ में हैं तो जड़-चेतन को तथा चेतन, जड़ को परिणामाता होगा? नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। द्रव्यबंध है; इसलिए द्रव्यबंध निमित्तरूप में होता है ऐसा यथार्थ ज्ञान करके आत्मा भावबन्ध और द्रव्यबन्ध दोनों से रहित है हूँ ऐसा सच्चा श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म का कारण है।

“जिन सोही है आत्मा, अन्य सोही है कर्म”

यहाँ आत्मा को ही जिन कहा है। त्रिकाली ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वरूप ही आत्मा है और वही जिनस्वरूप है। बाकी परलक्ष्य से हुआ विकारी भाव कर्म है, वह आत्मा नहीं। शब्द से ज्ञान होता है हूँ ऐसा माननेवाला जीव ज्ञानगुण की स्वतंत्रता नहीं मानता, वह जैन ही नहीं। ज्ञान तो स्वतंत्रपने वाणी के आधार बिना ही होता है।

प्रश्न हूँ शास्त्र में अधिगम को भी सम्यग्दर्शन कहा है न?

उत्तर हूँ जो जीव पर से ज्ञान होता है, निमित्त से लाभ होता है हूँ ऐसा माने, उसको सम्यक्त्व नहीं होता। ज्ञान स्वयं से होता है, निमित्त से लाभ नहीं होता, शुभभाव भी स्वयं की कमजोरी से होता है। ज्ञानस्वभावी अखण्ड आत्मा एकरूप है, उसमें शुभभाव नहीं, ऐसी स्वभावसन्मुख

दृष्टि करके स्वयं स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे, उसको सम्यक्त्व की पर्याय प्रगट होती है। यदि उस पर्याय के प्रगट होने के समय ज्ञानी की उपस्थिति हो तो उस सम्यक्त्व को अधिगमज सम्यक्त्व कहते हैं और पूर्व पर्याय में ज्ञानी की वाणी सुनकर बाद की पर्याय में ज्ञानी की गैरहाजरी में सम्यक्त्व प्रगट करता है तो वह निसर्गज सम्यक्त्व कहा जाता है। दोनों सम्यक्त्व स्वयं से ही होते हैं तथा ज्ञान भी स्वयं से ही होता है; किन्तु अधिगमज में ज्ञानी की उपस्थिति होती है ह्व ऐसा निमित्त का ज्ञान कराया है। निसर्गज में स्वयं से तथा अधिगमज में ज्ञानी से सम्यक्त्व होता है ह्व ऐसा अर्थ नहीं समझना, दोनों में स्वयं से ही सम्यक्त्व तथा ज्ञान होता है। प्रत्येक पदार्थ का परिणामन स्वतंत्र है।

‘उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्’ अर्थात् प्रत्येक पदार्थ कायम रहकर बदलता है। संसारदशा तथा सिद्धदशा दोनों में ऐसा ही जानना। सिद्धदशा में भी प्रति समय केवलज्ञान आदि का नया-नया ही उत्पाद होता रहता है। यहाँ भी सम्यग्दर्शन स्वतंत्र स्वयं के कारण होता है। यदि ज्ञानी के कारण सम्यक्त्व होता तो ज्ञानी तो अनंतबार मिले; फिर सम्यक्त्व क्यों नहीं हुआ? यहाँ यह ही बताते हैं कि जीव को स्वयं की योग्यता से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उसमें ज्ञानी निमित्त कहा जाता है।

अब व्यवहारनय का कथन करते हुए निमित्त का ज्ञान कराते हैं। भक्ति में बोला जाता है कि हे भगवान्! भर दो मेरी झोली ह्व तो क्या हमारे गुण भगवान के पास है जो भगवान झोली भर दें? उसका अर्थ ऐसा कहते हैं कि हे नाथ! चैतन्य आत्मा-वीतरागी चिदानन्द सिद्ध निधान अंतर शक्ति में है, उसके ऊपर दृष्टि करके, पुण्य-पाप के अंश की दृष्टि छोड़कर अंतर में देखो तो तुम्हारी झोली में अर्थात् पर्याय में शुद्धि भर जायेगी। भगवान किसी को बिगाड़ने अथवा सुधारने की शक्तिवाले नहीं। जीव स्वयं समझे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। जैसे घड़ा मिट्टी का होने पर भी घी के संयोग से घी का घड़ा व्यवहार से कहा जाता है, वैसे ही व्यवहार के कथन संयोग बताते हैं।

कोई कहे श्री मानतुंगाचार्य ने स्तुति की तो दरवाजे के ताले टूट गये ऐसा कथा में तो आता है।

उससे कहते हैं भाई! आत्मा जड़ की क्रिया नहीं कर सकता, वैसे ही जो स्तुति उन्होंने बोली उस वाणी की क्रिया भी उन्होंने नहीं की। वाणीरूप जड़ के व शुभ विकल्प के कर्ता वे नहीं। आत्मा शुद्धस्वरूप है ह्व ऐसा ज्ञानपूर्वक सहज स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान सहित स्तुति का विकल्प उठा, उस विकल्प के भी वे ज्ञाता हैं। उस विकल्प के कारण ताले नहीं टूटे, ताले टूटने का काल था, इसलिये ताले टूटे; आचार्य के आत्मा से नहीं, वाणी से नहीं, विकल्प से भी नहीं।

मंत्र से जहर उतरता है ह्व ऐसा कहा जाता है, उसमें भी जहर उतरने के काल में जहर उतरता है तो मंत्र को निमित्त कहा जाता है। दोनों के परमाणु जुदे-जुदे स्वतंत्र काम करते हैं।

श्री वादिराज मुनि ने एकीभाव स्तोत्र बनाकर कोढ़ का नाश किया ऐसा कहा जाता है तो वहाँ भी कोढ़ की अवस्था में फेरफार आत्मा से अथवा स्तोत्र से नहीं हुआ। शरीर के सुंदररूप होने की अवस्था का काल था; इसलिए वह पर्याय हुई है। मुनि के आत्मा से, वाणी से, विकल्प से अथवा पुण्य कर्म के उदय से वह पर्याय नहीं हुई। जो अवस्था हुई वहाँ निमित्त का ज्ञान कराया है।

भावबन्ध के कारण द्रव्यबन्ध नहीं होता, भावबन्ध निमित्त मात्र है। अहो! वस्तुस्वरूप स्वतंत्र है। अजीव की क्रिया जीव कर सकता है ह्व ऐसा जो मानता है, उसे नवतत्त्व की व्यवहार श्रद्धा की भी खबर नहीं। जो जीव बाहर के संयोगों में अटका है, वह जीव विकार तथा स्वयं के त्रिकाली स्वभाव दोनों में भेद नहीं कर सकता। पराधीन दृष्टि करना मोह-राग और द्वेष है। और वही भावबन्ध है। उसका निमित्त पाकर जड़कर्म का संयोग होता है। राग-द्वेष किया इसलिए द्रव्यबन्ध हुआ ह्व ऐसा नहीं, वह तो अपने काल में होता है, वहाँ भावबन्ध निमित्त मात्र है। अज्ञानी मानता है कि राग हुआ, इसलिए जड़कर्म को आना पड़ा; वह

उसकी भ्रान्ति है। जैसे दो में दो जोड़ने पर चार होते हैं, सभी जगह ऐसा ही होता है। उसी नियमानुसार हमेशा आत्मा की क्रिया आत्मा से ही होती है और जड़ की क्रिया जड़ से ही होती है वह ऐसा नियम है।

**प्रश्न** वह तब फिर मृत्यु के बाद जीव क्यों नहीं बोल सकता ?

**उत्तर** वह जब जीवित अवस्था में ही जीव नहीं बोलता, तब मृत्यु के बाद जीव को बोलने का तो प्रश्न ही कहाँ है। जीव और वाणी दोनों स्वतंत्र हैं। जीव तो चेतन स्वरूप है और वाणी जड़ है। जीव बोलने का भाव करता है; किन्तु जड़ वाणी की क्रिया नहीं कर सकता। भाषा वर्णना के परमाणु अपनी पर्याय के काल में शब्द रूप परिणामे हैं, वहाँ जीव को बोलने का भाव हो तो निमित्त कहा जाता है; किन्तु जीव के भाव से वाणी नहीं निकलती।

१. अनेकबार नींद में खराब स्वप्न आते हैं, उस समय बोलने की इच्छा भी होती है; फिर भी जीव नहीं बोल सकता।
२. वहीं नींद में कोई जीव बोलता ही जाता है और बड़बड़ाता भी है, बड़बड़ाने की इच्छा नहीं; फिर भी भाषा निकलती है।
३. लकवा लगने पर बोलने का भाव होने पर भी नहीं बोल पाते, वहाँ आत्मा तो है; फिर भी नहीं बोल सकता।
४. संसार में अनेक जीव नींद में ही काम कर आते हैं। कोई कपड़े के व्यापारी नींद में ही कपड़े का टुकड़ा करके रख देते हैं, नींद में ही ढोर चराकर आ जाते हैं वह ऐसी क्रिया देखी जाती है।

ये दृष्टान्त बताते हैं कि जड़ और चेतन की प्रत्येक क्रिया स्वतंत्र हो रही है। जीवित जीव भी नहीं बोलता, उस समय भी जड़ अपने कारण से बोलता है और मर जाने पर भी जड़ जीव के कारण बोलना बंद नहीं करता। वास्तव में आत्मा वाणी की वह जड़ की क्रिया का धनी नहीं।

जब जीव द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं तो फिर बाहर के पदार्थों का कर्ता किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। इस गाथा में आचार्य भगवान कहते हैं कि जीव संयोगी दृष्टि करके मोह-राग-द्वेष करता है,

यही भावबन्ध है और उसका निमित्त पाकर द्रव्यबन्ध होता है। जीव जितने प्रमाण में राग-द्वेषादि करता है, उतने प्रमाण में ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यबंध होता है। तीव्र भाव करता है तो तीव्र बन्ध पड़ता है और मंद भाव करता है तो मंद बन्ध पड़ता है वह ऐसा नियम है। इसमें फेर नहीं पड़ता फिर भी राग-द्वेष के कारण कर्म की क्रिया नहीं हुई। जड़कर्म जड़कर्म के कारण और भावबन्ध भावबन्ध के कारण है। जब भावबन्ध हो, तब जड़कर्म का बंध होता ही है वह ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध जानना। फिर भी वहाँ राग-द्वेष जड़कर्म के कर्ता नहीं। बाह्य चीजों के संयोग में तो अनेक बार निमित्त-नैमित्तिक बनते नहीं देखे जाते; क्योंकि जीव इच्छा करता है, वहाँ वाणी बुलती भी है और नहीं भी, किसी चीज की इच्छा करे तो संयोग मिले अथवा न भी मिले अर्थात् बाहर के संयोगों का तथा जीव के भाव का निमित्त-नैमित्तिक संबंध सर्वथा नहीं बनता, किन्तु जहाँ राग का तथा जड़कर्म का अनिवार्य निमित्त-नैमित्तिक संबंध है ही, वहाँ भी राग जड़कर्म का कर्ता नहीं; तो फिर जहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध सर्वथा नहीं बनता, वहाँ पर पदार्थों का कर्ता-भोक्ता या लाने वाला आत्मा कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। इसलिए जीवों को नवतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कराना चाहिए। ज्ञेयों का यथार्थ ज्ञान करना ही धर्म का कारण है। ●

### परमात्मपना प्रकट हो जायेगा

भाई! तू विश्वास कर कि मेरे स्वभाव के आनन्द के सामने सभी प्रतिकूलतायें और सारी दुनिया विस्मृत हो जायें, मैं ऐसी अद्भुत वस्तु हूँ। मैं वर्तमान में परमात्मा ही हूँ। मुझमें और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है वह ऐसा विश्वास होने से (पर्याय का) अन्तर मिट जाएगा और पर्याय में परमात्मपना प्रकट हो जाएगा।

हृदय का निधान, पृष्ठ-२

### प्रवचनसार गाथा १७७

अब पुद्गलबंध, जीवबंध और उभयबंध का स्वरूप कहते हैं :ह

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।

अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो।।१७७।।

( हरिगीत )

स्पर्श से पुद्गल बंधे अर जिय बंधे रागादि से ।

जीव-पुद्गल बंधे नित ही परस्पर अवगाह से ।।१७७।।

अन्वयार्थ :ह [ स्पर्शः ] स्पर्शों के साथ [ पुद्गलानां बंधः ] पुद्गलों का बंध, [ रागादिभिः जीवस्य ] रागादि के साथ जीव का बंध और [ अन्योन्यम् अवगाहः ] अन्योन्य अवगाह वह [ पुद्गलजीवात्मकः भणितः ] पुद्गलजीवात्मक बंध कहा गया है ।

टीका :ह प्रथम तो यहाँ, कर्मों का जो स्निग्धता ह रूक्षतारूप स्पर्शविशेषों के साथ एकत्वपरिणाम है सो केवल पुद्गलबंध है; और जीव का औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायों के साथ जो एकत्व परिणाम है सो केवल जीवबंध है; और जीव तथा कर्मपुद्गल के परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबंध है । [ अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक दूसरे के परिणाम में निमित्त मात्र होवें, ऐसा (विशिष्ट प्रकार का ह खास प्रकार का) जो उनका एकक्षेत्रावगाह संबंध है सो वह पुद्गल जीवात्मक बंध है ।]

### गाथा १७७ पर प्रवचन

यह ज्ञेयतत्त्व अधिकार है । यहाँ ज्ञान में जाननेयोग्य पदार्थों का स्वरूप बताते हैं । जीव को बंधन होता है, वह क्या है? जड़ कर्म में बंधन होता है, वह क्या है? जीव के साथ जड़ का बंध होता है, वह क्या है? यहाँ ये सभी बातें कहते हैं ।

आत्मा स्वयं के स्वभाव को न जानकर पर-पदार्थों में अपनापन

करता हुआ अनुकूल पदार्थों में राग तथा प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष करता है, यह भावबन्ध अरूपी विकारी पर्याय है ।

यह जीव स्वयं की शांति को छोड़कर मोटर तथा मकान में सुख मानकर संसार में भटकता है । यह आत्मा अनादि-अनंत ध्रुव वस्तु है । यह संयोग से उत्पन्न होती है ह ऐसा नहीं और नष्ट होकर किसी में मिल जायेगी ह ऐसा भी नहीं । सुख आत्मा के स्वरूप में है, वह आत्मा सुख स्वरूप है, उसमें दुःख नहीं हो सकता ।

दुःख अर्थात् विकार, आकुलता, उपाधि आत्मा का मूल स्वभाव नहीं हो सकता । जब दुःख मूलस्वभाव नहीं तो दुःख हुआ कहाँ से?

आत्मा के स्वभाव में दुःख नहीं; किन्तु स्वभाव बुद्धि का अभाव और पर्यायबुद्धि, संयोगबुद्धि का सद्भाव ही विभाव की उत्पत्ति का कारण है और वही दुःख है । पर-पदार्थ कर्म इत्यादि दुःख के कारण नहीं; क्योंकि दुःख तो आत्मा की अरूपी विकारी पर्याय है । शरीर में रोग हुआ, पैसा गया, उससे दुःख हुआ ह ऐसा अज्ञानी मानता है; किन्तु पर चीज के फेरफार से आत्मा में दुःख नहीं होता । भगवान आत्मा सत् चैतन्यमय है, उसको भूलकर पर में सुख-दुःख की कल्पना करके भावबन्धन की अवस्था में डोलता रहता है । वह दुःख अथवा भूल किसी बाहरी पदार्थ, कर्म अथवा स्त्री-पुत्रादिक ने नहीं करायी । भाई! तुम अपने अंतरस्वरूप को भूले हो, यही भावबन्ध है ।

पुद्गलबन्ध अचेतन ज्ञेय की पर्याय है, वह चेतन ज्ञेय को लाभ-नुकसान नहीं करती । इस गाथा में तीन प्रकार के बंध कहे हैं । उसमें प्रथम पुद्गल बंध की बात करते हैं । अज्ञानी मानता है कि कर्मबन्ध के कारण भटकना पड़ता है; किन्तु भाई वह तो भूल है । कर्मबन्धन तो जड़ की पर्याय है । जड़ की पर्याय तुझे भटकावे ह ऐसा नहीं । जड़ की पर्याय जड़ में है, तुम्हारे में नहीं । पुद्गल परमाणु में स्पर्श गुण के चिकनापन अथवा रूखापन के दो अधिक गुण होने पर वह स्कंधरूप होता है । उसमें से कर्मस्कंध पर्याय होती है । कर्म के कारण भटकते हैं ह यह बात भूल जा !

क्योंकि कर्म पुद्गल है ह जड़ है। चिकने-रूखेपन का एकत्व परिणाम होता है, वह कर्म की पर्याय है, वह अजीव ज्ञेय है। ज्ञेय दो प्रकार के हैं ह चेतन ज्ञेय और अचेतन ज्ञेय। कर्म की पर्याय अचेतन ज्ञेय है, वह चेतनपर्याय को कुछ भी नुकसान नहीं करती। अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव में हैं और जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय जीव में हैं; इसकारण अजीव कर्म की पर्याय जीव का नुकसान नहीं करती ह ऐसा पुद्गलबन्ध का स्वरूप जानना।

अब भावबन्ध का स्वरूप कहते हैं ह पर पदार्थ के साथ एकत्व का परिणाम अथवा अज्ञानवश मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम ही भावबन्ध कहलाता है। अनुकूल निमित्त हों तो ठीक होगा तथा प्रतिकूल निमित्त हों तो बुरा होगा, शास्त्र से ज्ञान होता है, मंदिर से शुभभाव होता है ह ये सभी भ्रान्ति के भाव हैं। ह ऐसी भ्रान्ति अज्ञानी करता है। जगत के सभी पदार्थ ज्ञेय हैं, उन ज्ञेयों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं; फिर भी अज्ञानी जीव ज्ञेयों में दो भेद करके उनमें कुछ को इष्ट तथा कुछ को अनिष्ट मानता है। मोह-राग-द्वेष करके स्वयं के शुद्ध स्वभाव को भूलकर पर के साथ एकत्व परिणाम करता है, वही भावबन्ध है। जीव को बर्तनेवाली राग के साथ की एकत्वबुद्धि तथा काम, क्रोध, व्रत, पूजा आदि विकार के अंश जितना ही मैं हूँ ह ऐसी मान्यता भावबन्ध है। बन्धन एक को नहीं हो सकता। एक तरफ चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वरूप जीव और दूसरी तरफ अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों में मोह-राग-द्वेष वाली पर्यायबुद्धि दोनों से भावबन्ध है। जीव को कर्म का बंधन नुकसान नहीं करता; अपितु भावबन्ध की पर्याय नुकसान करती है और वही संसार का कारण है।

औपाधिक भाव जीवतत्त्व नहीं। यहाँ खास ख्याल में रखने की बात यह है कि ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वरूप को ही यहाँ जीव कहा है, पुण्य-पापरूप उपाधि भाव को जीव नहीं कहा, उन्हें उसे जीव से अन्य वस्तु कहा है। यदि वह जीव से भिन्न वस्तु न हो तो नवतत्त्व पृथक् नहीं रहते। मिथ्यात्व, अशुभ राग-द्वेष पाप है, शुभराग पुण्य है ह दोनों आस्रव और

बन्ध हैं। बंध तत्त्व कभी जीवतत्त्व नहीं हो सकता। यदि बंधतत्त्व को जीवतत्त्व माना जावे तो नवतत्त्व पृथक् नहीं रहते और जीव का स्वरूप बंधवाला हो जाये तो वह (जीव) कभी बंध रहित नहीं हो सकता।

भावबन्ध का स्वरूप जाने बिना धर्म कभी भी नहीं होता। अहो! यह बात जीवों के कानों में नहीं पड़ी। जिनके कान में नहीं पड़ी तो उसको सच्ची समझ कहाँ से होवे? भाई ! शास्त्र में निमित्त के कथन बहुत प्रकार के आते हैं। ज्ञानावरण से ज्ञान रुकता है, चार घातिकर्म जीव गुणों का घात करते हैं ह ये सभी कथन व्यवहार के हैं। जड़ और आत्मा में अत्यन्त अभाव है। जड़कर्म आत्मा की पर्याय का घात नहीं करते। कर्म आत्मा को दुःख देते हैं ह ऐसा मिथ्याभाव ह ऐसी संयोगदृष्टि ही नुकसान करती है। यह एकत्व का परिणाम जड़ परिणाम से जुदा है। जो जीव कर्म के कारण विकार होता है ह ऐसा मानता है, उसे जड़ चेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय भी जुदे-जुदे नजर नहीं आते। पर्याय से स्वतंत्र मानने की जिसमें बुद्धि नहीं, उसे पर्याय बुद्धि छोड़कर स्वभाव-बुद्धि करना नहीं आता। कर्म के उदय प्रमाण विकार करना पड़ेगा ह ऐसा मानने वाला तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि जीव कर्म के साथ बंधा ही नहीं। विकार मेरा स्वरूप है ह ऐसी पर्यायबुद्धि करके यह स्वयं ही अटकता है, वह भी अधर्म है और अज्ञानभाव है। पर्यायबुद्धि में अटकना भावबन्ध है, उसका यथार्थ ज्ञान नहीं करे, उसे सम्यग्दर्शन कभी भी नहीं होगा।

निरूपाधि स्वभाव का औपाधिक भाव के साथ बंधन है, कर्म के साथ बन्धन नहीं। जीव की पर्याय में भावबन्ध होता है, इसलिए जड़कर्म को आना पड़ता है ह ऐसा नहीं है। तथा जड़कर्म का उदय हुआ, इसलिए राग-द्वेष के परिणाम हुये ह ऐसा भी नहीं है। कोई किसी के कारण नहीं है। जीव तो निरूपाधि तत्त्व है, ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वरूप है। शक्तिवान आत्मा और उसकी शक्तियों में उपाधि नहीं। निरूपाधि तत्त्व का उपाधिवाली पर्याय के साथ बंधन होता है। शुद्धस्वरूप का अशुद्ध पर्याय के साथ बंधन है। निराकुल स्वभाव का आकुलतारूप राग-द्वेष के साथ

बंधन है; किन्तु जड़कर्म के साथ अथवा पर-पदार्थों के साथ बंधन नहीं। ऐसा प्रथम निश्चित करना चाहिए। जीव तो शुद्ध अनाकुल शांतरस रूप है, उसका अशांतरस-रागद्वेष-आकुलता के साथ बंधन है। सुखकंद आत्मा ने मिथ्यात्व-रागद्वेष के परिणाम में सुख माना; इस कारण बंध हो रहा है।

भेदविज्ञान हूँ (१) पर से आत्मा को जुदा जानना व्यवहार भेद-विज्ञान है। (२) विकारी पर्याय से त्रिकाली शुद्ध आत्मा को जुदा जानना यथार्थ भेदविज्ञान है।

इसप्रकार दो प्रकार का भेद विज्ञान है, लेकिन ऐसा न मानकर अन्यथा मानना भेदविज्ञान नहीं।

१. कर्म के कारण विकार होता है, पर पदार्थों के कारण राग-द्वेष होते हैं हूँ ऐसा मानकर (जो जीव) पर-पदार्थों में अटका है और बाहर के पदार्थों को छोड़ने से धर्म मानता है, वह तो स्थूल भूल में है, उसे तो सच्चे व्रत तथा त्याग नहीं हैं। कर्म उदय में आयेगा तो विकार करना पड़ेगा और विकार करेगा तो कर्म का बंधन होगा हूँ ऐसा मानने वाला भी स्थूल भूल में है। कर्म मुझे राग नहीं कराता, जीव स्वयं की योग्यता से राग करता है हूँ ऐसा समझे तो वह पर से जुदा हुआ कहा जाये, यह व्यवहार भेद-विज्ञान है। यह व्यवहार भेद-विज्ञान भी यदि विकार से छूटकर स्वभाव की तरफ ढले तो ही सच्चा कहा जायेगा।

२. पर के लक्ष्य से हुआ विकार औपाधिक भाव है, मलिन है, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है, वह स्वतंत्र है। दया-दान से भी मुझे धर्म नहीं होता, ये भी अधर्मभाव है, बंध का कारण है। मेरे स्वभाव की वे मदद नहीं करते, इसप्रकार विकार को हेय समझकर स्वभाव को उपादेय समझे और स्वयं के शुद्धस्वभाव की तरफ ढले तो यथार्थ भेद-विज्ञान होता है और पर-पदार्थ से विकार नहीं होता ऐसा व्यवहार भेद-विज्ञान सच्चा कहा जाता है। ऊपर-ऊपर से जुदा जाने; किन्तु विकार और दया-

दान जितना ही स्वयं को माने तो वह पर से जुदा नहीं होता। इसलिए त्रिकाल शुद्ध आत्मस्वरूप की श्रद्धा ही वास्तविक भेद-विज्ञान है।

यह ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेय स्व और पर की अपेक्षा दो प्रकार के हैं, उसमें भी स्वज्ञेय दो प्रकार के हैं हूँ

१. आत्मा का शुद्ध द्रव्य, ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि शुद्ध अनंत गुणों का भण्डार, शुद्ध निरुपाधि तत्त्व-जीवतत्त्व स्वज्ञेय द्रव्य है।

२. स्वयं के शुद्धस्वभाव का लक्ष्य छोड़कर परलक्ष्य से मोह-रागद्वेष-रूप विकारी भाव होता है, वह जड़ में अथवा जड़ के कारण नहीं होता, स्वयं के अपराध से होता है, वह भावबन्ध स्वज्ञेय पर्याय है।

परज्ञेय भी दो प्रकार का है हूँ

१. परमाणु शुद्ध द्रव्य है, वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि गुणों का भण्डार है, वह परज्ञेय द्रव्य है।

परमाणु में स्पर्शगुण के कारण स्कंधरूप पर्याय होती है, वह पर्याय जीव के राग-द्वेष के कारण नहीं होती। द्रव्यबंध परज्ञेय पर्याय है।

कर्म पुद्गल द्रव्य नहीं; किन्तु पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, वह चिकने-रूखेपन के कारण होती है, वह परज्ञेय पर्याय है।

तुम्हारी सत्ता में तुम्हारा अस्तित्व है। त्रिकाली आत्मद्रव्य शुद्ध, त्रिकाली ज्ञान-दर्शन शुद्ध और राग-द्वेष आदि भावबन्ध अशुद्ध हूँ ये तीन स्वज्ञेय कहे हैं। कर्म की सत्ता में कर्म का अस्तित्व है। त्रिकाली परमाणु शुद्ध, त्रिकाली स्पर्शादि गुण शुद्ध और चिकने-रूखेपन के कारण होनेवाली अवस्था अशुद्ध हूँ ये तीन परज्ञेय हैं। इसप्रकार स्वज्ञेय और परज्ञेय स्वतंत्र समझना चाहिए।

ज्ञेयों को यथार्थ जानने का फल धर्म की शुरुआत है। जो जीव स्वयं की स्वज्ञेय औपाधिक पर्याय को परज्ञेय कर्म के कारण अथवा दूसरे पदार्थों के कारण माने तो उसे स्व और पर एक भी तत्त्व की समझ नहीं है। जिस जीव को पर से जुदा होना नहीं आता, उसको विकार मेरा नहीं, मैं शुद्ध द्रव्य हूँ हूँ ऐसा विकार से त्रिकाली द्रव्य को जुदा करना भी नहीं

आता। इसलिए प्रथम तो जीव को ऐसा निश्चित करना चाहिये कि बाह्य-पदार्थों अथवा कर्म से विकार नहीं होता; किन्तु मेरे अपराध से होता है। फिर वह विकार मेरी अवस्था में होता है; किन्तु मेरे त्रिकाली द्रव्य में नहीं होता। मेरा आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध है ह्व ऐसा समझे तो धर्म होता है और उसका भावबन्ध नष्ट होता है।

अब यहाँ उभयबन्ध की बात करते हैं। संसारदशा में जीव के विकारी परिणाम का तथा द्रव्यबन्ध का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जीवद्रव्य का तथा पुद्गलद्रव्य का निमित्त-नैमित्तिक संबंधपना नहीं हो सकता। निमित्त-नैमित्तिकपना पर्याय में होता है। जीवद्रव्य की विकारी पर्याय का तथा पुद्गलपरमाणु की कर्मरूप अवस्था का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जीव ने राग किया, इसलिए कर्म बंधा और कर्म का उदय आया, इसलिए रागद्वेष हुए ह्व इसप्रकार का कर्ता-कर्म संबंध नहीं है और वह उभयबन्ध नहीं है; किन्तु जीव राग-द्वेष करता है, तब कर्म निमित्तमात्र है। पुराने कर्म का उदय राग-द्वेष में कारण है और नवीन कर्म इसके कारण से बंधते हैं ह्व ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

वहीं जीव तथा कर्मपुद्गल का विशिष्टतर परस्पर अवगाह कहा है। जहाँ जीव है, वहीं दूसरे द्रव्य-धर्म, अधर्म आदि रहते हैं; किन्तु यहाँ विशिष्टतर परस्पर अवगाह कहा है। उसका कारण यह है कि जब जीव राग करता है, तब उसका निमित्त पाकर धर्म, अधर्म, आकाश इत्यादि द्रव्यों की कोई अवस्था फेरफाररूप नहीं होती; किन्तु पुद्गल परमाणु कर्मरूप जरूर परिणामते हैं। तीव्र राग करता है; तब तीव्र स्थिति अनुभाग सहित कर्म बंधता है और मंद राग करता है तब मंद स्थिति अनुभाग सहित कर्म बंधता है। वह कर्म राग के कारण नहीं बंधता; किन्तु कर्मपरमाणु स्वयं के कारण बंधते हैं। राग-द्वेष के प्रमाण में जीव के साथ एकक्षेत्र अवगाह कर्म रहते हैं। दूसरे धर्मादिक द्रव्यों में ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं; इसलिए विशिष्टतर परस्पर अवगाह कहा है। जीव के साथ कर्म स्कंध का परस्पर अवगाहरूप रहना ही उभयबंध कहलाता है।

शरीर आदि पर पदार्थों को चीरकर देख! उसमें सुख कहाँ है? अज्ञानी जीव स्त्री, पैसा, पुत्रादि में सुख मान रहा है, वहाँ सुख कब देखा? यदि इज्जत में सुख है? सेठपने में सुख है? इस सुंदर शरीर में सुख है तो पूछते हैं कि शरीर को चीरकर कब देखा कि शरीर में सुख है। लड्डू में सुख कब देखा? क्या लड्डू चीरकर देखा कि उसमें सुख है या नहीं? दाल, भात, बंगला, मोटर, रुपया कभी चीरकर देखे? उनमें सुख कहाँ है? इनमें सुख दिखता नहीं; क्योंकि शरीर तो हाड़, मांसादि से भरा है, वैसे ही दाल, भात, लड्डू, मकान सभी चीरने से मालूम पड़ता है कि वे तो जड़-स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले हैं। तू उन पदार्थों को चीरकर विचार करेगा तो मालूम पड़ेगा कि उनमें कहीं भी सुख नहीं है; क्योंकि वे पदार्थ सुख गुण से रहित हैं।

अभी तू कहेगा कि शरीर, लड्डू इत्यादि में सुख तो नहीं दिखता, लेकिन माना तो गया है कल्पना की है कि शरीर अनुकूल हो तो ठीक, सुंदर स्त्री हो तो ठीक, सुंदर मकान-बगीचा हो तो ठीक, सुंदर भोजन मिले तो ठीक, रुपया मिले तो ठीक ह्व ऐसी कल्पना करके सुख माना है। तो हम पूँछते हैं कि वह कल्पना क्या है? उसका कभी विचार किया है? वह कल्पना शरीर इत्यादि पर के कारण से होती है या स्वयं के कारण से होती है? वह मान्यता स्वयं में रहेगी या पर-पदार्थों में रहेगी? उस मान्यता का क्षेत्र कितना होगा? वह मान्यता स्वयं के द्रव्य-गुण में रहती होगी या स्वयं की पर्याय में रहती होगी? वह मान्यता अनादि-अनंत रहती है या एक समयमात्र रहती है? उसका कभी विचार किया है क्या?

उल्टी मान्यता का क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी आत्मा प्रमाण है और काल एक समय का है। अहो! जीव जो स्वयं ही मान रहा है, वह सच्चा सुख है कि खोटा है, यह विचार नहीं करता है। जैसे शक्कर की मिठास उसके दाने प्रमाण में व्याप्त रहती है; उसीप्रकार अज्ञानभाव से कल्पित मान्यता आत्मा के असंख्यात प्रदेश क्षेत्र में व्यापती है। वह मान्यता बाहर के पदार्थों में या बाहर के कारण नहीं है। वह तो प्रति समय नवीन



उत्पन्न होती है। वह मिथ्या मान्यता कर्म ने नहीं करायी। वह भावबन्ध है और उसका नाश हो सकता है।

स्वभाव के लक्ष्य से उल्टी मान्यता का नाश होता है और सुख की उत्पत्ति होती है। अहो! जीव उल्टी कल्पना करता है। पाँच इन्द्रियों के विषय में ममत्व करके सुख मानता है; किन्तु वह सुख आँखों से नहीं दिखता; फिर भी मान्यता करता है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि हे जीव! वहाँ सुख नहीं दिखता; फिर भी वहाँ सुख मान लिया है। एक बार ऐसी मान्यता तो कर कि पर में सुख नहीं है। वह मान्यता तुम्हारे में, तुम्हारे कारण, तुम्हारे असंख्यात प्रदेशों में एकसमय रहती है। उसे कर्म ने नहीं कराया। किन्तु कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध अवश्य है। वह मान्यता तुम्हारा मूल शुद्ध स्वभाव नहीं। सुख तो तुम्हारे शुद्ध-स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान में है। जैसे उष्णता टलने पर पानी अपने मूल ठंडे स्वभाव को प्राप्त करता है; उसीप्रकार तुम्हारे स्वभाव का लक्ष्य करके श्रद्धा-ज्ञान करने से भावबन्ध टलकर तुम्हारे शीतल शुद्ध अमृतमय शांत स्वभाव को प्राप्त करोगे और उसमें से सुख की प्राप्ति होगी।

जब अपराध कर्मकृत है तो दूसरे से क्षमा माँगने की क्या जरूरत है? अनादिकाल से जीव राग-द्वेष करता आया है। कोई अज्ञानी जीव कहता है कि “भैया राग-द्वेष हुये, वे कर्मकृत हैं हूँ ऐसा मानकर क्षमा कर दो” तो तू किससे क्षमा माँगता है? दोष तो तुमने किये नहीं, दोष तो कर्म ने कराये हैं फिर तुम्हें क्षमा माँगने की क्या जरूरत है? कर्मकृत दोष की पर से क्षमा माँगना तो मूढ़ता है।

अब यहाँ निश्चय और व्यवहार क्षमा का स्वरूप कहते हैं। क्षमा माँगने की व्यवहार रीति तो यह है कि मेरे परिणाम में खेद वर्तता है। उसके लिए मुझे क्षमा करो। प्रायश्चित्त अथवा क्षमा पर के पास माँगना भी विकल्प है हूँ व्यवहार है। वह क्षमा का यथार्थ स्वरूप नहीं। व्यवहार क्षमा भी किसे कहा जाये? जो स्वयं में स्वयं निश्चय क्षमा करे तभी व्यवहार क्षमा कहा जाये। मैं तो ज्ञानस्वभावी शुद्ध पदार्थ हूँ। मेरे दोष के

कारण वास्तव में पर में कुछ नहीं हुआ और मेरे दोष का तो मैं अपराधी हूँ हूँ ऐसा समझकर पर तरफ से लक्ष्य हटाओ। यहाँ जो दोष हुआ है, वह तो एकसमय का हुआ है। वह मेरा त्रिकाली स्वरूप नहीं। मैं स्वयं ही क्षमासागर हूँ। मेरे क्षमासागर में से द्वेष वृत्ति उठी, वही क्रोध (दोष) है हूँ ऐसा समझकर जो जीव स्वयं के स्वभाव में एकाग्र होता है और दोष उत्पन्न नहीं होने देता, उसे ही वास्तव में क्षमा है। स्वयं, स्वयं को, स्वयं में क्षमा करे, वही सच्ची क्षमा है। सामने वाला जीव माफ करे कि नहीं, यह प्रश्न ही नहीं। वहीं गुरु के पास क्षमा माँगने का विकल्प उठे अथवा न भी उठे; किन्तु स्वभाव में ठहर जाये तो सच्ची क्षमा है। दूसरे जीव के खोटे परिणामों में स्वयं का परिणाम निमित्त था इतना विवेक करके फिर अपने उस परिणाम के स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान के आश्रय से पुनः न होने देना ही सच्ची क्षमा है।

भावबन्ध, द्रव्यबन्ध और उभयबन्ध तीनों पर्यायें हैं हूँ ज्ञेय हैं, उनका स्वरूप जानकर निज आत्मा तीनों बन्धों से रहित है हूँ ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करना वही धर्म है। ●

संयोगों में सुख खोजना समय और शक्ति का अपव्यय है। जिसप्रकार कितना ही मंथन क्यों न करो, पानी में से नवनीत निकलना सम्भव नहीं है; कितना ही पेलो, बालू में से तेल निकलना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार सुख की प्राप्ति के लिए संयोगों की शोध-खोज में किये गये सम्पूर्ण प्रयत्न निरर्थक ही हैं, उनसे सुख की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है।

सुख की प्राप्ति के लिए तो सुख के सागर निजस्वभाव की शोध-खोज आवश्यक है, निजस्वभाव का आश्रय आवश्यक है, उसी का ज्ञान-श्रद्धान आवश्यक है, ध्यान आवश्यक है।

**हूँ बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-५०-५१**

### प्रवचनसार गाथा १७८

अब, ऐसा बतलाते हैं कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध है :ह  
 सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया ।  
 पविसंति जहाजोगं चिट्ठंति हि जंति बज्जंति॥१७८॥  
 ( हरिगीत )

आतमा सप्रदेश है उन प्रदेशों में पुद्गला ।  
 परविष्ट हों अर बंधे अर वे यथायोग्य रहा करें॥१७८॥

अन्वयार्थ :ह [ सः आत्मा ] वह आत्मा [ सप्रदेशः ] सप्रदेश है;  
 [ तेषु प्रदेशेषु ] उन प्रदेशों में [ पुद्गलाः कायाः ] पुद्गलसमूह  
 [ प्रविशन्ति ] प्रवेश करते हैं, [ यथायोग्यं तिष्ठन्ति ] यथायोग्य रहते हैं,  
 [ यान्ति ] जाते हैं, [ च ] और [ बध्यन्ते ] बंधते हैं ।

टीका :ह यह आत्मा लोकाकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी होने से सप्रदेश है । उसके इन प्रदेशों में कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा का आलम्बन वाला परिस्पन्द (कम्पन) जिस प्रकार से होता है, उस प्रकार से होता है, उस प्रकार से कर्मपुद्गल के समूह स्वयमेव परिस्पन्दवाले होते हुए प्रवेश भी करते हैं, रहते भी हैं, और जाते भी हैं; और यदि जीव के मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों तो बंधते भी हैं । इसलिये निश्चित होता है कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध है ।

### गाथा १७८ पर प्रवचन

यह आत्मा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशवाला है । कोई कहता है कि “निश्चय के ग्रन्थों में आत्मा को असंख्यात प्रदेशी उपचार से कहा है; इसलिए असंख्यात प्रदेश हैं ही नहीं” तो यह बात बराबर नहीं । आत्मवस्तु अखण्ड है, उसमें असंख्यात प्रदेश हैं ह्व ऐसा भेद करने का विकल्प उठता है और अभेद आत्मा की श्रद्धा नहीं होती; इसलिए ऐसा कथन किया है । अभेद की श्रद्धा कराने के लिए ‘आत्मा एक और उसके प्रदेश असंख्यात’ ऐसे भेद का निषेध कराया है; किन्तु आत्मा असंख्यात प्रदेश वाला है ही नहीं ह्व ऐसा कोई कहे तो वह यह बात सही नहीं

समझा । आत्मा के असंख्यात प्रदेश निश्चय से हैं । आत्मा के असंख्यात प्रदेश होने से वह सप्रदेशी कहा जाता है ।

योग का कंपन स्वतंत्र है, उसमें मन-वचन-काय निमित्तमात्र हैं । कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का कंपन होता है । मन-वचन-काय तो जड़ अचेतन पुद्गल द्रव्य की अवस्था है । कंपन तो आत्मा के योगगुण की विकारी अवस्था है । निगोद से लेकर १३वें गुणस्थान पर्यंत केवलज्ञानी को भी कंपन होता है । मन-वचन-काय हैं; इसलिए वह कंपन होता है ह्व ऐसा नहीं; किन्तु आत्मा के स्वयं के योग-गुण की अवस्था में स्वयं कंपन होता है, तब उसमें मन-वचन-काय निमित्तमात्र हैं ।

द्रव्यबन्ध स्वतंत्र है, उसमें भावबन्ध निमित्तमात्र है । जब आत्मा के प्रदेशों में कंपन होता है, तब कर्मपुद्गलों का समूह स्वयं की योग्यता के कारण आत्मा के क्षेत्र में रहता है; किन्तु जब आत्मा के प्रदेशों का कंपन होता है, तब कर्मों को आना पड़े ह्व ऐसा नहीं है; उसीप्रकार कर्म आते हैं इसलिए आत्मा के प्रदेशों को कंपनरूप होना पड़े ह्व ऐसा भी नहीं है; दोनों स्वतंत्र हैं । कर्म स्वयं के कारण आते हैं और जाते हैं, उसमें कंपन निमित्तमात्र है । कंपन योगगुण की विकारी पर्याय है । उस योग के निमित्त से जड़कर्म में प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध होता है ।

यहाँ कषाय के निमित्तपने से कर्म स्वतंत्रपने बंधते हैं, उसकी बात करते हैं । कषाय के निमित्त से कर्म में स्थितिबंध तथा अनुभाग बंध पड़ता है । जीव स्वयं के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर पर-पदार्थ में मोह करता है तब कर्म आकर बंधते हैं । स्थिति और रस का बंध (अनुभाग बंध) कर्म में स्वयं की योग्यता के कारण पड़ता है ।

कोई पूछता है कि कषाय है इसलिए कर्म में स्थिति और रस का बंध पड़ा न ? और उससे वे आत्मा के एकक्षेत्र में बंधकर रहे न ?

उससे कहते हैं कि आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म एकक्षेत्र में स्वयं के कारण बंधरूप हुये हैं । जब कषाय हुई तब कर्मों को बंधरूप होना पड़ा ह्व ऐसा नहीं तथा जब कषाय नष्ट हुई, तब कर्मों को छूटना पड़ा ह्व ऐसा भी

नहीं। जब राग-द्वेष होते हैं; तब कर्म के परमाणु आते हैं और बंधते हैं। कोई कहे कर्म के परमाणुओं में आने की तथा बंधने की योग्यता नहीं; किन्तु राग-द्वेष किये इसलिये बंधते हैं ह्व ऐसा नहीं है। जब जीव राग-द्वेष नहीं करता, तब कर्म छूट जाते हैं; किन्तु कर्म में छूटने की योग्यता नहीं और छूट गये ह्व ऐसा भी नहीं है। बंधने की अथवा छूटने की परमाणु की स्वयं की योग्यता है। भावबंध के प्रमाण में ही द्रव्यबंध होता है; फिर भी दोनों स्वतंत्र हैं।

जब आत्मा द्रव्यकर्म का ही कर्ता नहीं तो फिर पर-पदार्थों का कर्ता कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पर-पदार्थों में ठीक-अठीक का भाव करना तुम्हारी विकारी पर्याय है। तथा हाथ, वाणी, शरीर, पैसा, दुकान इत्यादि की अवस्था जड़ की पर्याय है। तुझमें और जड़ में अत्यन्त अभाव है। तू उसका कुछ भी नहीं कर सकता। अनेकबार तुम्हारी इच्छा होती है; फिर भी शरीर चलता नहीं, भाषा निकलती नहीं। व्यापार करके पैसा प्राप्त करने का भाव अनेकबार होवे तो भी पैसे की प्राप्ति नहीं होती; तो फिर उसकी अवस्था मैंने की ह्व ऐसा अहंकार करके भावबन्ध किसलिए करता है? तेरी योग्यता के कारण योगगुण की अशुद्धता तथा मिथ्यात्व, राग-द्वेष का भावबन्ध होता है, उस भावबन्ध के कारण भी जड़कर्म की अवस्था नहीं होती। जितने प्रमाण में जो जितने प्रकार का भाव करता है, उसे उतने प्रमाण में उतने प्रकार का स्थिति और अनुभागबन्ध नियम से जड़ के कारण होता है। जब आत्मा के राग-द्वेष उस कर्म की अवस्था के ही कर्ता-हर्ता नहीं तो फिर आत्मा के राग-द्वेष शरीर, वाणी, पैसा इत्यादि की अवस्था कर सकें ह्व ऐसा मानना तो स्थूल अज्ञान है; इसलिए यहाँ पर-पदार्थ के कर्तृत्व के अहंकार को टालने की सूक्ष्म बात की है।

इसप्रकार द्रव्यकर्म में स्थिति, रस (अनुभाग) इत्यादि बंध उनके स्वयं के कारण होता है, उसमें भावबंध निमित्तमात्र है ह्व ऐसा यथार्थ ज्ञान करके पर-वस्तु का तथा कर्म का आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं ह्व ऐसा यथार्थ ज्ञान करना, वही धर्म है। ●

### प्रवचनसार गाथा १७९

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि ह्व राग परिणाममात्र जो भावबंध है सो द्रव्यबंध का हेतु होने से वही निश्चयबन्ध है :ह्व

**रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।**

**एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो॥१७९॥**

( हरिगीत )

रागी बाँधे कर्म छूटे राग से जो रहित है।

यह बंध का संक्षेप है बस नियतनय का कथन यह ॥१७९॥

अन्वयार्थ :ह्व [ रक्तः ] रागी आत्मा [ कर्म बध्नाति ] कर्म बाँधता है, [ रागरहितात्मा ] रागरहित आत्मा [ कर्मभिः मुच्यते ] कर्मों से मुक्त होता है; ह्व [ एषः ] यह [ जीवानां ] जीवों के [ बंधसमासः ] बन्ध का संक्षेप [ निश्चयतः ] निश्चय से [ जानोहि ] जानो।

टीका :ह्व राग परिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्म से बंधता है, वैराग्य परिणत नहीं बंधता; राग परिणत जीव नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता, वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है; राग परिणत जीव संस्पर्श करने (संबंध में आने) वाले नवीन द्रव्यकर्म से, और चिरसंचित (दीर्घकाल से संचित ऐसे) पुराने द्रव्यकर्म से बंधता ही है मुक्त नहीं होता, वैराग्यपरिणत जीव संस्पर्श करने (संबन्ध में आने) वाले नवीन द्रव्यकर्म से और चिरसंचित ऐसे पुराने द्रव्यकर्म से मुक्त ही होता है, बंधता नहीं है; इससे निश्चित होता है कि ह्व द्रव्यबन्ध का साधकतम (उत्कृष्ट हेतु) होने से रागपरिणाम ही निश्चय से बन्ध है।

### गाथा १७९ पर प्रवचन

पर्यायबुद्धि जीव ही नवीन द्रव्यकर्म से बंधता है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वरूपी है, उसका विचार न करके पर पदार्थ की क्रिया आत्मा कर सकता है ह्व ऐसा भाव मिथ्याभाव है। “पहला सुख निरोगी काया” ह्व ऐसा अज्ञानी मानता है। निरोगी शरीर से सुख और रोगी शरीर से दुःख ह्व

ऐसे मिथ्याभाव सहित राग-द्वेष वाले जीव को यहाँ रागी कहा है। ऐसा राग-परिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्म से बँधता है। जो जीव ज्ञानस्वरूपी आत्मा के आश्रय से धर्म न मानकर दया-दानादि के शुभभाव से धर्म मानता है तथा आत्मा को राग प्रमाण मानता है, उसे भावबन्ध होता है और वह नवीन कर्मों से बँधता है। जितने प्रमाण में जीव राग-द्वेष करता है, उतने प्रमाण में द्रव्यकर्म स्वतंत्रपने बंधते हैं हूँ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; किन्तु जितने प्रमाण में कर्म का उदय हो, उतने प्रमाण में जीव को राग-द्वेष करना ही पड़े हूँ ऐसा नहीं है। अज्ञानी मानता है कि आत्मा कर्म का खिलौना है। जैसे जादूगर डोरी खींचता है और पुतली को नाचना पड़ता है; उसीप्रकार कर्म का उदय आता है तब जीव को नाचना पड़ता है। नरकगति नामकर्म का उदय आवे, तब जीव की इच्छा न हो तो भी नरक में जाना पड़ता है। हूँ ऐसा पर्यायदृष्टि वाला जीव मानता है। उसकी यह मान्यता ही बंध का कारण है।

श्रेणिक राजा को नरक में जाने का भाव था क्या? कर्म (आयु) पूर्व में बंध गया था; इसलिए कर्म के कारण नरक में जाना पड़ा हूँ ऐसा अज्ञानी मानता है; किन्तु वह मान्यता भूलभरी है। आत्मा का भान होने पर भी नरक में जाने की उस आत्मा की योग्यता थी, इसलिए वह नरक में गया, कोई कर्म नरकादि गति में नहीं ले जाता। प्रत्येक जीव स्वयं की योग्यता से ही इधर उधर जाता है। संयोग दृष्टिवाला संयोग को देखता है। वह ऐसा मानता है कि देव-गुरु-शास्त्र मुझे तार देंगे। भगवान तो कहते हैं कि तू स्वयं से तिरगा। दूसरा कोई तुझे तार देगा ऐसा नहीं। किसी की कृपा से तू तिरगा नहीं और किसी के शाप से तेरा अकल्याण नहीं होगा हूँ ऐसा भगवान का उपदेश है; फिर भी पर्यायदृष्टि राग परिणत जीव ही पर के कारण धर्म-अधर्म मानकर भावबन्ध करता है और उससे उसे द्रव्यकर्म बंधता है।

शुद्धस्वभाव के भानवाला वैराग्य परिणत जीव नवीन कर्मों से नहीं बंधता। यहाँ वैराग्य परिणत शब्द का खास अर्थ है। वैराग्य परिणत किसे

कहना? पत्नी, बच्चे, दुकान, धंधा छोड़कर वन में जाना वैराग्य-परिणत है क्या? छह-छह महीने के उपवास करना वैराग्य परिणत है क्या? नहीं, वे जीव वैराग्य-परिणत नहीं। शरीर की क्रिया से तथा दया-दान के भाव से मुझे लाभ होगा हूँ ऐसा भाव तो राग-परिणत भाव है। निमित्त तथा संयोग की दृष्टि छोड़कर पुण्य-पाप मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ हूँ ऐसे भानपूर्वक ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धावाला वैराग्य परिणत जीव है। आत्मा भाषा उत्पन्न नहीं कर सकता, शरीर की क्रिया नहीं कर सकता, भगवान ॐ वाणी के कर्ता नहीं, वाणी-वाणी के कारण निकलती है।

समझने वाला स्वयं के कारण समझता है हूँ ऐसे पर-पदार्थ तथा परलक्ष्य से होने वाले संयोगी भाव से छूटकर स्वयं के स्वभाव का आश्रय लेने पर राग सहज छूट जाता है। वही जीव वैराग्य परिणत है। द्रव्यलिंगी मुनि २८ मूलगुणों का पालन करते हैं, बाह्य-परीषह बहुत सहन करते हैं, बाह्य में क्रोध नहीं करते, इससे उनके शुभभाव बहुत होता है, फिर भी वे राग परिणत ही हैं; वैराग्य परिणत नहीं। भरत चक्रवर्ती बाह्य-संयोगों में रहते हुए भी बाह्य-क्रिया और राग के धनी नहीं थे। मात्र स्वभाव का ही आदर है, वह जीव वैराग्य परिणत है। वह वैराग्यपरिणत जीव चौथे गुणस्थान से होता है और उसको मुख्यपने कर्मबन्ध नहीं होता।

कई जीव कहते हैं कि वैराग्य लावो और ईश्वर का भजन करो। तो क्या ईश्वर का भजन करने से धर्म होता है? अब यह बात कहते हैं हूँ

१. देव-गुरु तो पर हैं, उनका भजन करने से कषाय की मंदता हो तो पुण्य होता है; किन्तु धर्म नहीं होता; इसलिए सच्चे देव-गुरु का भजन भी ईश्वर का सच्चा भजन नहीं; क्योंकि उससे तो पुण्य होता है। इसलिए देव-गुरु इस आत्मा के ईश्वर नहीं।

२. आत्मा में प्रगट हुए पुण्य-पाप तो विकार हैं, उनका भजन करने से आस्रव-बंध होता है; किन्तु धर्म नहीं होता। चाहे जितना शुभभाव हो तो भी वह आत्मा के लिए ईश्वर नहीं; इसलिए पुण्य का भजन करने योग्य नहीं।

३. वर्तमान में क्षयोपशम भाव है, वह अंश है, उसका भजन करने से धर्म नहीं होता, वह एक समय की पर्याय है। एक समय की पर्याय में नवीन पर्याय प्रगट करने की ताकत नहीं होती। इसलिए वह पर्याय (क्षयोपशम भाव) ईश्वर नहीं, उसका भजन करने योग्य नहीं।

४. कोई कहता है कि ज्ञानगुण का भजन करो! तो अकेले ज्ञान-गुण को आत्मा से जुदा करने का विकल्प उठता है और एकाग्रता नहीं होती। अनंत गुणों की एकाग्रता एक गुण की एकाग्रता में से नहीं आती; इसलिए अकेला ज्ञान गुण ईश्वर नहीं; अतः गुणभेद का भजन करने योग्य नहीं।

५. यदि अनंत गुणों की एकाग्रता करके सामान्य शुद्ध-स्वभाव की ओर पर्याय बढ़े तो धर्म प्रगट होकर शांति प्राप्त हो; इसलिए निमित्त की अपेक्षा छोड़कर विकार रहित, गुण-भेद रहित अभेद-शुद्धस्वभाव का भजन करने योग्य है। वह अभेद शुद्धस्वभाव ही ईश्वर है।

निमित्त विकार पर्याय अथवा गुणभेद के लक्ष्य से धर्म नहीं होता। अर्हत भगवान तो स्वयं के ईश्वर हैं; वे इस आत्मा के ईश्वर नहीं। यदि वे इसके ईश्वर हों तो इसके साथ यह जीव भी ईश्वर होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं बनता। अर्हत की स्तुति तो शुभभाव का भजन है।

अज्ञानी कहता है कि यदि ऐसी बात कहेंगे तो गजब हो जायेगा। भाई! यह तुम्हारी अज्ञानता है। आचार्य भगवान को सत्य बात कहने में डर नहीं लगता और तुम्हें यह लगता है कि सत्य प्रगट होने से अहित होगा। भाई! सत्य प्रगट होने से अहित टलकर हित ही होगा।

निमित्त, पुण्य तथा गुणभेद की रुचि छोड़कर, स्वयं ऐश्वर्यवान अभेद शुद्धस्वभाव को जो भजता है, वह जीव वैराग्य परिणत है और उसे कर्मबन्ध नहीं होता। इसप्रकार सच्ची दृष्टि करना, धर्म का कारण है।

इस गाथा में यह बताते हैं कि जीव को बंध होता है या नहीं। राग परिणत जीव नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता। निगोद के जीवों को बाह्य में कोई भी परिग्रह नहीं; किन्तु स्वभाव का तीव्र अनादर वर्तता है। पर-वस्तु का इसे बाह्य-संयोग नहीं, किन्तु मैं शरीर, मैं विकार हूँ ऐसी

तीव्र ममता के कारण उसे तीव्र अनुभागवाला कर्म बंधता है। वहीं द्रव्यलिंगी मुनि ने हजारों रानियों को छोड़कर मुनिदशा अंगीकार की है, अट्टाईस मूलगुण का पालन करते हैं, बाह्य-परिग्रह नहीं है, परीषह सहन करते हैं; फिर भी शुभभाव से धर्म होगा हूँ ऐसे सूक्ष्म मिथ्यात्व के कारण जो रागपरिणत जीव हैं, उन्हें अनंत संसार का बंध होता है और वे नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होते।

वैराग्य परिणत जीव नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त होता है। जैसे समकित्ती जीव के पास राजवैभव आदि संयोगों का ढेर होने पर भी, संयोग आत्मा से पर हैं और शुभाशुभ भाव जहर हैं हूँ ऐसा भान होने से जो वैराग्य परिणत जीव है, उसको नवीन कर्म का बंध नहीं होता अर्थात् वह नवीन कर्म से मुक्त रहता है। नवीन कर्म उसे चोटता नहीं। यहाँ अस्ति-नास्ति से बात की है। अज्ञानी बंधता है और ज्ञानी बंधता नहीं। ऐसा अनेकान्त का कथन है।

अब वैराग्य का दो प्रकार से कथन करते हैं हूँ

१. दृष्टि का वैराग्य हूँ स्त्री-पुत्रों को छोड़कर वन में भाग जाऊँ, यह वैराग्य नहीं। पर-पदार्थों का आत्मा में अभाव है और वे आत्मा को लाभ तथा हानि में कारण नहीं हैं। पुण्य-पाप उपाधिभाव हैं, उनसे रहित आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है हूँ ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्वभाव का दृष्टि में आदर करना दृष्टि का वैराग्य है।

२. चारित्र का वैराग्य हूँ अशुभभाव छोड़कर शुभभाव करना, व्रत-तप करना चारित्र का वैराग्य नहीं; किन्तु शुभाशुभ भाव मेरे स्वरूप नहीं, मैं तो शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ हूँ ऐसा प्रथम दृष्टि का वैराग्य तो हुआ है और साथ में चिदानन्द स्वभाव में विशेष स्थिरता रूप चारित्र और उपशांत निर्विकल्प रमणता प्रगट करना चारित्र का वैराग्य है।

दृष्टिवंत वैराग्यवाले जीव को मुख्यपने बंध नहीं होता, अस्थिरता के कारण बंध होता है, वह अल्प है। उसे बंध होता ही नहीं हूँ ऐसा दृष्टि अपेक्षा से कहने में आता है और चारित्र वैराग्यवाला जीव तो स्वयं के स्वभाव में लीन है; इसलिए उसे बंध नहीं होता।

अज्ञानी जीव पुराने और नये द्रव्य कर्मों से बंधता है। सच्चे वैराग्य की जिसे खबर नहीं, वह पर्यायदृष्टिवाला जीव पुण्य-पाप का आदर करता है और शरीर की क्रिया में धर्म मानता है, उसको नवीन कर्म का बन्ध तो होता ही है; और साथ में लम्बे काल से संचित पुराने द्रव्यकर्म से भी बंधता है वह ऐसा कहा है।

पुराने कर्म तो प्रतिसमय स्वकाल पाकर खिर जाते हैं; फिर भी पुराने द्रव्यकर्म से बंधता है वह ऐसा कैसे कहा?

स्वयं की पर्यायबुद्धि चालू रखी है। बंधन की योग्यता है, बन्धनभाव चालू है, उससे पुराने कर्म खिरने पर भी नये बंधते हैं; इसलिए पुराने कर्म से बंधता है वह ऐसा कहा है। कोई कहता है कि उपवास आदि तप करे और पुराने कर्म खिरे, उतनी थोड़ी निर्जरा हुई कि नहीं? नहीं, बिलकुल निर्जरा नहीं हुई। क्रियाकांड की दृष्टिवाले को प्रतिसमय नवीन कर्म का बंध होता ही रहता है; इसलिए पुराने कर्म छूटे वह ऐसा नहीं कहा जाता। नवीन कर्म न बंधें तो पुराने छूटे कहे जायें। इसलिए अज्ञानी जीव पुराने अथवा नवीन किसी एक कर्म से भी नहीं छूटता, बंधता ही है।

ज्ञानी जीव पुराने कर्मों से छूट जाता है। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं पर पदार्थ का कुछ भी नहीं कर सकता और शुभाशुभ भाव मेरा स्वरूप नहीं। जिसे तीन लोक के पदार्थों की तथा शुभभाव की रुचि का अभाव और ज्ञातास्वभाव की रुचि का सद्भाव वर्तता है, उसको नवीन कर्म नहीं बंधता। “वैराग्य परिणत जीव संस्पर्श करते हुए नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त रहता है” वह ऐसा पाठ है तो इसमें संस्पर्श कैसे कहा? उसका खुलासा ऐसा है कि प्रथम अज्ञानदशा में राग की बुद्धि थी, तब नवीन कर्म का संस्पर्श (संबंध) होता था। अब ज्ञानदशा में नवीन कर्म बंधता ही नहीं, इस तरह वह नवीन कर्म से मुक्त होता है वह ऐसा कहा है। नवीन कर्म आया है और बाद में छूट गया वह इसका ऐसा अर्थ नहीं। वैसे ही नवीन कर्मों के आने की योग्यता तो थी; किन्तु जीव ने राग नहीं किया; इसलिये

कर्म आता हुआ अटक गया वह ऐसा भी इसका अर्थ नहीं। स्वभावदृष्टि में स्थिर होने पर नवीन कर्म उत्पन्न ही नहीं होते। और पुराने द्रव्यकर्म प्रतिसमय आकर खिर जाते हैं और नवीन बंध नहीं होता इसकारण पुराने द्रव्यकर्म से मुक्त ही है वह ऐसा कहा है। यहाँ अस्थिरता के अल्पबंध की बात गौण है, मुख्यपने ज्ञानी को बंध नहीं होता वह यह अपेक्षाकृत कथन है। विशेष स्थिरता करने पर ज्ञानी को अस्थिरता का अल्पबंध भी नहीं होता। वह पुराने कर्म से नहीं बंधता और पुराने कर्म से मुक्त ही रहता है वह यह अस्ति-नास्ति से बात की है।

राग-परिणाम ही निश्चय से बंध है। पुण्य-पाप की रुचिवाले जीव की संयोगी दृष्टि नहीं टलती। अज्ञानी ऐसा मानता कि कर्म का उदय जितने प्रमाण में आता है, उतने प्रमाण में राग-द्वेष करने ही पड़ते हैं। यदि ऐसा हो तो निगोद का जीव कभी भी मनुष्य नहीं हो सकेगा। जैसे स्फटिक मणि पर-पदार्थ का आश्रय करके काली पड़ती है, पर-पदार्थ उसमें झाँई पाड़ नहीं सकते। वह झाँई भी स्वयं का उपाधिभाव है, स्वभाव नहीं। उसीप्रकार आत्मा कर्म इत्यादि पर का आश्रय करता है तो विकार होता है, पर पदार्थ विकार कराने में कारण नहीं। यदि पर-पदार्थ विकार कराये तो विकार कभी टलेगा नहीं तथा विकार स्वयं का स्वभाव हो तो निर्विकारी कभी होगा नहीं। इसलिए विकार स्वयं का स्वभाव नहीं; किन्तु जब जीव स्वयं पर का लक्ष्य करता है तो भावबन्ध होता है वह ऐसा सच्चा समझना चाहिए। इसलिए द्रव्यबंध के निमित्त भावबन्ध अर्थात् मिथ्यात्व रागद्वेष ही निश्चय से बंध है। ऐसा स्वतंत्र पर्याय का ज्ञान करके कर्म के ऊपर से लक्ष्य उठाकर भावबंध भी मेरा त्रिकालस्वरूप नहीं। मैं तो स्वयं त्रिकाली शुद्ध है वह ऐसी सच्ची श्रद्धा-ज्ञान करना ही धर्म है।



### प्रवचनसार गाथा १८०

अब, परिणाम का द्रव्यबन्ध के साधकतम राग से विशिष्टपना सविशेष प्रगट करते हैं (अर्थात् परिणाम द्रव्यबन्ध के उत्कृष्ट हेतुभूत राग से विशेषतावाला होता है ऐसा भेद सहित प्रगट करते हैं) :ह

**परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।**

**असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो॥१८०॥**

( हरिगीत )

राग-रुष अर मोह ये परिणाम इनसे बंध हो ।

राग है शुभ-अशुभ किन्तु मोह-रुष तो अशुभ ही॥१८०॥

अन्वयार्थ :ह [ परिणामात् बंधः ] परिणाम से बन्ध है, [ परिणामः रागद्वेष-मोहयुतः ] (जो) परिणाम राग-द्वेष-मोहयुक्त है । [ मोहप्रद्वेषौ अशुभौ ] (उनमें से) मोह और द्वेष अशुभ है, [ रागः ] राग [ शुभः या अशुभः ] शुभ अथवा अशुभ [ भवति ] होता है ।

टीका :ह प्रथम तो द्रव्यबन्ध विशिष्ट परिणाम से होता है । परिणाम की विशिष्टता राग-द्वेष-मोहमयपने के कारण है । वह शुभ और अशुभपने के कारण द्वैत का अनुसरण करता है । (अर्थात् दो प्रकार का है); उसमें से मोह-द्वेषमयपने<sup>१</sup> से अशुभपना होता है, और रागमयपने से शुभपना तथा अशुभपना होता है; क्योंकि राग-विशुद्धि तथा संक्लेशयुक्त<sup>२</sup> होने से दो प्रकार का होता है ।

### गाथा १८० पर प्रवचन

प्रथम तो द्रव्यबंध खास परिणाम से होता है । यहाँ 'विशिष्ट' शब्द कहा है । विशिष्ट का अर्थ यह है कि परिणामों से द्रव्यबंध नहीं होता है;

१. मोहमय परिणाम और द्वेषमय परिणाम अशुभ हैं ।

२. धर्मानुराग विशुद्धिवाला होने से धर्मानुरागमय परिणाम शुभ है, विषयानुराग संक्लेशमय होने से विषयानुरागमय परिणाम अशुभ हैं ।

किन्तु विशिष्ट (खास) परिणामों से ही बंध होता है । अविशिष्ट ह ऐसे शुद्ध परिणामों से बंध नहीं होता । वैसे ही विकारी परिणाम में अंतिम (जघन्य) अंश भी बंध के कारण नहीं होते ।

१. चौथे गुणस्थान में सम्यक् मोहनीय के परिणाम दर्शनमोहनीय कर्मबंध के कारण नहीं ।

२. नवमें गुणस्थान में क्रोध, मान, माया के अंतिम अंश उन-उन प्रकृतियों के बंध के कारण नहीं ।

३. दशमें गुणस्थान में लोभ के अंतिम अंश, लोभ के बंध के कारण नहीं ।

४. बारहवें गुणस्थान में ज्ञान-दर्शन की हीनता के अंतिम अंश बंध के कारण नहीं ।

अंतिम (जघन्य) परिणाम यदि बंध के कारण हों तो कभी बंधन छूटेगा नहीं; इसलिए अशुद्धता के जघन्य अंश बंध के कारण नहीं ।

परवस्तु बंध का कारण नहीं । अशुद्धता के जघन्य अंश तथा समकित तथा चारित्र की शुद्धता के परिणाम बंध के कारण नहीं; किन्तु अशुद्धता विशिष्ट द्रव्य बंध का कारण है । ऐसे खास परिणाम द्रव्यबंध के कारण हैं । वहीं परवस्तु से बंधन नहीं । सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के पास वस्तुओं के ढेर हैं, यदि वस्तुओं से बंधन होता हो तो उसको बंधन बहुत होना चाहिए और मिथ्यादृष्टि त्यागी को अल्प वस्तु का परिग्रह है तो उसको बंधन अल्प होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता । परवस्तु तो मरण होने पर वहीं छूट जाती है; किन्तु बंधन नहीं छूटता; इसलिए परवस्तु बंधन का कारण नहीं; ममताभाव बंधन का कारण है । मिथ्यादृष्टि जीव को संसार के कारणरूप बंधन है और समकिति को अल्पबंधन है और वह भी छूट जानेवाला है ।

अब उन अशुद्ध परिणामों के भेद बताते हैं ह

१. पर-पदार्थों से आत्मा को लाभ होता है । खाद्य पदार्थों को न

खावें तो उपवास और धर्म होगा, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अनुकूल मिले तो मुझे लाभ होगा ह्व ऐसे सभी भाव मोहभाव हैं।

२. अनुकूल पदार्थों में प्रीति करना राग है और

३. प्रतिकूल पदार्थों में अप्रीति करना द्वेष है।

अशुभ और शुभ के भेद से अशुद्ध परिणामों के दो भेद कहे हैं ह्व

१. अशुभ ह्व शरीर की क्रिया से अथवा पुण्य से धर्म मानना आदि मिथ्यात्व के भाव अशुभ हैं। हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रीति, कुटुंब आदि के लक्ष्य से होने वाले भाव, शरीर के लक्ष्य से होने वाले भाव ह्व ये सभी अशुभ भाव हैं। उसीप्रकार बैरी अथवा प्रतिकूल संयोगों की तरफ अप्रीति रूप परिणाम अशुभ हैं।

२. शुभ ह्व देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, स्वाध्याय आदि के भाव, दया-दानादि के भाव शुभभाव हैं।

देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव शुभराग है; किन्तु उससे लाभ माने तो वह मिथ्यात्वभाव पाप है।

मिथ्यात्व तो अशुभ में गिना है। राग दो प्रकार का है, एक शुभराग और दूसरा अशुभराग और द्वेष भी दो प्रकार का है। कदाचित् समकिति को धर्म के कारण अन्यमतियों के प्रति प्रशस्त द्वेष हो जाता है, उसे यहाँ नहीं गिना है, उसे गौण करके द्वेष को एक ही प्रकार का अशुभ में लिया है धर्मानुराग विशुद्धिवाला होने से धर्मानुरागमय परिणाम शुभ है। विषयानुराग संक्लेशवाला होने से विषयानुरागमय परिणाम अशुभ है।

अज्ञानी जीव पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को मोक्ष का परंपरा कारण मानता है। यह मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व ही बड़ा पाप है, वह अशुभ है। मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित् शुभभाव में लगा हुआ दिखता हो और अशुभ को टालता हुआ दिखता हो; किन्तु अशुभमय मिथ्यात्व को टाले बिना उसका अशुभभाव वास्तव में नहीं टलता; क्योंकि उसकी दृष्टि पर के ऊपर ही रहती है। अज्ञानी जीव मानता है कि पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का निमित्त ही आत्मा की पात्रता के सद्भाव में परंपरा मोक्ष का कारण

है। उससे पूछते हैं यदि आत्मा की पात्रता के सद्भाव में परंपरा कारण कहा तो निमित्तकारण क्या रहा? तो फिर उसे परंपरा कारण कैसे कहा जाये? लोग भाषा में कुछ भी कहते हैं, लेकिन उनके अंतरंग में तो निमित्ताधीन दृष्टि पड़ी ही है।

जब मोक्षमार्ग भी मोक्ष का उपचार कारण है तो फिर परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मोक्ष के कारण किस प्रकार हो सकते हैं?

१. परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अत्यंत अभाव है; इसलिए वह परंपरा मोक्ष का कारण है ही नहीं। अभावात्मक वस्तु मोक्ष का सद्भाव नहीं कर सकती।

२. परद्रव्य के लक्ष्य से हुआ शुभभाव भी विकार है और विकार से मोक्ष की पर्याय कभी प्रगट नहीं होती; इसलिए उत्कृष्ट शुभभाव भी परंपरा मोक्ष का कारण नहीं है।

३. आत्मा का भान होने पर अंशरूप में उघड़ती हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय भी मोक्ष का कारण नहीं; क्योंकि वह पर्याय निर्मल होने पर भी अंश है, अधूरी है और अधूरी में से पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं हो सकती।

४. गणधर देव को सम्यक् मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्ययज्ञान हैं। वे चार ज्ञान भी केवलज्ञान के कारण नहीं; क्योंकि वे अधूरे क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। क्षायोपशम में से क्षायिकभाव प्रगट नहीं हो सकता; इसलिए चार ज्ञान मोक्ष के कारण नहीं।

५. आत्मा का शुद्ध चिदानन्द स्वभाव अखण्डता से भरपूर है। जो पारिणामिक भाव अनादि-अनंत एकरूप है, उसमें पर्याय पूरी तरह एकाग्र होती है ह्व अभेद होती है, तब केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट होती है; इसलिए मोक्ष का कारण शुद्धस्वभाव एक ही है।

जिसको शुद्धस्वभाव के कारण से मोक्षपर्याय प्रगट होती है, उसे मोक्षमार्ग को अथवा चार ज्ञान को व्यवहार से मोक्ष का कारण कहा है; क्योंकि वह पर्याय पूर्व में थी। उस पूर्व पर्याय का व्यय होकर मोक्ष हुआ है।



ऐसी पूर्व पर्याय का ज्ञान कराने हेतु मोक्षमार्ग को उपचार कारण कहा है।

अहो! जब मोक्षमार्ग को भी मोक्ष का उपचार कारण कहा है तो फिर पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के सद्भाव में परंपरा मोक्ष होता है ऐसा मानना तो स्थूल अज्ञान है, मिथ्यात्वभाव है। इसलिए जीवों को पर पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर मिथ्यात्व टालना चाहिए।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि यदि शुभभाव भी करता हो तो भी उसे मिथ्यात्व के कारण बड़ा अशुभ और अनंत संसार के बंध का कारण है। इसलिए जिसे पाप वास्तव में टालना हो उसे पर के ऊपर से दृष्टि हटाकर, पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर, अबंध स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिये। जिससे मिथ्यात्वरूपी बड़ा पाप टल जाये और संसार का नाश होकर धर्मदशा की प्राप्ति हो।

### परम सुखी होने का उपाय

आचार्य भगवन्तों का मात्र यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सन्देश है कि सम्पूर्ण जगत से दृष्टि हटाकर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करो, आराधना करो; उसे ही जानो, पहिचानो; उसी में जम जावो, उसमें ही रम जावो, उसमें ही समा जावो, इससे ही अतीन्द्रियानन्द की प्राप्ति होगी ह्व परमसुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

पर को छोड़ने के लिए, पर से छूटने के लिए इससे भिन्न कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पर तो छूटे हुए ही है। वे तेरे कभी हुए ही नहीं हैं; तूने ही उन्हें अज्ञानवश अपना मान रखा था, अपना जान रखा था और उनसे राग कर व्यर्थ ही दुःखी हो रहा था। तू अपने में मगन हुआ तो वे छूटे हुए ही हैं।

**ह्व बारहभावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-७०-७१**

### प्रवचनसार गाथा १८१

अब विशिष्ट परिणाम के भेद को तथा अविशिष्ट परिणाम को, कारण कार्य का उपचार करके कार्यरूप से बतलाते हैं :ह्व

**सुहपरिणामो पुण्यं असुहो पावं ति भणिदमण्णोसु।**

**परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥१८१॥**

( हरिगीत )

पर के प्रति शुभभाव पुण पर अशुभ तो बस पाप है।

पर दुःखक्षय का हेतु तो बस अनन्यगत परिणाम है॥१८१॥

अन्वयार्थ :ह्व [ अन्येषु ] परके प्रति [ शुभ परिणामः ] शुभ परिणाम [ पुण्यम् ] पुण्य है, और [ अशुभः ] अशुभ परिणाम [ पापम् ] पाप है, [ इति भणितम् ] ऐसा कहा है; [ अनन्यगतः परिणामः ] जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है ऐसा परिणाम [ समये ] समय पर [ दुःखक्षय कारणम् ] दुःखक्षय का कारण है।

टीका :ह्व प्रथम तो परिणाम दो प्रकार का है ह्व परद्रव्य प्रवृत्त (परद्रव्य के प्रति प्रवर्तमान) और स्वद्रव्य प्रवृत्त। इनमें से परद्रव्य प्रवृत्त परिणाम पर के द्वारा उपरक्त (पर के निमित्त से विकारी) होने से विशिष्ट परिणाम है और स्वद्रव्य प्रवृत्त परिणाम पर के द्वारा उपरक्त न होने से अविशिष्ट परिणाम है। उसमें विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं ह्व शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम। उनमें पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से अशुभ परिणाम पाप है। अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है इसलिये उसके भेद नहीं हैं। वह (अविशिष्ट परिणाम) यथाकाल संसार दुःख के हेतुभूत कर्मपुद्गल के क्षय का कारण होने से संसार दुःख का हेतुभूत कर्मपुद्गल का क्षय स्वरूप मोक्ष ही है।

भावार्थ :ह्व पर के प्रति प्रवर्तमान ऐसा शुभ परिणाम वह पुण्य का कारण है और अशुभ परिणाम वह पाप का कारण है, इसलिये यदि कारण में कार्य का उपचार किया जाय तो, शुभपरिणाम वह पुण्य है और अशुभ

परिणाम वह पाप । स्वात्मद्रव्य में प्रवर्तमान ऐसा शुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है, इसलिये यदि कारण में कार्य का उपचार किया जाय तो, शुद्ध परिणाम वह मोक्ष है ।

### गाथा १८१ पर प्रवचन

प्रथम तो परिणाम दो प्रकार का है ह १. परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाला परिणाम और २. स्वद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाला परिणाम तथा वही परिणाम अशुद्ध और शुद्ध के भेद से भी दो प्रकार का कहा गया है ।

१. अशुद्ध परिणाम :- आत्मा के अतिरिक्त समस्त परद्रव्यों के लक्ष्य से हुए परिणामों से विकार की उत्पत्ति होती है । देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव, दया-दान के कोमल भाव तथा कुटुंबीजनों के लक्ष्य से हुए भाव और हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भावों में मलिनता है; इसलिए उन्हें विशिष्ट (खास) विकारी परिणाम कहा है ।

२. शुद्ध परिणाम :ह शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा पर-पदार्थ और विकारभाव से रहित है ह ऐसे ज्ञाता-दृष्टारूप शुद्धस्वभाव के आश्रय से होने वाले परिणामों में पर का अवलंबन नहीं होने से वे अविशिष्ट अर्थात् शुद्ध परिणाम हैं ।

अशुद्ध परिणाम शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का कहा है ह

(१) शुभ परिणाम :ह देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति एवं दया-दान-पूजा आदि के परिणाम शुभभाव हैं तथा जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है, वह भी शुभ है ।

(अ) कितने ही अज्ञानी लोग कोमलता अथवा दया दान के भाव को पापभाव कहते हैं; किन्तु यह बात खोटी है; क्योंकि शुभभाव तो पुण्यतत्त्व है और पुण्य पापतत्त्व से जुदा है । पुण्य को पाप मानने से नवतत्त्व ही नहीं रहेंगे ।

(ब) वहीं कितने ही अज्ञानी लोग शुभभाव से निर्जरा मानते हैं, वह भी भूल है; क्योंकि शुभभाव पुण्य तत्त्व और आस्रव-बंधतत्त्व है । बंध के कारण को निर्जरा माननेवाला बंधतत्त्व तथा निर्जरातत्त्व दोनों को ही नहीं जानता; इसलिये उसे नवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है ।

(स) कितने ही अज्ञानी जीव शुभभावों की उत्पत्ति पर के अथवा कर्म के कारण मानते हैं । ऐसा मानने से एकजीव दूसरे जीवरूप अथवा अजीव के साथ एकरूप हो जाता है । इसकारण उन्हें भी जीव अथवा अजीवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है । उनकी मान्यता भी खोटी है ।

शुभभाव धर्म का कारण नहीं; अपितु बंध का कारण है । कोई कहता है कि पंचकल्याणक आदि के शुभभाव से धर्म होता है और आठ भव में मुक्ति होती है; किन्तु यह बात ठीक नहीं है । वे भाव शुभरूप होने से बंध के ही कारण कहे हैं । यदि पैसा खर्च करने मात्र से ही मोक्ष होता हो तो गरीब व्यक्ति पैसा खर्च न कर सकने से कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगा ।

शुभभाव को पुण्य कहा जाता है । शुभभाव से साता-वेदनीय कर्म, शुभ नाम कर्म, उच्चगोत्र कर्म, शुभ आयु और अच्छी गति इत्यादि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है और उसके फल में अच्छे संयोग मिलते हैं; किन्तु धर्म की प्राप्ति नहीं होती । शुभ के फल में पुण्य-प्रकृतियों का बंध होता है; इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके शुभ को पुण्य कहने में आता है । पुण्य तो जड़ है, अजीव है; उसे उपचार से पुण्य कहा जाता है । साधकदशा में अशुभ से बचने के लिए शुभ परिणाम आते हैं और उन्हें उपचार से पुण्य कहा जाता है; लेकिन उसकी सीमा समझनी चाहिए । साक्षात् त्रिलोकीनाथ तथा संत मुनि भी निज आत्मा की अपेक्षा पर हैं और उनके लक्ष्य से होनेवाला शुभभाव पुण्यबंध का कारण है ।

(२) अशुभ परिणाम :ह अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का लक्ष्य छोड़कर शरीर के लक्ष्य से होनेवाले सभी भाव अशुभ हैं । मैं पर-पदार्थों का कर्ता हूँ ह ऐसा ममताभाव अर्थात् मिथ्याभाव है । चैतन्यस्वभाव से चूककर होनेवाले सभी सांसारिक भाव अशुभभाव हैं । जो कर्म के उदय अथवा पर-पदार्थ के कारण अशुभभाव कहता है, उसकी मान्यता सच्ची नहीं है । जब जीव स्वयं स्वतंत्रपने अशुभभाव करता है; तब उसके फल में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, असातावेदनीय, अशुभ आयु, नीचगोत्र, नीचा नामकर्म आदि पाप प्रकृतियाँ बंधती हैं । वह (अशुभ)

तो जड़, अचेतन, पुद्गल है; फिर भी कारण में कार्य का उपचार करके अशुभ को पाप कहा है।

### शुद्ध परिणाम का स्वरूप ह

अविशिष्ट परिणाम शुद्ध होने से एक है, इसलिए उसके भेद नहीं है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह शरीरादि की क्रिया नहीं कर सकता। विकार क्षणिक है, वह आत्मा में नहीं है। जैसे देव-गुरु-शास्त्र आत्मा को तारते नहीं; वैसे ही कुटुंब आदि आत्मा को डुबोते नहीं ह ऐसा सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान करके स्वभाव में एकाग्रता करना ही शुद्ध परिणाम है। वह एक ही है, उसका कोई भेद नहीं है।

यहाँ शुद्ध परिणाम को ही मोक्ष कहा है। साधकदशा में उत्तरोत्तर स्वभाव की लीनता बढ़ने से निर्मलता की अनेक प्रकार की तारतम्यता होने पर भी उसमें (शुद्ध परिणाम में) भेद नहीं पड़ता। प्रतिसमय निर्मल पर्याय द्रव्य के साथ अभेद रहती है; इसकारण उसे एक ही कहा है। ऐसी निर्मलता होने पर संसार दुःख के कारणभूत कर्मपुद्गलों का नवीन बंध नहीं होता और प्रतिसमय निर्मलता बढ़ती जाती है। यहाँ संसार-दुःख का कारण कर्मपुद्गल को कहा; किन्तु वह संसार का कारण नहीं। अज्ञानी जीव की पर्यायबुद्धि ही संसार का कारण है और उसी से कर्म बंधते हैं; इसकारण उपचार से कर्म को संसार का कारण कहा।

ज्ञानी को पर्यायबुद्धि का नाश होने से स्वभाव-बुद्धि प्रगट हुई, इसकारण उसे कर्म नहीं बंधता और सर्व कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है; इसलिए शुद्ध परिणाम स्वयं ही मोक्ष है।

**भावार्थ :**ह पर के प्रति प्रवर्तता शुभ परिणाम पुण्यबंध का कारण है और शरीर आदि के प्रति प्रवर्तता अशुभ परिणाम पापबंध का कारण है। इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके शुभपरिणाम को पुण्य कहा तथा अशुभ-परिणाम को पाप कहा है। स्वयं के चिदानंद स्वभाव के आश्रय से होनेवाला शुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है; इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके शुद्ध परिणाम को मोक्ष कहा है। ●

### प्रवचनसार गाथा १८२

अब, जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति की सिद्धि के लिये स्व-पर का विभाग बतलाते हैं :ह

**भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाथ थावरा य तसा ।**

**अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥१८२॥**

( हरिगीत )

पृथ्वी आदि थावरा त्रस कहे जीव निकाय हैं ।

वे जीव से हैं अन्य एवं जीव उनसे अन्य है ॥१८२॥

अन्वयार्थ :ह [ अथ ] अब [ स्थावराः च त्रसाः ] स्थावर और त्रस ऐसे जो [ पृथिवीप्रमुखाः ] पृथ्वी आदि, [ जीव निकायाः ] जीव निकाय [ भणिताः ] कहे गये हैं, [ ते ] वे [ जीवात् अन्ये ] जीव से अन्य हैं, [ च ] और [ जीवः अपि ] जीव भी [ तेभ्यः अन्यः ] उनसे अन्य है।

**टीका :**ह जो यह पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय त्रस-स्थावर के भेदपूर्वक माने जाते हैं, वे वास्तव में अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य हैं और जीव भी चेतनत्व के कारण उनसे अन्य है। यहाँ (यह कहा है कि) षट् जीवनिकाय आत्मा को परद्रव्य हैं, आत्मा एक ही स्वद्रव्य है।

### गाथा १८२ पर प्रवचन

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ह इन पाँच को स्थावर कहा तथा दो इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों को त्रस कहा है। इनका शरीर अचेतन है और अचेतनपने के कारण ये जीव से जुदे हैं। हरी सब्जी को सचेत कहा है, उसमें हरी सब्जी तो सचेत नहीं, अचेतन है; किन्तु अंदर रहनेवाला आत्मा चेतन है। शरीर जीव नहीं है। हरी सब्जी के शरीर और जीव जुदे हो जाते हैं। मात्र तैजस-कार्मण शरीर ही जीव के साथ जाते हैं; किन्तु वे भी अचेतन हैं, उनसे भी जीव जुदा है। नारकी, तिर्यच, मनुष्य तथा देवों के शरीर जड़ हैं, वे आत्मा से जुदे हैं।

जीव भी स्वयं के ज्ञान-दर्शन स्वभाव के कारण उनसे जुदा है। यहाँ जीव का लक्षण चेतना स्वरूप कहा है।

१. कोई जीव शरीर को जीव का लक्षण कहता है तो वह बात सही नहीं है; क्योंकि शरीर तो अजीवतत्त्व है और वह जीवतत्त्व से जुदा है।

२. कोई कहता है कि जीव के एक क्षेत्र में शरीर का संबंध है; इसकारण जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है तो वह बात भी सच्ची नहीं; क्योंकि शरीर के साथ एकक्षेत्र में रहना जीव का लक्षण नहीं। सिद्ध को एकक्षेत्र में शरीर का संबंध नहीं; इसलिए जीव का लक्षण चेतना है।

३. यहाँ कोई कहता है कि मैं पर जीव का कुछ कर सकता हूँ हूँ ऐसी मान्यता ही जीव का लक्षण है; किन्तु वह बात भी सही नहीं; क्योंकि वह भाव मिथ्याभाव है, उससे तो आस्रव-बंध होता है और जीवतत्त्व उससे जुदा है। यदि दोनों तत्त्व एक हों तो नव तत्त्व नहीं रह सकते।

४. कोई कहता है कि शुभाशुभ परिणाम ही जीव का लक्षण है तो यह बात भी सही नहीं है; क्योंकि वे पुण्य तथा पापतत्त्व हैं, जीवतत्त्व उनसे जुदा है। यदि उन परिणामों को जीवतत्त्व कहें तो नवतत्त्व नहीं रहते। विकार जीव की पर्याय में परलक्ष्य करने पर होता है, वह तो टल जाता है; किन्तु जीव तो ज्ञाता-दृष्टास्वरूप रहता है।

५. कोई कहता है कि अल्पज्ञता जीव का लक्षण है, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि अल्पज्ञता जीव हो तो जब अल्पज्ञता का नाश हो तब जीव का भी नाश हो जाना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता।

६. जो पर-पदार्थ, निमित्त, कर्म, विकार, अधूरी पर्याय हूँ इन सभी से रहित ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध-स्वरूप है, उसे यहाँ जीव कहा है। ऐसा एक-एक जीव भिन्न-भिन्न शरीरों में निज-निज अस्तित्व से लोक में विराजमान है। वेदान्तमत सभी को मिलाकर एक ही जीव मानता है; किन्तु वह सही नहीं है। इसलिए जीव स्वयं के चेतनपने के कारण उनसे जुदा है। षट्जीव निकाय आत्मा को परद्रव्य हैं तथा आत्मा एक ही स्वद्रव्य है।

अहो ! जीवों को वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं है। अज्ञानी जीव मानता

है कि षट्काय के जीवों की रक्षा करने से धर्म होता है। भाई ! छह काय क्या है ? उनका कभी विचार किया है क्या ?

१. जो छहकाय बाहर में दिखाई देते हैं, वे तो अजीव हैं और तुम तो जीव हो; इसलिए तुम छहकायरूप अजीव तत्त्व की रक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि वे तुमसे भिन्न तत्त्व हैं।

२. छह काय के अंदर रहनेवाला जीव है, वह जीव तुमसे जुदा है; इसलिये जुदे जीव का तू कुछ भी नहीं कर सकता।

३. जो दया का भाव उठता है, वह पुण्यतत्त्व है। तू तो पुण्यतत्त्व को जाननेवाला जीव है; इसलिए पुण्यतत्त्व भी तुम्हारा स्वरूप नहीं। जीव का बचना कि मरना उसकी स्थिति के आधीन है, तुम्हारी दया के आधीन नहीं; इसलिए किसी भी जीव की रक्षा आत्मा नहीं कर सकता।

अज्ञानी जीव मानता है कि जीवों को बचाना अहिंसा है और उससे मुझे धर्म होता है। तो पूछते हैं कि छहकाय के अंदर तू एक काय है कि नहीं ? तुम्हारी दया तुमने कैसे की ? उसे बचाने का विचार किया क्या ? तुम्हारे विचार किये बिना 'पर जीव का मैं कुछ कर सकता हूँ, दया पाल सकता हूँ, मैं हूँ तो शरीर चलता है, कर्म का उदय आया, उससे जीव परेशान होता है इत्यादि प्रकार की मान्यता करने से तुम्हारे चैतन्यप्राण की हिंसा होती है, वही भावहिंसा है। अन्यमत में जगत का कर्ता ईश्वर को कहा है और जैन नाम धराकर शरीर, कर्म इत्यादि का कर्ता आत्मा को माने तो अन्यमत और जैनाभासी में कोई अंतर नहीं रहता, दोनों मिथ्यादृष्टि हैं।

पर जीवों का आत्मा कुछ भी नहीं कर सकता। पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे पर के कारण नहीं होते, कर्म जीव को हैरान नहीं करता, जब जीव स्वयं अपराध करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। विकार अशुद्धता है। आत्मा तो विकार रहित ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध-स्वरूपी है हूँ ऐसा श्रद्धा-ज्ञान सहित चैतन्य का प्रतपन ही अहिंसा है।

परजीव बचता है, वह अहिंसा नहीं, वैसे ही परजीव मरे, वह हिंसा

नहीं; क्योंकि वह जीव तो अपनी आयु से जीता है और अपनी आयु से मरता है; किन्तु अज्ञानी जीव मानता है कि मैं परजीव को मार सकता हूँ या बचा सकता हूँ हूँ ऐसा भाव ही स्वयं के चैतन्यप्राण की हिंसा है। मैं परजीव को मार सकता अथवा बचा नहीं सकता। कोमलता की अंतरवृत्ति मेरे कारण उठती है, सामने वाले जीव के कारण नहीं; किन्तु वह वृत्ति भी मेरे स्वभाव में नहीं; क्योंकि वह विकार है, स्वजीव के घात करने की वृत्ति है हूँ ऐसा समझकर ज्ञातादृष्टा स्वभाव में स्वयं के ज्ञानप्राण को जीवित रखना ही स्वदया है और वही अहिंसा है।

इसप्रकार परद्रव्य से निवृत्ति करके, स्वद्रव्य-चेतनास्वरूप में प्रवृत्ति करना ही ज्ञेयों के सच्चा ज्ञान करने का फल है और वही धर्म तथा शांति का कारण है।

मैं छहकाय के जीवों की रक्षा कर सकता हूँ हूँ ऐसा माननेवाला जैन नहीं, मिथ्यादृष्टि है। इस आत्मा से छहकाय के जीव जुदे हैं। जैसे आत्मा छहकाय के जीवों की दया नहीं पाल सकता, वैसे ही उन्हें मार भी नहीं सकता। पर-पदार्थ परज्ञेय हैं और आत्मा स्वज्ञेय है। परजीव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव निज आत्मा से जुदे हैं। जो पदार्थ जुदा हो वह किसी का क्या कर सकता है? उस जीव की आयु हो तो वह बचता है और आयु न हो तो नहीं बचता; किन्तु उनका बचना परजीव की दयाभाव के कारण नहीं होता तथा उनका मरना भी परजीव के प्रमाद के कारण नहीं होता। एक अंगूठे को चलाने की जीव की ताकत नहीं तो फिर दूसरे जीव को बचा ले हूँ ऐसा तीनकाल में संभव नहीं है; फिर भी जो जीव ऐसा मानता है कि मेरी करुणा से दूसरे जीव बचते हैं, वह जीव मिथ्यादृष्टि है।

वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यंत सभी जीव परज्ञेय मात्र हैं, उनका यह जीव कुछ भी नहीं कर सकता और स्वयं की करुणा से दूसरा जीव बच जाये हूँ ऐसा भी नहीं। करुणा पर के कारण नहीं आती। स्वभाव में करुणा का राग नहीं हूँ ऐसे शुद्धस्वभाव के भान सहित रागवाली दशा के समय भी ज्ञानस्वभाव को टिकाये रखकर प्रमाद न होने

दो। स्वभाव के आश्रय में श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है; अतः उपयोग में अशुभभाव न होने दो हूँ ऐसा शास्त्र का आशय है। यद्यपि पर जीव को बचाने की बात नहीं; फिर भी निमित्त से कथन करने में आता है कि छहकाय के जीवों की रक्षा करो; किन्तु उसका आशय ऐसा है कि स्वयं के ज्ञान स्वभाव की रक्षा करके अशुभभाव रूप प्रमाद न होने दो। जब दूसरे जीव की आयु हो तो इस जीव की करुणा से उस जीव की रक्षा हुई हूँ ऐसा कथन करने में आता है। ऐसे भेद-विज्ञान के बिना अज्ञानी जीव कितनी ही शुभ क्रिया करे, उसे धर्म प्रगट नहीं होता। ●

### अन्दर में उतर जा

आ हा हा! प्रभु तू पूरा है, तेरे प्रभुत्व आदि प्रत्येक गुण पूर्ण हैं। तेरी शक्ति की क्या बात करें? तू किसी गुण से अपूर्ण नहीं है, परिपूर्ण है। तुझे किसके आधार की जरूरत है। आ हा हा! इसको ऐसी धुन चढ़ना चाहिए। पहले ऐसे स्वभाव का विश्वास आना चाहिए, फिर ऐसी दृष्टि और अनुभव होता है।

जिसे आत्मा की सच्ची रुचि लगती है, उसे चौबीसों घन्टे उसी का चिन्तन, घोलन एवं खटक रहती है। नींद में भी उसी का रटन चलता है। अरे! भीषण वेदना में पड़ा हुआ नारकी भी पूर्व में सुने हुए सत् का स्मरण करके फड़ाक से अन्दर में उतर जाता है। प्रतिकूलता उसे रोकती नहीं है! और स्वर्ग की अनुकूलता में पड़ा हुआ जीव भी अनुकूलता का लक्ष्य छोड़कर अन्दर में उतर जाता है; किन्तु तूने यहाँ जरा-सी प्रतिकूलता हो तो मुझे ऐसा है हूँ वैसा है कहकर अनन्तकाल गँवा दिया। अब उसका लक्ष्य छोड़कर अन्दर में उतर जा न भाई! इसके सिवा दूसरा कोई सुख का मार्ग नहीं है।

हूँ दृष्टि का निधान, पृष्ठ-६-७

गाथा १८३ पर प्रवचन

प्रवचनसार गाथा १८३

अब, यह निश्चित करते हैं कि ह्व जीव को स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का ज्ञान है और परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का अज्ञान है :ह्व

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।

कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥१८३॥

( हरिगीत )

जो न जाने इसतरह स्व और पर को स्वभाव से ।

वे मोह से मोहित रहे 'ये मैं हूँ' अथवा 'मेरा यह' ॥१८३॥

अन्वयार्थ :ह्व [ यः ] जो [ एवं ] इसप्रकार [ स्वभावम् आसाद्य ] स्वभाव को प्राप्त करके (जीव-पुद्गल के स्वभाव को निश्चित करके) [ परम् आत्मानं ] पर को और स्व को [ न एव जानाति ] नहीं जानता, [ मोहात् ] वह मोह से ' [ अहम् ] यह मैं हूँ, [ इदं मम ] यह मेरा है' [ इति ] इसप्रकार [ अध्यवसानं ] अध्यवसान [ कुरुते ] करता है ।

टीका :ह्व जो आत्मा इसप्रकार जीव और पुद्गल के (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभाव के द्वारा स्व-पर के विभाग को नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मैं हूँ', यह मेरा है' इस प्रकार मोह से परद्रव्य में अपनेपन का अध्यवसान करता है, दूसरा नहीं । इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्वपर के ज्ञान का अभाव मात्र ही है और (कहे बिना भी) सामर्थ्य से (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त उसका अभाव<sup>१</sup> है ।

भावार्थ :ह्व जिसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है वही परद्रव्य में अहंकार-ममकार करता है, भेदविज्ञानी नहीं । इसलिये परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान का अभाव है और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान ही है ।

१. उसका अभाव = स्व-पर के ज्ञान के अभाव का अभाव, स्व-पर के ज्ञान का सद्भाव ।

कुन्दकुन्दाचार्य भगवान तथा अमृतचन्द्राचार्य देव स्वयं के स्वभाव के भान सहित अंतरदशा में झूलते थे । क्षण में छठवें और क्षण में सातवें गुणस्थान में आते थे । हजारों बार ऐसी दशा होती थी । सातवें गुणस्थान से छठे गुणस्थान में दुगने समय तक रहते हैं । (यदि ज्यादा समय तक रहें तो गुणस्थान से गिरें और मिथ्यादृष्टि हो जायें) । ये भावलिंगी मुनि जब छठवें गुणस्थान में थे, तब शास्त्र लिखने का विकल्प उठता था; किन्तु वे उस विकल्प के स्वामी नहीं थे । ऐसे महासमर्थ भावलिंगी मुनि कहते हैं कि शास्त्र रचना इत्यादि जड़ की अवस्था जड़ के कारण हुई है, मैं उसका कर्ता नहीं; किन्तु जिसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं, वह जीव ममता भाव करता है ।

मिथ्यात्वरूपी मूल के नाश बिना संसाररूपी वृक्ष का नाश नहीं होता । आत्मा शरीर से तथा अन्य सभी जीवों से जुदा है । मेरा स्वभाव मेरे में है ह्व ऐसा जो भेद-विज्ञान नहीं करता, वह जीव मानता है कि मैं भाषा बोल सकता हूँ, पर जीव की दया पाल सकता हूँ, कुटुंब की, देश की रक्षा कर सकता हूँ, शब्द से मुझे ज्ञान होता है इत्यादि । जो ऐसा मानता है कि अचेतन पदार्थों की पर्याय, चेतन पदार्थों के कारण होती है, वह स्व-पर के भेद को नहीं जानता । जैसे कोई झाड़ के पत्ते व डाल सुखाय; किन्तु मूल (जड़) न सुखाय तो झाड़ का नाश नहीं होता; वैसे ही जीव अशुभ से बचने के लिए शुभभाव करे; किन्तु जबतक मिथ्यात्वरूपी मूल अंदर से नहीं सूखे; तबतक संसाररूपी वृक्ष का नाश नहीं होता ।

जड़ और चेतन की पर्याय स्वतंत्र है ह्व अज्ञानी जीव मानता है कि केवली भगवान की वाणी के कारण जीव धर्म प्राप्त करते हैं; किन्तु वह बात निश्चय से सच्ची नहीं । केवली भगवान को इच्छा बिना ही सहज वाणी निकलती है । छद्मस्थ गुरु को राग होता है; किन्तु उस राग के कारण वाणी नहीं निकलती । राग तो चारित्रगुण की विकारी पर्याय है । वाणी भाषावर्गणा का परिणामन है । शिष्य का ज्ञान वह शिष्य के ज्ञानगुण की पर्याय है । किसी के कारण किसी की पर्याय नहीं होती । प्रत्येक पर्याय

स्वतंत्र है। यदि वाणी से राग होता हो तो वाणी जड़ कर्ता और चारित्र गुण की विकारीदशा राग, वह कार्य सिद्ध हो तथा यदि वाणी से ज्ञान हो तो वाणी जड़ कर्ता और ज्ञान कार्य सिद्ध हो और यदि राग के कारण वाणी हो तो अरूपी राग कारण और वाणी जड़ उसका कार्य हूँ ऐसा जड़ और चेतन का संबंध कभी भी नहीं हो सकता है।

**सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं, पर में अकिंचित्कर हैं।**

**प्रश्न :** तो फिर प्रेरक निमित्त का क्या अर्थ है ?

**समाधान :** प्रेरक निमित्त तो निमित्त में भेद बताता है। जैसे कि चक्र स्वयं ही चलता है, इसलिए प्रेरक है, कुम्हार दूसरे को प्रेरित करके कुछ परिणाम दे हूँ इसका ऐसा अर्थ नहीं। इष्टोपदेश में ऐसा लिखा है कि सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं। फिर वे प्रेरक हों अथवा उदासीन हों, उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। यदि आत्मा शरीर को चला सकता हो तो धर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य को ठोकर मारकर चला दे; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए जो पदार्थ स्वयं की क्रियावती शक्ति के कारण क्षेत्र से क्षेत्रांतर होते हैं, उनमें दूसरे पदार्थ निमित्त कहे जाते हैं और यदि निमित्त स्वयं इच्छा करता हो अथवा गति कराता हो तो उसे प्रेरक निमित्त कहते हैं। **स्थिर निमित्त को उदासीन निमित्त कहते हैं।** फिर भी निमित्त से कार्य मानना भेदविज्ञान का अभाव बताता है।

प्रत्येक द्रव्य और पर्याय सत् है, स्वतंत्र है; पर के कारण नहीं। लकड़ी के स्कंध में प्रत्येक रजकण स्वतंत्र रहते हैं। प्रत्येक परमाणु स्वयं के आधार से है, अन्य परमाणु के आधार से नहीं। प्रत्येक परमाणु तथा जीव के कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण हूँ ये छह कारक स्वयं में हैं और पर के छह कारक पर में हैं। निगोद के अनंत जीव एकसाथ रहते हैं, वे सभी स्वतंत्र हैं और उनके छह कारक स्वयं में हैं, पर में उनका अभाव है। जब अभाव है तो दूसरी वस्तु में क्या करेगा ? अज्ञानी जीव मानता है कि द्रव्य-गुण तो शुद्ध हैं; किन्तु पर्याय पर से होती है। यदि एक समय का वर्तमान अंश पर से हो तो दूसरे समय का अंश पराधीन, तीसरा पराधीन हूँ ऐसा करते हुए अंश का समूह हूँ ऐसा अंशी

द्रव्य भी पराधीन हो जाता है। इस मान्यता से तो उसने द्रव्य-गुण भी स्वतंत्र नहीं माना। 'गुण विकारा पर्याया' अर्थात् विकार का अर्थ परिणमन विशेष कार्य होता है। वह नियम सभी को लागू होता है। (यहाँ विकार का अर्थ मलिनता नहीं)। यदि पर्याय पर का कार्य हो तो यह कथन गलत सिद्ध होगा; क्योंकि कथन में तो ऐसा कहा है कि गुण का विशेष कार्य पर्याय है; किन्तु पर का कार्य वह पर्याय हूँ ऐसा नहीं। सिद्धदशा में गुणों का विशेष कार्य वह उनकी पर्याय है तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल हूँ इन चार द्रव्यों में उनके गुणों का विशेष कार्य वह उनकी पर्याय है। इसलिए कोई भी जीव अथवा अजीवद्रव्य की पर्याय पर से कभी भी नहीं होती। यहाँ छह द्रव्यों के परिणमन की बात है। यह सामान्य व्याख्या हुई।

**प्रश्न :** काललब्धि आवे तो सम्यक्त्व होता है न?

**उत्तर :** बाह्य कालाणु तो परद्रव्य है, उसका आत्मा में अत्यंत अभाव है। पुण्य विकार है और आत्मा विकार रहित शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है हूँ ऐसा भान होना वह काललब्धि और वही पुरुषार्थ है। क्या आत्मा का स्वामी काल है ? कि काल उसे परिणाम दे ? काल तो अचेतन है। अचेतन से चेतन में कुछ भी नहीं होता।

जीव निगोद में तीव्र अज्ञानभाव करता है, वह अज्ञानरूपी मिथ्या पुरुषार्थ है। जीव शुभभाव करके मनुष्य भव प्राप्त करना चाहे तो वह शुभराग का मिथ्या पुरुषार्थ है। जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करके मनुष्यभव से मोक्ष प्राप्त करे तो वह मोक्ष का सच्चा पुरुषार्थ है। जीव तीव्र कर्म के उदय के कारण निगोद में नहीं रहता तथा कर्म मंद पड़ा इसलिए मनुष्य नहीं हुआ। सच्चा पुरुषार्थ स्वयं में स्वयं के कारण होता है, कर्म अथवा काल के कारण नहीं।

**परद्रव्य में मोह का कारण भेद-विज्ञान का अभाव है।** इस कथन से यह निश्चित होता है कि जिस जीव को स्वयं के ज्ञाता-दृष्टारूप शुद्ध स्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान नहीं वर्तता, उस जीव को स्व-पर का भेद-विज्ञान नहीं होता। वही जीव शरीर में हूँ, मेरे द्वारा इतने जीवों की रक्षा

हुई, पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा, वाणी से ज्ञान होगा वह ऐसा मोहवश परद्रव्य में अहंपना करता है; किन्तु ज्ञानी जीव ऐसा अध्यवसान नहीं करता। इसलिए निश्चित होता है कि जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण मात्र भेद-विज्ञान का अभाव ही है।

स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेद-विज्ञान का सद्भाव है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है। पर-पदार्थ आत्मा के नहीं। विकार विकृत दशा है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान की प्रवृत्ति का कारण भेदज्ञान का सद्भाव है। भेद-विज्ञानी स्व तथा पर की पहचान सही करता है तथा पर-पदार्थ में अहंकार ममकार नहीं करता। स्वभावदृष्टिवाला जीव समस्त स्वभाव का ज्ञान करता है तथा निमित्तों और संयोगों को भी उनके स्वभाव से देखता है। निमित्त और संयोगों का स्वभाव भी स्वयं में कार्य करने का है; किन्तु उपादान में कार्य करने का नहीं। ज्ञानी जीव संयोगों से ज्ञान नहीं मानता।

जिसको स्व-पर का भेद-विज्ञान नहीं, वही पर-द्रव्य में अहंकार-ममकार करता है। अज्ञानी जीव मानता है कि मैं था तो यह सब समझ में आया; किन्तु ऐसा नहीं है। यदि पर से समझ में आता हो तो सभी को समझ में आना चाहिए, कोई भी योग्यता के बिना नहीं समझता। यदि केवली द्वारा समझते हों तो महाविदेह में सभी को समझ में आना चाहिए; लेकिन ऐसा नहीं होता, जब स्वयं समझे तो केवली को निमित्त कहा जाता है; किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं को भूलकर पर से कार्य मानता है। उसका कारण भेद-विज्ञान का अभाव है। यदि आत्मा कुछ करे नहीं तो क्या वह कूटस्थ पर्वत के शिखर के समान स्थिर अक्रिय होगा? नहीं, आत्मा तो परिणामी नित्यस्वभाव वाला है। इसलिए जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा जानना चाहिए। मोह की प्रवृत्ति का कारण भेद-विज्ञान का अभाव है और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेद-विज्ञान है।

इसप्रकार भेद-विज्ञान प्रगट करके मोह का नाश करना चाहिए।



### प्रवचनसार गाथा १८४

अब, यह निरूपण करते हैं कि आत्मा का कर्म क्या है :ह  
कुर्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।  
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥१८४॥  
( हरिगीत )

निज भाव को करता हुआ निजभाव का कर्ता कहा।

और पुद्गल द्रव्यमय सब भाव का कर्ता नहीं॥१८४॥

अन्वयार्थ :ह [ स्वभावं कुर्वन् ] अपने भाव को करता हुआ [ आत्मा ] आत्मा [ हि ] वास्तव में [ स्वकस्य भावस्य ] अपने भाव का [ कर्ता भवति ] कर्ता है; [ तु ] परन्तु [ पुद्गलद्रव्यमयानां सर्वभावानां ] पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावों का [ कर्ता न ] कर्ता नहीं है।

टीका :ह प्रथम तो आत्मा वास्तव में स्व भाव को करता है; क्योंकि वह (भाव) उसका स्व धर्म है, इसलिये आत्मा को उसरूप होने की (परिणमित होने की) शक्ति संभव है, अतः वह (भाव) अवश्यमेव आत्मा का कार्य है। (इसप्रकार) वह (आत्मा) उसे (स्वभाव को) स्वतंत्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है और स्वभाव आत्मा के द्वारा किया जाता हुआ आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से अवश्य ही आत्मा का कर्म है। इसप्रकार स्व परिणाम आत्मा का कर्म है।

परन्तु आत्मा पुद्गल के भावों को नहीं करता; क्योंकि वे पर के धर्म हैं, इसलिये आत्मा के उसरूप होने की शक्ति का असंभव होने से वे आत्मा के कार्य नहीं हैं। (इसप्रकार) वह (आत्मा) उन्हें न करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता और वे आत्मा के द्वारा न किये जाते हुए उसका कर्म नहीं हैं। इसप्रकार पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म नहीं है।

### गाथा १८४ पर प्रवचन

वर्तमान परिणाम निमित्त अथवा कर्म के आधीन नहीं। प्रथम तो आत्मा वास्तव में स्वयं के परिणाम को करता है। यहाँ 'प्रथम' शब्द कहा



है, उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा विकार करे या अविकार, क्षेत्रांतर हो या स्थिर रहे हूँ यह सभी आत्मा की पर्याय का स्वभाव है। उसे कोई कर्म नहीं कराता। कर्म का उदय तीव्र आया, इसलिए नरक-निगोद में जाये और कर्म के छूटने पर सिद्धदशा हो हूँ ऐसा पर्याय-स्वभाव पराधीन नहीं है। जीव यदि नरक-निगोद में जाये तो भी स्वयं के कारण और सिद्धदशा को प्राप्त हो तो भी स्वयं के कारण होता है, अन्य किसी कारण से नहीं। आत्मा समय-समय के परिणाम का स्वयं करता है।

आत्मा स्वयं की समय-समय की योग्यतानुसार विकार अथवा अविकार परिणाम करता है, उसे यहाँ धर्म कहा है। यहाँ निर्मलपर्यायरूप धर्म की बात नहीं है। प्रति समय भावरूप होना आत्मा का धर्म है; किन्तु उस भाव को जड़ धारण नहीं कर सकता। श्रेणिक राजा नरक में अपनी योग्यता से गया, कर्म के कारण नहीं गया। जीव क्षायिक सम्यक्त्व स्वयं की योग्यता से प्रगट करता है, केवली के कारण नहीं। जीव श्रुतज्ञान प्रगट करता है, वह स्वयं से करता है; किसी की वाणी से नहीं। व्यापार में ममता भी स्वयं करता है; दुकान अथवा कुटुम्ब के कारण नहीं। निगोद में शुभभाव भी स्वयं करता है; कर्म मंद हुआ इसलिए नहीं।

आत्मा में स्वयं प्रतिसमय विकार अथवा अविकाररूप परिणामन की शक्ति होने से वह भाव अवश्य ही आत्मा का कार्य है और उस भाव को आत्मा स्वतंत्रपने करता है, इसलिए वह कर्ता है। कर्ता की व्याख्या भी इसप्रकार है कि जो स्वतंत्रपने करे, वह कर्ता और कर्ता को जो इष्ट हो, वह कर्म। निमित्त से अथवा कर्म के उदय से कोई कार्य हुआ कहने से वस्तु का कर्तापना नहीं रहता; इसलिए द्रव्य कारण है और पर्याय उसका कार्य है। पर्याय विकारी हो अथवा अविकारी हो हूँ उनका कर्ता आत्मद्रव्य स्वयं ही है।

वर्तमान परिणाम पूर्व पर्याय के कारण नहीं है; अपितु स्वयं के द्रव्य के कारण ही है। वह स्व परिणाम आत्मा से होने से, आत्मा से प्राप्य होने से आत्मा का कार्य है। देखो ! यहाँ 'प्राप्य' शब्द कहा है। वर्तमान पर्याय

अथवा परिणाम किससे प्राप्य है ? निमित्त से अथवा कर्म से प्राप्य तो कहा नहीं; किन्तु पूर्व पर्याय से भी प्राप्य नहीं कहा। पूर्व में बहुत शुभभाव किये इसलिये अब शुभभाव करता है अथवा पूर्व में अशुभभाव किये इसलिये अब अशुभभाव करता है हूँ ऐसा नहीं है।

यहाँ कोई कहता है कि एक जीव नरक में जाता है, उसे नरक में जाने की वर्तमान में इच्छा तो नहीं; किन्तु पूर्व में नरकगति का कर्म बांधा था; इसलिए नरक में जाना पड़ेगा ना ? अरे ! नरक के शरीर की प्राप्ति के पहले विग्रहगति में तीन समय लगे थे, वह प्रत्येक समय स्वतंत्र स्वयं के कारण परिणाम कर रहा है, पूर्व के कारण नहीं।

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' प्रत्येक पदार्थ कायम रहकर पूर्व पर्याय का व्यय करके नवीन पर्याय का उत्पाद करता है। यहाँ जो पूर्व पर्याय का व्यय हुआ हूँ अभाव हुआ, वह वर्तमान पर्याय का क्या करे? जिसप्रकार निमित्त से उत्पाद होता हो तो कोई स्वतंत्र नहीं रहेगा; उसीप्रकार पूर्व पर्याय के कारण वर्तमान पर्याय हो तो उत्पाद स्वतंत्र नहीं रहेगा। अहो ! वस्तुस्वरूप अलौकिक है। मात्र वर्तमान और त्रिकाली द्रव्य हूँ इन दो के बीच ही संबंध है। कर्म के साथ, निमित्त के साथ अथवा पूर्व पर्याय के साथ वर्तमान का जरा भी संबंध नहीं। प्रत्येक समय की विकारी अथवा अविकारी पर्याय स्वतंत्र है।

प्रश्न : हूँ आत्मा शरीरादि पर-पदार्थों की क्रिया का व्यवहार से कर्ता तो है ना ?

उत्तर : हूँ जिनकी दृष्टि संयोग के ऊपर है, वह सदाकाल संयोग ही देखता है। आत्मा का व्यवहार आत्मा में होता है; किन्तु जड़ में नहीं हो सकता। निश्चय अर्थात् सच्चा, यथार्थ तथा व्यवहार अर्थात् पूर्वपर्याय, संयोग या निमित्त का ज्ञान करानेवाला कथन। यहाँ व्यवहार को निमित्त बताया; किन्तु इसकारण आत्मा व्यवहार से शरीर की कोई क्रिया कर दे हूँ ऐसा नहीं है। आत्मा, आत्मा की पर्याय को धारण करता है तथा जड़-जड़ के भाव को धारण करता है। आत्मा व्यवहार से भी जड़ के भाव को

धारण नहीं कर सकता। शरीर का चलना एवं वाणी का निकलना तो जड़ की पर्याय है तथा इच्छा और भावयोग आत्मा के विकार हैं। मन-वचन-काययोग निमित्त हैं; किन्तु वे जड़ हैं। जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ में हैं और अरूपी चेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय अरूपी चेतन में हैं। अरूपी रूपी का कुछ भी नहीं कर सकता। जब पैसा जाने का काल हो, तब आत्मा को उसे रखने की बहुत इच्छा होने पर भी उसे रख नहीं सकता। उसके हलन-चलन, वाणी इत्यादि सभी क्रियायें स्वतंत्र होती हैं। इसप्रकार जड़ की स्वतंत्र क्रिया जड़ के कारण होती है ह्व ऐसा निश्चय करना चाहिए। जो निश्चय नहीं समझता उसे तो व्यवहार कथन का भी सच्चा ज्ञान नहीं है।

आत्मा रूपी पदार्थों के भावों को भी नहीं करता; क्योंकि आत्मा में रूपीपने होने की शक्ति नहीं है; इसलिए वह उन कार्यों का अकर्ता ही है, इसप्रकार आत्मा पर-पदार्थों के परिणाम का कर्ता नहीं और वे पर-पदार्थ भी आत्मा के द्वारा किये नहीं हैं; इसलिए वे आत्मा के कार्य नहीं हैं। जो जीव ऐसा सच्चा ज्ञान करता है, उसके पर-कर्तृत्व और ममत्व नष्ट होकर धर्म प्रगट होता है। ●

### अपनी प्रभुता देख!

अरे भाई! तुझमें कौन-सी ऋद्धि की कमी है जो तू पर की ओर झाँकता है? तेरे सामने अनन्त ऋद्धि वाला प्रभु विराजता है, उसे नहीं देखता और पर की ओर देखकर पुण्य-पाप के दुःख का अनुभव करता है! दया-दान भक्ति आदि के शुभ-व्यवहार में तुझे विस्मय लगता है। तेरे सामने विस्मयकारी चैतन्यप्रभु विराजमान है, उसे देख! अपनी प्रभुता का विस्मय करके उसमें ठहर! अपने आनन्द के बाग में विहार कर! परद्रव्य में विहार मत कर!

ह्व दृष्टि का निधान, पृष्ठ-१८

### प्रवचनसार गाथा १८५

अब, 'पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म क्यों नहीं है' ह्व ऐसे सन्देह को दूर करते हैं :ह्व

गेणहदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।

जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥१८५॥

( हरिगीत )

जीव पुद्गल मध्य रहते हुए पुद्गलकर्म को ।

जिनवर कहें सब काल में ना ग्रहे-छोड़े-परिणमे ॥१८५॥

अन्वयार्थ :ह्व [ जीवः ] जीव [ सर्वकालेषु ] सभी कालों में [ पुद्गलमध्ये वर्तमानः अपि ] पुद्गल के मध्य में रहता हुआ भी [ पुद्गलानि कर्माणि ] पौद्गलिक कर्मों को, [ हि ] वास्तव में [ गुह्णाति न एव ] न तो ग्रहण करता है, [ न मुंचति ] न छोड़ता है, और [ न करोति ] न करता है।

टीका :ह्व वास्तव में पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म नहीं है; क्योंकि वह परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित है; जो जिसका परिणामने वाला देखा जाता है वह उसके ग्रहण त्याग से रहित नहीं देखा जाता; जैसे ह्व अग्नि लोहे के गोले में ग्रहण-त्याग रहित होती है। आत्मा तो तुल्य क्षेत्र में वर्तता हुआ भी (परद्रव्य के साथ एकक्षेत्रावगाही होने पर भी) परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है। इसलिये वह पुद्गलों को कर्मभाव से परिणामने वाला नहीं है।

### गाथा १८५ पर प्रवचन

वास्तव में पुद्गल परिणाम आत्मा का कार्य नहीं तथा पुद्गलकर्म का ग्रहण-त्याग भी आत्मा का कार्य नहीं। नमस्कार मन्त्र में पहला पद 'णमो अरिहंताणं' है, इसका शब्दार्थ ऐसा है कि कर्मरूप शत्रु का जिसने नाश किया ह्व ऐसे भगवान को नमस्कार हो। क्या भगवान ने चार घातिकर्मों का नाश किया है ? चार घातिकर्म तो जड़ हैं तथा जड़ कर्म को आत्मा

उत्पन्न नहीं कर सकता तथा नष्ट भी नहीं कर सकता। वास्तव में जड़ कर्म शत्रु नहीं; किन्तु अन्तर के भावकर्म शत्रु हैं। भावकर्म अर्थात् राग-द्वेष को नष्ट किया हूँ ऐसा कहना, वह भी उपचार कथन है। राग-द्वेष हुआ, उसको मैं नष्ट करूँ हूँ ऐसा मानकर विकल्प करना भी मिथ्यात्व है। राग-द्वेष के लक्ष्य से राग-द्वेष नष्ट नहीं होते; किन्तु स्वभाव में परिपूर्ण स्थिर होने पर जब राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते; तब ऐसा कहा जाता है कि भगवान ने राग-द्वेष नष्ट किये। बाकी शेष जड़ कर्म जड़कर्म में हैं और आत्मा आत्मा में है। जैसे गाय गाय में है और डोरी डोरी में है, डोरी ने गाय को कभी नहीं बांधा; वैसे ही जड़कर्म ने जीव को कभी नहीं बांधा। शास्त्र में कथन आता है कि गुणस्थान की श्रेणी बढ़ने पर असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है हूँ वह कथन निमित्त का है। साधक जीवों को अंतरंग शुद्धता बढ़ने पर अशुद्धता उत्पन्न ही नहीं होती हूँ इसे ही अशुद्धता-विकार का नाश किया ऐसा कहने में आता है और तब कर्म कर्म के कारण आत्मा के एक क्षेत्र से छूट जाते हैं हूँ ऐसा होने पर आत्मा ने कर्मों की निर्जरा की हूँ ऐसा कहने में आता है।

स्वभाव का लक्ष्य करने पर पर-पदार्थ का लक्ष्य छूट जाता है; उसे ही पर-पदार्थ को छोड़ा ऐसा कहा जाता है। यद्यपि आत्मा पर-वस्तु के ग्रहण-त्यागरहित है; तथापि अज्ञानी जीव मानता है कि मैंने स्त्री, पुत्र, दुकान, कुटुंब आदि का त्याग किया; वास्तव में उन पदार्थों को उसने कभी ग्रहण ही नहीं किया। जिस वस्तु का ग्रहण हो उसे तो छोड़ा जा सकता है; किन्तु आज तक जिसका ग्रहण ही नहीं किया, उसे छोड़ना नहीं बनता। 'पर-पदार्थ मेरे हैं और उनसे मुझे सुख है' हूँ ऐसी ममता अज्ञानी जीव ने स्वयं की पर्याय में ग्रहण की है। उस ममता रहित स्वभाव का भान करके उसमें लीन होने पर ममता छूट जाती है और ममता छूटने पर पर-पदार्थों की तरफ का लक्ष्य भी छूट जाता है, उसे ही पर-पदार्थों को छोड़ा हूँ ऐसा कहा जाता है।

जो जिसे परिणामने वाला हो, वह उसके ग्रहण-त्याग बिना नहीं हो

सकता। जिसप्रकार अग्नि ने लोहखण्ड के गोले को कभी ग्रहण नहीं किया; इसलिए अग्नि लोहखण्ड को नहीं छोड़ती। अग्नि उष्ण है और लोहे का गोला ठण्डा है। यदि अग्नि ने लोहे का ग्रहण किया हो तो वह लोहे से कभी छूटती नहीं; किन्तु गरम लोहे का गोला शीतल पानी में डालने से ठण्डा हो जाता है। यदि अग्नि ने लोहे का ग्रहण किया होता तो लोहा पानी में डालने से कभी ठण्डा नहीं होता। इसलिए वास्तव में अग्नि लोहे के ग्रहण-त्याग से रहित है। इसप्रकार निश्चित होता है कि जो जिसको परिणामने वाला देखने में आता है, वह उसके ग्रहण-त्याग रहित देखने में नहीं आता और जो जिसके ग्रहण-त्याग रहित देखने में आता है, वह उसका परिणामने वाला नहीं हो सकता। जैसे आत्मा शरीर, कुटुंब, लक्ष्मी के ग्रहण-त्याग से रहित होने से उनको परिणाम नहीं सकता; वैसे ही उनका ग्रहण-त्याग भी नहीं कर सकता। यदि आत्मा लक्ष्मी को परिणाम सकता हो तो वह लक्ष्मी के ग्रहण-त्याग रहित कभी नहीं हो सकता। मृत्यु के समय शरीर, कुटुंब, लक्ष्मी यहीं पड़े रहते हैं और जीव चला जाता है। इससे ख्याल में आता है कि आत्मा ने पर-वस्तु का ग्रहण-त्याग किया ही नहीं। जब किसी वस्तु का ग्रहण-त्याग ही नहीं किया तो उस वस्तु को आत्मा कैसे परिणाम सकता है? इसप्रकार सिद्ध हुआ कि आत्मा शरीर, लक्ष्मी, कुटुंब इत्यादि पर पदार्थों को परिणाम नहीं सकता।

पर्यायदृष्टि से आत्मा स्वपरिणाम को करता है, ग्रहण करता है और छोड़ता है; किन्तु इतना विशेष जानना कि आत्मा स्वयं के परिणाम का कर्ता होने से वह उस परिणाम के ग्रहण-त्याग रहित देखने में नहीं आता। आत्मा स्वयं की पर्याय में शुभाशुभ भाव को ग्रहण करता है; किन्तु उसका भी त्याग करके शुद्धभाव को ग्रहण करता है, वह भी पर्यायदृष्टि से है। वस्तुस्वभाव में तो शुभाशुभ भाव का भी ग्रहण-त्याग नहीं। पर्यायदृष्टि से आत्मा प्रतिसमय स्वयं के परिणाम का कर्ता है; इसकारण वह स्वयं के परिणाम को प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोड़ता है। इसप्रकार

परिणामी आत्मा स्व परिणाम को ग्रहण करता है और छोड़ता है; किन्तु वह पर-वस्तु का न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है।

पर-पदार्थ का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ हूँ ऐसा मानने वाले को धर्म नहीं होता। अज्ञानी जीव अनादिकाल से वस्तुस्वरूप को न जानता हुआ प्रतिमा और व्रत धारण करके मानता है कि इतनी खाने-पीने की वस्तु का तथा स्त्री-कुटुंब का मैंने त्याग किया। उससे ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि हे भाई ! तू अपने परिणाम को ग्रहण करता है और छोड़ता है; तू पर-वस्तु का ग्रहण नहीं कर सकता और छोड़ भी नहीं सकता। तेरे उत्पाद-व्यय तू कर सकता है; किन्तु पर के उत्पाद-व्यय तू नहीं कर सकता। जिसे पर के ग्रहण-त्याग की दृष्टि है, उसे वास्तव में कषाय-मंदता भी नहीं है। स्वभावदृष्टि के बिना वास्तविक कषाय मंदता नहीं होती। इसलिए बाह्य वस्तु छोड़ने से बहुत धर्म हुआ हूँ ऐसा जो अज्ञानी मानता है, वह उसका भ्रम ही है, उसे धर्म नहीं होता। जब आत्मा के स्वरूप की सच्ची श्रद्धाज्ञान होने पर, अंतरंग स्थिरता बढ़ने पर, सहजदशा होने पर, राग की बहुत मंदता होने पर, पर-पदार्थों की तरफ लक्ष्य नहीं जाता; तब व्रत और प्रतिमा अथवा मुनिपना धारण करना सार्थक है; किन्तु हठ से प्रतिमा आदि नहीं हो सकते।

इसप्रकार शरीर, कर्म इत्यादि आत्मा के साथ एकक्षेत्र में होने पर भी आत्मा पर-पदार्थों के ग्रहण-त्याग से रहित है हूँ ऐसा निश्चित होता है।

यह ज्ञेय अधिकार है। स्वज्ञेय में अपने परिणाम तू कर सकता है; किन्तु शरीर, कर्म आदि परज्ञेयों के परिणाम तू नहीं कर सकता; इसलिए उनका ग्रहण-त्याग तुझे नहीं हो सकता। अतः पर-पदार्थों का ममत्व छोड़कर तुम्हारी पर्याय में ममता तुम्हारे कारण तुम स्वयं करते हो हूँ ऐसा निश्चित करके स्वभाव को ममता रहित माने तो ममता छूटे और धर्मदशा प्रगट हो।



### प्रवचनसार गाथा १८६

तब (यदि आत्मा पुद्गलों को कर्मरूप परिणमित नहीं करता तो फिर) आत्मा किसप्रकार पुद्गल कर्मों के द्वारा ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है? इसका अब निरूपण करते हैं :ह

**स इदाणिं कता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।**

**आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कन्मधूलीहिं॥१८६॥**

( हरिगीत )

भवदशा में रागादि को करता हुआ यह आत्मा।

रे कर्मरज से कदाचित् यह ग्रहण होता छूटता ॥१८६॥

अन्वयार्थ :ह [ सः ] वह [ इदानीं ] अभी (संसारावस्था में) [ द्रव्यजातस्य ] द्रव्य से (आत्मद्रव्य में) उत्पन्न होनेवाले [ स्वकपरिणामस्य ] (अशुद्ध) स्वपरिणाम का [ कर्ता सन् ] कर्ता होता हुआ [ कर्मधूलिभिः ] कर्मरज से [ आदीयते ] ग्रहण किया जाता है और [ कदाचित् विमुच्यते ] कदाचित् छोड़ा जाता है।

टीका :ह सो यह आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित होता हुआ भी अभी संसारावस्था में परद्रव्य परिणाम को निमित्त मात्र करते हुए केवल स्वपरिणाम मात्र का उस स्वपरिणाम के द्रव्यत्वभूत होने से ह कर्तृत्व का अनुभव करता हुआ, उसके इसी स्वपरिणाम को निमित्त मात्र करके कर्म परिणाम को प्राप्त होती हुई ऐसी पुद्गलरज के द्वारा विशिष्ट अवगाहरूप से ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है।

भावार्थ :ह अभी संसारावस्था में जीव पौद्गलिक कर्मपरिणाम को निमित्तमात्र करके अपने अशुद्ध परिणाम का ही कर्ता होता है (क्योंकि वह अशुद्ध परिणाम स्वद्रव्य से उत्पन्न होता है); परद्रव्य का कर्ता नहीं होता। इसी प्रकार जीव अपने अशुद्ध परिणाम का कर्ता होने पर जीव के उसी अशुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके कर्मरूप परिणमित होती हुई पुद्गलरज विशेष अवगाहरूप से जीव को ग्रहण<sup>१</sup> करती है और कभी

१. कर्मपरिणत पुद्गलों का जीव के साथ विशेष अवगाहरूप से रहने को ही यहाँ कर्म पुद्गलों के द्वारा जीव का 'ग्रहण होना' कहा है।

(स्थिति के अनुसार रहकर अथवा जीव के शुद्ध परिणाम को निमित्त मात्र करके) छोड़ती है।

### गाथा १८६ पर प्रवचन

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि जब आत्मा जड़कर्म की अवस्था का कर्ता नहीं तो ये जड़कर्म आत्मा के एकक्षेत्र में कैसे आये? उसका समाधान इस गाथा में है।

यह आत्मा परवस्तु के ग्रहण-त्याग रहित है। आत्मवस्तु के द्रव्य-गुण तो परवस्तु के ग्रहण-त्याग रहित स्वभाववाले हैं ही; पर्याय भी कर्म का ग्रहण-त्याग नहीं करती हूँ ऐसा द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का स्वभाव है। ऐसा स्वभाव होने पर भी संसारदशा में विकार का निमित्त पाकर जड़कर्म एकक्षेत्र में बंधते हैं और कदाचित् छूटते हैं। यहाँ उसे ही स्पष्ट करते हैं।

अज्ञानी जीव पर के लक्ष्य से स्वयं में मलिनता उत्पन्न करके राग-द्वेष का कर्ता होता है। वह संसारदशा में स्वयं की भूल से विकार उत्पन्न करता है। निगोद से लेकर देव पर्यंत सभी संसारी जीव स्वयं के स्वपरिणाम के कारण ही अनंत संसार में भ्रमते हैं; कर्म के कारण नहीं भ्रमते। यहाँ 'दव्वजादस्स' शब्द लिखा है। जिसका अर्थ है द्रव्य से उत्पन्न होने वाले। कोई कहता है कि जब द्रव्य-गुण शुद्ध ही हैं तो विकारी पर्याय कहाँ से आई? कर्म के उदय से हुई ऐसा तो यहाँ नहीं लिखा। यहाँ तो लिखा है कि आत्मद्रव्य से उत्पन्न हुए अशुद्ध परिणाम का जीव कर्ता है। लेश्या के परिणाम जीव स्वयं करता है। आत्मा में से ही विकार होता है, निकलता है। जिसप्रकार समुद्र की लहरें पवन के कारण नहीं उठती, स्वयं की योग्यता से उठती हैं; उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग के परिणामों को जीव स्वयं की योग्यता से करता है; कर्म, काल अथवा बाहर के संयोग उन परिणामों को नहीं कराते। वे परिणाम स्वयं को न जानने के कारण होते हैं। उस समय लक्ष्य यदि पर-पदार्थ अथवा कर्म के ऊपर हो, तो उनको निमित्त कहा जाता है। निगोद के जीव को तीव्र कर्म का उदय है; इसलिए विकार करता है हूँ ऐसा नहीं। तथा संज्ञी जीव को कर्म का उदय मंद है; इसलिए

धर्म का पुरुषार्थ करता है हूँ ऐसा भी नहीं। वे परिणाम स्वयं के द्रव्य में से होते हैं; पर के कारण नहीं होते। इसप्रकार पर का लक्ष्य करके आत्मा स्वयं विकार उत्पन्न करके मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि का कर्ता होता है।

राग का निमित्त पाकर पुद्गलकर्म स्वतंत्रपने बंधते हैं। जीव जब रागादिरूप परिणाम करता है, तब नवीन कर्म परमाणु उन परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के एकक्षेत्र में बंधते हैं। आत्मा जिस-जिस प्रकार के विकारी परिणाम करता है, उस-उस प्रकार के कर्म आते हैं। जब तीव्र अनुभाग वाले परिणाम करता है, तब तीव्र रसवाले कर्म बंधते हैं और जब मंद अनुभाग वाले परिणाम करता है, तब मंद रसवाले कर्म बंधते हैं। तथा जितने प्रमाण में परिणाम करता है, उतने प्रमाण में कर्म बंधते हैं। विकार का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म आते हैं राग किया इसलिए पुद्गल कर्मों को आना पड़ेगा हूँ ऐसा नहीं है, वैसे ही राग छूट जाये तो कर्मों को बिखरना पड़ेगा हूँ ऐसा जड़कर्म पराधीन नहीं है। जड़कर्म स्वयं की योग्यता से आते हैं। इस जगत में जितने आत्मा हैं, उनसे अनंतगुणी कार्मणवर्गणाओं का समूह लोक में भरा पड़ा है। उनमें से जिनकी कर्मरूप होने की योग्यता होती है, उतने परमाणु कर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं और आत्मा के साथ एकक्षेत्र में रहते हैं।

**प्रश्न :** हूँ जीव जितना राग करता है, उतने ही प्रमाण में कर्म कैसे बंधते हैं?

**उत्तर :** हूँ ज्ञान तथा ज्ञेय का जैसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, वैसे ही राग तथा पुद्गल कर्म का जानना। जैसे ज्ञेय पदार्थ हैं, वैसे यथार्थ ज्ञान आत्मा करता है। किन्तु ज्ञेय से ज्ञान हुआ क्या? नहीं, ज्ञान तो स्वयं से होता है। ज्ञान ज्ञेयों की मदद के बिना स्वतंत्रपने होने पर भी जैसा ज्ञेय है, वैसे जानता है; उसीप्रकार जब जीव राग-द्वेष करता है; तब पुद्गलकर्म स्वयं के कारण बंधते हैं; फिर भी जैसे और जितने प्रमाण में राग-द्वेष करता है, वैसे और उतने प्रमाण में ही कर्म बंधते हैं हूँ ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध बन रहा है। राग कर्ता और जड़कर्म उसका कार्य हूँ ऐसा कर्ता-कर्म संबंध नहीं। कर्म स्वयं के कारण बंधते हैं; उसमें राग-द्वेष

निमित्त मात्र है और जब कर्म स्वयं के कारण छूटते हैं तो उसमें वीतरागी परिणाम निमित्तमात्र हैं।

**प्रश्न :** ह्म कर्मों की स्थिति लंबे काल की किस अपेक्षा कही है?

**उत्तर :** ह्म सदृशता की अपेक्षा से संग्रह करके कर्म की स्थिति का कथन किया है। कर्म पर्याय है; द्रव्य नहीं। पर्याय तो एक ही समय की है। दो समय की पर्याय भी साथ नहीं रह सकती तो फिर इतने लंबे काल की पर्याय साथ रहकर कर्म पड़ा रहे ह्म ऐसा कैसे बन सकता है? जीव लगातार विपरीत भाव चालू रखता है तो उसके निमित्त से जड़कर्म भी लगातार सदृश कर्मरूप से दिखाई देते हैं। वे सभी पर्यायें लगभग समान होती हैं इसलिये स्थूल ऋजुसूत्रनय से संग्रह करके ऐसा कहा जाता है कि इतना लंबा कर्म इस जीव ने बाँधा। जैसे मनुष्य शरीर ६०/६५ वर्ष का कहा जाता है। मनुष्य शरीर की पर्याय एक समय की है; किन्तु सदृश दिखाई देने के कारण ६०/६५ वर्ष की लम्बी कही जाती है। उसीप्रकार कर्म की स्थिति इतने वर्ष की बाँधी ऐसा कहा जाता है।

**भावार्थ :** ह्म संसारदशा में जीव कर्म का निमित्त पाकर स्वयं की योग्यता के कारण अशुद्ध परिणाम का कर्ता होता है। वह विकार स्वयं करता है, इससे वह विकार का कर्ता है; किन्तु जीव परद्रव्य का कर्ता नहीं है। इसप्रकार जीव मलिनता का परिणाम करता है तो उसका निमित्त पाकर कर्म परमाणु जीव के एकक्षेत्र में रहते हैं और यदि वीतरागी दृष्टि करके शुद्ध परिणाम करता है तो उसका निमित्त पाकर कर्म छूट जाते हैं। जब मोहनीय कर्म का उपशम होता है तो स्वयं को उपशम सम्यक्त्व होता है ह्म ऐसा नहीं तथा सम्यक्त्व प्रगट करे तो दर्शनमोह नष्ट होता हो ह्म ऐसा भी नहीं। इनमें कर्ता-कर्म संबंध नहीं; किन्तु निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। कर्म परिणत पुद्गलों का जीव के साथ खास अवगाहरूप में रहने को ही यहाँ जीव के द्वारा कर्मपुद्गलों का ग्रहण कहा है।

इसप्रकार विकारीपर्याय स्वज्ञेय और कर्म की पर्याय परज्ञेय ह्म दोनों स्वतंत्र रहकर निमित्त-नैमित्तिक संबंधपने हैं ह्म ऐसा यथार्थ ज्ञान करना ही धर्म का कारण है।

### प्रवचनसार गाथा १८७

अब, पुद्गल कर्मों की विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेकप्रकारता) को कौन करता है? इसका निरूपण करते हैं : ह्म

**परिणामदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।**

**तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।।१८७।।**

( हरिगीत )

रागादियुत जब आतमा परिणामे अशुभ-शुभ भाव में।

तब कर्मरज से आवरित हो विविध बंधन में पड़े।।१८७।।

**अन्वयार्थ :** ह्म [ यदा ] जब [ आत्मा ] आत्मा [ रागद्वेषयुतः ] रागद्वेषयुक्त होता हुआ [ शुभे अशुभे ] शुभ और अशुभ में [ परिणमति ] परिणमित होता है, तब [ कर्मरजः ] कर्मरज [ ज्ञानावरणादिभावैः ] ज्ञानावरणादिरूप से [ तं ] उसमें [ प्रविशति ] प्रवेश करती है।

**टीका :** ह्म जैसे नये मेघजल के भूमि संयोगरूप परिणाम के समय अन्य पुद्गल परिणाम स्वयमेव वैचित्र्य को प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय कर्मपुद्गल परिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं। वह इस प्रकार है कि ह्म जैसे, जब नया मेघजल भूमि संयोगरूप परिणमित होता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता (छत्ता) और इन्द्रगोप (चातुर्मास में उत्पन्न लाल कीड़ा) आदिरूप परिणमित होता है, इसीप्रकार जब यह आत्मा रागद्वेष के वशीभूत होता हुआ शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है, तब अन्य, योगद्वारों से प्रविष्ट होते हुए कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।

इससे (यह निश्चित हुआ कि) कर्मों की विचित्रता (विविधता) का होना स्वभावकृत<sup>१</sup> है; किन्तु आत्मकृत नहीं।

१. स्वभावकृत ह्म कर्मों के अपने स्वभाव से किया हुआ।

## गाथा १८७ पर प्रवचन

जब नवीन (प्रारंभिक) बरसात होती है, तब जल का जमीन के साथ संयोगरूप परिणाम बनता है, उससमय भिन्न-भिन्न जाति की वनस्पतियाँ जमीन में उत्पन्न होती हैं। कोई कहे कि बरसात आई, इसलिए अंकुर हुए; क्योंकि इससे पहले अंकुर नहीं थे? पर भाई, यदि बरसात के कारण अंकुर होते हों तो वनस्पति (हरी सब्जी) एक ही प्रकार की होना चाहिए; किन्तु वह एक प्रकार की नहीं होती। बरसात तो एक ही प्रकार की है और अनाज भिन्न-भिन्न प्रकार का उपजता है। यदि बरसात कारण हो तो ऐसी विविधता नहीं होना चाहिए। यह विविधता उनकी स्वतंत्र योग्यता बताती है। इसीप्रकार आत्मा के शुभाशुभभाव के काल में भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म स्वयं के कारण बंधते हैं। कर्म की विचित्र पर्याय स्वयं के कारण होती है, आत्मा के कारण नहीं।

जब नवीन (प्रारंभिक) बरसात का जमीन से संयोग होता है, तब कोई पुद्गल हरे मैदानरूप, कोई कुकुरमुत्ता (वनस्पति विशेष) रूप और कोई इन्द्रगोप जीवरूप हूँ ऐसा तीन जुदे-जुदे रूप होता है। एक बरसात होने पर पुद्गल हरे, सफेद और लालरूप परिणमता है; उसीप्रकार जीव स्वयं के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर शुभाशुभ भावरूप परिणमता है, तब पुद्गल परमाणु स्वयं के कारण ज्ञानावरण, दर्शनावरण इत्यादि विचित्रतारूप जुदे-जुदे बंधरूप होते हैं।

अज्ञानी ज्ञेयों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके मोह के वशीभूत होता है। कोई कहता है कि इस मैदान में कुछ नहीं था तो यह वनस्पति (हरी सब्जी) एकदम कैसे उत्पन्न हो गई? पानी के कारण हुई? इतना बड़ा परिवर्तन? ऐसा कैसे? वहीं परमाणु में कुछ ज्ञानावरणरूप से बंधे, कुछ सातावेदनीय रूप से बंधे, ऐसा कैसे? संयोगी दृष्टिवाले जीव की संयोगों के ऊपर दृष्टि होती है। बरसात अच्छी हुई, जमीन अच्छी थी, इसलिए अनाज हुआ, जीव ने भाव किये इसलिए कर्म बंधा हूँ इसप्रकार पर के

ऊपर दृष्टि करके ये संयोग मुझे अनुकूल होंगे और लाभ होगा हूँ ऐसा मानकर उन्हें लाने का प्रयास करता है और ये संयोग मुझे प्रतिकूल होंगे हूँ ऐसा मानकर उन्हें दूर करना चाहता है। इसप्रकार अज्ञानी जीव इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके संयोगों में भेद करके राग-द्वेष के वशीभूत होकर शुभाशुभभावरूप परिणमता है।

जिसप्रकार इष्ट-अनिष्ट की कल्पना ज्ञेयों में नहीं, उसीप्रकार ये कल्पना ज्ञानस्वभाव में भी नहीं है। ज्ञानी जीव समझता है कि किसी भी पदार्थ की अवस्था अकस्मात् नहीं हुई, दूसरे ने नहीं कराई, क्रमबद्धरूप से स्वयं हो रही है। ज्ञेयों का जुदा-जुदा परिणमन का काल था; इसलिए परिणमन हुआ। बरसात आई इसलिए हरी इत्यादि अवस्था हुई हूँ ऐसा नहीं, ज्ञान की हीनता हुई, इसलिए ज्ञानावरणकर्म बंधा, दर्शन की हीनता हुई, इसकारण दर्शनावरण कर्म बंधा हूँ ऐसा नहीं है। ज्ञेयों के परिणमन के काल में उस-उस समय की योग्यता के कारण परमाणु विचित्ररूप बंधते हैं। ऐसा कैसे? यह प्रश्न ही नहीं होना चाहिये।

१. ज्ञेय-पदार्थों में कोई इष्ट और कोई अनिष्ट हूँ ऐसा ज्ञेयों में भेद नहीं।

२. इष्ट और अनिष्ट कल्पना अज्ञानी करता है, किन्तु इष्ट-अनिष्ट रूप होना ज्ञेयों का स्वभाव नहीं।

३. इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करना ज्ञायक के स्वभाव में नहीं है। जिससमय ज्ञेय की जैसी पर्याय होती है, वैसा ज्ञान जान लेता है। यद्यपि ज्ञानी को राग होता है, पर वह स्वयं की कमजोरी से होता है; ज्ञेयों की विचित्रता के कारण नहीं। इसलिए ज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर अथवा अंश के ऊपर नहीं होती अपितु स्वभाव के ऊपर होती है और प्रतिसमय जानने का काम करती है।

जीव और अजीव द्रव्य की पर्याय प्रतिसमय क्रमबद्धरूप से हो रही हैं। रोटी बनती है, वह बेलन से नहीं बनती, बाई से नहीं बनती; वह अपने कारण से जुदे-जुदे आकाररूप होती है। जीव खुराक लेता है, वह एक ही प्रकार की है, फिर भी कोई परमाणु रक्तरूप, कोई हाडरूप, कोई विष्टारूप,

कोई पेशाब रूप अपनी-अपनी योग्यता से परिणमित हो जाते हैं। उसीप्रकार कर्म का उदय जुदा-जुदा है; इसलिए जीव जुदे-जुदे तीव्र मंद भाव करता है ह्व ऐसा नहीं। स्वयं की योग्यता प्रमाण कोई तीव्र भाव करता है, कोई मंद करता है। वहाँ शुभाशुभ भाव किये; इसलिए कर्म को आना पड़ा अथवा योग का कंपन हुआ, इसलिए परमाणु आये ह्व ऐसा भी नहीं। उसीप्रकार जुदे-जुदे विचित्र परिणाम हैं, इसलिए कर्म में ज्ञानावरणादिरूप विचित्रता है ह्व ऐसा भी नहीं। प्रत्येक समय की पर्याय स्वतंत्र सत् है।

१. जिस समय जिस कर्म की जो पर्याय जिसरूप में होनी होती है, वह उसरूप में ही होती है, वह आत्मा से नहीं होती।

२. जैसे शुभाशुभ परिणाम आत्मा में होने योग्य हैं, वैसे ही शुभाशुभ परिणाम उस-उस काल में होते हैं। वे कर्मों के कारण नहीं होते।

ऐसा आत्मा में तथा पुद्गलों में प्रतिसमय स्वतंत्र परिणामन क्रमबद्धरूप से नियमित हो रहा है। ऐसा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किसप्रकार हो? कौन कर सकेगा? जिसकी निमित्त और संयोगों पर दृष्टि है, वह क्रमबद्ध का निर्णय कर सकेगा क्या? अशुभ को टालकर शुभ करूँ ऐसे अंश को बदलने पर जिनकी दृष्टि है, वह निर्णय कर सकेगा क्या? नहीं, उसका निर्णय कदापि सच्चा नहीं होगा।

जब जीव अक्रम शुद्ध-स्वभाव की तरफ झुके तब क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय कहा जाये। प्रथम तो जीव को निश्चित करना चाहिए कि प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र होती है। विकार पर के कारण नहीं होता। स्वभाव में विकार नहीं है। स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वरूप है। इसप्रकार संयोगों और अंश के ऊपर से रुचि हटाकर, अंशी स्वरूप के ऊपर लक्ष्य करें तो शांति प्रगट होती है।

प्रतिसमय पर्याय क्रमबद्ध हो रही है। उस क्रम के ऊपर का लक्ष्य छोड़कर अक्रम शांत ज्ञातादृष्टारूप शुद्धस्वभाव पर झुके, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णय सच्चा कहा जाता है। अक्रमस्वभाव के निर्णय बिना जो होना होगा, वह होगा ह्व ऐसा ऊपर से बोले सो वह

क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय नहीं। अहो! समय-समय की पर्याय स्वतंत्र है। उसमें फेरफार तीन काल तीन लोक में नहीं हो सकता। राग होता है, वह विकृतदशा है, उसका लक्ष्य छोड़कर स्वयं के ज्ञानस्वभाव की तरफ झुके उसको धर्मदशा उत्पन्न होती है। प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतंत्रता का वर्णन करते हुए 'विकार तेरा है, विकार तेरा है' ऐसा कहा वह विकार में अहं रखने के लिए नहीं; अपितु ध्रुव अविकारी शुद्धस्वभाव के निर्णय के लिए है। जो एक समय के विकार को स्वतंत्र स्वीकार करता है, वह अंशी-स्वभाव को भी स्वतंत्र स्वीकारता है ह्व ऐसी स्वभाव दृष्टि करने वाले का निर्णय सच्चा है।

इसप्रकार द्रव्यकर्मों की विचित्रता का बंध स्वतंत्र होता है, उसमें शुभाशुभ परिणाम निमित्त मात्र हैं ह्व ऐसा यथार्थ ज्ञान करके पर्याय के स्वतंत्रक्रम के ऊपर से लक्ष्य उठाकर अक्रमस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना ही धर्म है। ●

### पूर्व मान्यतायें बदल

चैतन्य के लक्ष बिना जो कुछ भी किया जाएगा, वह सत्य से विपरीत होगा। सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर कसने से उसकी एक भी बात सत्य नहीं निकलेगी। इसलिए जिसे आत्मा में अपूर्व धर्म करना हो, उसे अपनी पूर्व/पहले की सभी मान्यतायें अक्षर-अक्षर खोटी थी ह्व ऐसा समझकर सारी दृष्टि बदलनी पड़ेगी। यदि पहले की मान्यता सुरक्षित रखकर उसके साथ इस बात का मेल बिठाना चाहे तो अनादि की विपरीतता नहीं मिटेगी और यह नया अपूर्व सत्य उसे समझ में नहीं आएगा।

ह्व दृष्टि का निधान, पृष्ठ-२०-२१



### प्रवचनसार गाथा १८८

अब ऐसा समझाते हैं कि अकेला ही आत्मा बंध है :ह  
 सपदेशो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।  
 कम्मरएहिं सिलिट्टो बंधो त्ति परूविदो समये ॥१८८॥  
 ( हरिगीत )

सप्रदेशी आत्मा रुस-राग-मोह कषाययुत ।

हो कर्मरज से लिप्त यह ही बंध है जिनवर कहा ॥१८८॥

अन्वयार्थ :ह [ सप्रदेशः ] प्रदेशयुक्त [ सः आत्मा ] वह आत्मा [ समये ] यथाकाल [ मोहरागद्वेषैः ] मोह-राग-द्वेष के द्वारा [ कषायितः ] कषायित होने से [ कर्मरजोभिः श्लिष्टः ] कर्मरज से लिप्त या बद्ध होता हुआ [ बंध इति प्ररूपितः ] 'बंध' कहा गया है ।

टीका :ह जैसे जगत में वस्त्र सप्रदेश होने से लोध, फिटकरी आदि से कषायित होता है, जिससे वह मजीठादि के रंग से संबद्ध होता हुआ अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है, इसी प्रकार आत्मा भी सप्रदेश होने से यथाकाल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज के द्वारा श्लिष्ट होता हुआ अकेला ही बंध है; ऐसा देखना (मानना) चाहिये, क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध द्रव्य है ।

#### गाथा १८८ पर प्रवचन

अज्ञानी तथा ज्ञानी को स्वयं के भाव का बंधन है, कर्म का बंधन नहीं । जिसप्रकार वस्त्र के ताने-बाने घने हैं और वह घने तानेवाला वस्त्र स्वयं ही मजीठ आदि जुदे-जुदे रंगों से रंगा हुआ है; उसीप्रकार स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान न होने पर अज्ञानी जीव मोह-राग-द्वेष से रंगा है और ज्ञानी स्वयं की स्थिरता से चूककर अस्थिरता के राग-द्वेष से रंगा है । इसतरह आत्मा स्वयं के भावबंध से बंधा है; जड़कर्म से नहीं बंधा है ।

मिथ्यादृष्टि जीव त्रिकाली शक्ति का अनादर करता है, इसकारण उसे स्वभाव से विरुद्ध मिथ्यात्व और राग-द्वेष का बंध है और ज्ञानी को

अस्थिरता का दोष है । दोनों को बंध होने पर भी दोनों के बंधन में अन्तर है; किन्तु कर्म का दोष तो किसी को भी नहीं है । ज्ञानी को भी स्व-प्रमाद का दोष है ।

ज्ञानी अथवा अज्ञानी का माप बाह्य-संयोगों से नहीं; अपितु अंतर परिणामन से है । कोई कहता है कि एक व्यक्ति पूजा-भक्ति करता था; किन्तु सच्चा वस्तुस्वरूप समझने पर उसने पूजा-भक्ति करना छोड़ दिया; इसलिए वह धर्मी नहीं है; इसतरह से हमें मात्र बाह्य-संयोग अथवा क्रिया से माप नहीं करना चाहिए । धर्मी जीव कई बार स्वयं के स्वभाव का विशेष घोलन करने हेतु स्वाध्याय में लगा हो अथवा स्वयं के स्वरूप संबंधी विचार में हो तो उसे पूजा-भक्ति का विकल्प कदाचित् न भी उठे, वह उस समय ऐसे बाह्य संयोगों में न भी दिखे; किन्तु इसकारण उसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रमोद नहीं हूँ ऐसा एकान्त नहीं मानना चाहिए । बाह्य-क्रिया तो ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों ही नहीं कर सकते । अंतर स्वभाव में प्रमोद करता है या पुरुषार्थहीन हुआ है हूँ यह बात देखने योग्य है, बाह्य-संयोगों (अथवा क्रिया) से माप नहीं है ।

१. ऐसा कथन समझकर कोई जीव देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रमोद की भूमिका को उड़ाकर अकेला संसार के अशुभभाव में चला जाये तो उसे वस्तु-स्थिति की खबर नहीं है । शुद्धस्वभाव के भान सहित विकल्प के समय भूमिकानुसार देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग अथवा दया-दानादि का भाव कैसा हो उसका विवेक भूलकर अशुभ विकारी होने पर भी पर्याय में स्वयं को सिद्ध समान शुद्ध मान ले तो वह निश्चयाभासी है हूँ मिथ्यादृष्टि है, उसे वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है । उसे तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रमोद ही नहीं है ।

२. और किसी जीव को वस्तुस्वरूप का भान है, स्वयं की पर्याय का विवेक है, पर्याय में हीनता-पामरता की खबर है तो वह सच्चा विवेकी है । किसी समय स्वाध्याय में तल्लीन होने पर पूजा-भक्ति में जुड़ नहीं सका; इसलिए वह निश्चयाभासी है हूँ ऐसा भी नहीं समझना; क्योंकि

संयोग में आना कि नहीं आना, यह उसके हाथ की बात नहीं है। उसका अंतर-पुरुषार्थ कैसा है, वह देखने योग्य है। अंतरंग में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रमोद और बहुमान वर्तता है। इसलिए यदि दूसरे को समझने में अविवेक हुआ हो या स्वयं में स्वयं के परिणाम का अविवेक हुआ हो तो वह भी निकाल देना चाहिए।

अज्ञानी पर से समाधान करता है, ज्ञानी स्व से समाधान करता है, इसप्रकार दोनों में बहुत अंतर है। अज्ञानी जीव को स्वरूप का भान नहीं, इसलिए पर से सुख-दुःख मानता है। पुत्र के जन्म के समय उसमें अपनापन करके प्रसन्न होता है और रोग होने पर द्वेष करके इस प्रतिकूल संयोगों को दूर करना चाहता है। इसके विपरीत ज्ञानी पर-पदार्थों को राग-द्वेष का कारण नहीं मानता। स्वयं की पर्याय में कमजोरी वश राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं अथवा रति के प्रसंग में रति होती है; फिर भी उसे अपने स्वभाव का भान है। चारित्र की परिणति में कमजोरी हुई, उसे जानता है; किन्तु संयोगों को मिलाना कि दूर करना वह ऐसा नहीं मानता। कई बार अज्ञानी जीव रोगादि आने पर द्वेष भी नहीं करता, पुत्र मरने पर रोता भी नहीं और कहता है कि भाई, कोई किसी का नहीं है वह ऐसा वैराग्य लाता है; किन्तु वह पर संयोगों से समाधान करता है, उसे स्व-पर का विवेक नहीं। इसकारण उसका वैराग्य भी यथार्थ नहीं है; जबकि ज्ञानी रोग के काल में द्वेष करता दिखाई दे पुत्रादि मरने पर रोता हुआ दिखाई दे तो भी उसे अंतरंग का भान वर्तता है, वह पर के कारण राग-द्वेष नहीं मानता, उसे संयोगों तथा विकार का भी भान रहता है; इसकारण वह धर्मी है। इसलिए ज्ञानी अथवा अज्ञानी की तुलना बाह्य से नहीं हो सकती।

मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष का बंधन है और समकित्ती को अस्थिरता के राग-द्वेष का बंधन है; किन्तु पर का अथवा कर्म का बंधन किसी को भी नहीं है। जो विकार होता है, वह निश्चय से तुम्हारे द्रव्य में होता है; तुम्हारे द्रव्य में जो कुछ होता है, वह पर निमित्त के बिना होता है वह ऐसा कहकर यहाँ निश्चय का विषय विशेष द्रव्य अर्थात्

विकारी द्रव्य है वह ऐसा कहा है और समयसार में विकार तुम्हारा स्वरूप नहीं वह ऐसा सामान्य शुद्धद्रव्य का लक्ष्य कराकर सामान्य शुद्धद्रव्य को निश्चय का विषय कहा है। यहाँ प्रवचनसार में ज्ञान-प्रधान कथन होने से विकारी पर्याय को जीव की ही बताई है, कर्मकृत नहीं बताई। ऐसा पर से भिन्न बताकर निश्चय का विषय विकारी द्रव्य है वह ऐसा कहा है; इसलिए सही अपेक्षा समझनी चाहिए।

इसप्रकार आत्मा अकेला ही स्वयं के भाव के साथ बंधरूप होता है वह ऐसा समझकर बंधरहित शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिये, यही धर्म है।

### आचार्यों का उपकार

अहो! महान सन्त मुनीश्वरों ने जंगल में रहकर आत्म स्वभाव के अमृत का झरना बहाया है। आचार्यदेव तो धर्म के स्तम्भ हैं, उन्होंने पवित्र धर्म को टिका रखा है ..... गजब काम किया है। साधक दशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए, परिषहों को जीतकर परमसत्य को जीवंत रखा है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके उन्होंने अनेक जीवों पर महान उपकार किया है। रचना तो देखो! एक-एक पद में कितना गम्भीर रहस्य है! यह तो सत्य की घोषणा है, इसके संस्कार अपूर्व चीज हैं और इसकी समझ तो मुक्ति लक्ष्मी को वरण करने का श्रीफल है। जो इसे समझे उसका तो मोक्ष ही है।

हृदय का निधान, पृष्ठ-२२

### प्रवचनसार गाथा १८९

अब निश्चय और व्यवहार का अविरोध बतलाते हैं :ह

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्धित्तो ।

अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥१८९॥

( हरिगीत )

यह बंध का संक्षेप जिनवरदेव ने यतित्वन्द से ।

नियतनय से कहा है व्यवहार इससे अन्य है ॥१८९॥

अन्वयार्थ :ह [ एषः ] यह (पूर्वोक्त प्रकार से), [ जीवानां ] जीवों के [ बंधसमासः ] बंध का संक्षेप [ निश्चयेन ] निश्चय से [ अर्हद्धिः ] अर्हन्त भगवान ने [ यतीनां ] यतियों से [ निर्दिष्टः ] कहा है; [ व्यवहारः ] व्यवहार [ अन्यथा ] अन्य प्रकार से [ भणितः ] कहा है ।

टीका :ह राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला है; ह यह, शुद्धद्रव्य<sup>१</sup> का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है । और जो पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा पुद्गल परिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करने वाला और छोड़ने वाला है; ह ऐसा जो नय है वह अशुद्धद्रव्य<sup>२</sup> के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है । यह दोनों (नय) हैं; क्योंकि शुद्धरूप और अशुद्धरूप ह दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है । किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक) होने से<sup>३</sup> ग्रहण किया जाता है;

१. निश्चयनय मात्र स्वद्रव्य के परिणाम को बतलाता है, इसलिये उसे शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है और व्यवहारनय परद्रव्य के परिणाम को आत्मपरिणाम बतलाता है, इसलिये उसे अशुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है ।

२. यहाँ शुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्याश्रित परिणाम की अपेक्षा से जानना चाहिये और अशुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य में आरोपित करने की अपेक्षा से जानना चाहिये ।

३. निश्चयनय उपादेय है और व्यवहारनय हेय है ।

प्रश्न : द्रव्य सामान्य का आलम्बन ही उपादेय है, फिर भी यहाँ रागपरिणाम की ग्रहण-त्यागरूप पर्यायों को स्वीकार करनेवाले निश्चयनय को उपादेय क्यों कहा है?

(क्योंकि) साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक (प्रकाशक) होने से निश्चयनय ही साधकतम है; किन्तु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है ।

### गाथा १८९ पर प्रवचन

जब आत्मा स्वयं के स्वभाव को न जानकर पर-पदार्थ की तरफ लक्ष्य करता है, तब उसे राग-द्वेष के परिणाम स्वयं ही स्वयं के कारण होते हैं । कर्म का तीव्र उदय आने पर तीव्र राग-द्वेष करता है ह ऐसा नहीं तथा मंद उदय आया इसलिए मंद राग-द्वेष करता है ह ऐसा भी नहीं । वह स्वयं ही राग-द्वेष के परिणाम ग्रहण करता है और छोड़ता है । वे परिणाम शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के हैं ।

यह शुद्ध द्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय है । निश्चयनय केवल स्वद्रव्य के परिणाम को दर्शानेवाला होने से उसे यहाँ शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है ।

१. दर्शनप्रधान कथन से निश्चयनय का स्वरूप :ह समयसारादि के दृष्टिप्रधान कथन में विकारी पर्याय स्वतंत्रपने होती है, उसका विवेक होने के पश्चात् यदि सामान्य शुद्ध स्वभाव का ध्येय कराना हो तब विकार से जुदा करके अविकारी स्वभाव का लक्ष्य कराकर ऐसा कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेष का ग्रहण नहीं करता तथा छोड़ता भी नहीं; क्योंकि मूलस्वरूप में राग-द्वेष ही ही नहीं ह ऐसा कहकर राग-द्वेष का लक्ष्य छुड़ाकर और सामान्य

उत्तर :ह 'रागपरिणाम का कर्ता भी आत्मा ही है और वीतराग परिणाम का भी; अज्ञानदशा भी आत्मा स्वतंत्रतया करता है और ज्ञानदशा भी' ह ऐसे यथार्थ ज्ञान के भीतर द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है । यदि विशेष का भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो तो यह विशेषों को करनेवाला सामान्य का ज्ञान होना ही चाहिये । द्रव्यसामान्य के ज्ञान के बिना पर्यायों का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता । इसलिए उपरोक्त निश्चयनय में द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है । जो जीव बंधमार्गरूप पर्याय में तथा मोक्षमार्गरूप पर्याय में आत्मा अकेला ही है, इसप्रकार यथार्थतया (द्रव्यसामान्य की अपेक्षा सहित) जानता है, वह जीव परद्रव्य से संपृक्त नहीं होता और द्रव्यसामान्य के भीतर पर्यायों को डुबाकर, एकरूप करके सुविशुद्ध होता है । इसप्रकार आलम्बनरूप अभिप्राय अपेक्षित होने से उपरोक्त निश्चयनय को उपादेय कहा है ।

( विशेष जानने के लिये १२६वीं गाथा की टीका देखनी चाहिये ।)

शुद्ध स्वभाव का लक्ष्य कराकर स्व का आश्रय करो, ऐसा कहा है। वहाँ द्रव्यार्थिक नय का विषय 'स्व' अर्थात् सामान्य शुद्ध ध्रुवस्वभाव है। तथा वहाँ यह भी कहा है कि आत्मा राग का त्याग करता है, वह नाममात्र है।

**२. ज्ञानप्रधान कथन से निश्चयनय का स्वरूप :** ह्य यहाँ अज्ञानी जीव का लक्ष्य कर्म और संयोगों पर है। उससे कहते हैं कि कर्म ने मिथ्यात्व और राग-द्वेष नहीं कराये और तुमने परवस्तु तथा कर्म का ग्रहण-त्याग भी नहीं किया। तुम तो रागादि अंतरंग परिणामों के कारण हो। तुम विकारी पर्याय (परिणाम) के स्वतंत्रपने करता हो ह्य ऐसा ज्ञान कराकर पर-पदार्थों से दृष्टि हटाने का कथन किया है। अर्थात् यहाँ शुद्धद्रव्य का कथन एक स्वयं के द्रव्याश्रित परिणाम की अपेक्षा से जानना, उसे यहाँ निश्चयनय कहा है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है; अतः सही अपेक्षा समझनी चाहिए।

विकार के समय कर्म निमित्त है ह्य ऐसा ज्ञान करना व्यवहारनय है। पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि आत्मा के राग-द्वेष जड़कर्म की अवस्था को कर सकते हैं; किन्तु जब जीव राग-द्वेष करता है, तब कर्म अवश्य बंधते हैं; इसलिए व्यवहार से आत्मा को जड़कर्म का कर्ता कहा है।

वह कर्म दो प्रकार का है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, असातावेदनीय, अशुभनामकर्म, अशुभगतिकर्म, नीचगोत्र, अल्पायु इत्यादि पाप कर्म प्रकृतियाँ हैं तथा सातावेदनीय, शुभनामकर्म, उच्चगोत्र, पूर्ण आयु इत्यादि पुण्य कर्मप्रकृतियाँ हैं। उनका आत्मा ग्रहण त्याग करता है ह्य ऐसा अशुद्धद्रव्य के निरूपण स्वरूप कथन व्यवहारनय का है।

**प्रश्न :** ह्य ऐसा व्यवहार कहने की क्या जरूरत है?

**उत्तर :** ह्य जीव जड़कर्म को न मानता हो, उसे कर्म का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कथन किया है। स्वभाव के लक्ष्य से विकार नहीं हो सकता, स्वभाव में विकार नहीं है; किन्तु कर्म (पर) के लक्ष्य से जीव स्वयं विकार करता है ह्य ऐसा बताया है। यदि विकार के समय कर्म न हो तो विकार स्वयं का स्वभाव हो जाये। विकार स्वयं की पर्याय का अपराध है, यह

अनारोपित कथन है तथा कर्म के निमित्त से राग होता है, यह आरोपित कथन है, इसका भी ज्ञान करना चाहिए।

१. जब जीव स्वयं विकार करता है, तब जड़कर्म आदि परज्ञेय हैं, उनकी सत्ता है, उनका ज्ञान करना।

२. परज्ञेय वस्तु कर्म मौजूद हैं, इसलिए विकार करना पड़े ह्य ऐसा भी नहीं।

इसलिए स्वविकारी पर्याय स्व-ज्ञेय, वह निश्चय और कर्म की पर्याय पर-ज्ञेय, वह व्यवहार ह्य ऐसा सच्चा ज्ञान करना चाहिए।

यहाँ दोनों नयों से कथन किया है, क्योंकि द्रव्य शुद्ध और अशुद्धपने प्रतीत होता है। आत्मा स्वयं विकार करता है, वह पर तथा कर्म की अपेक्षा रहित परिणमता है, इसलिए शुद्धपने कहा है। वह विकार करता है, तब कर्म आते हैं और जाते हैं ह्य ऐसा जड़कर्म का ग्रहण-त्याग करता है, वह अशुद्धपने कहा है। किन्तु निश्चयनय साधकतम है; क्योंकि वह स्वतंत्रता की सिद्धि करता है।

**प्रश्न :** ह्य कोई कहता है कि विकारी पर्याय को बताने वाला नय साधकतम कैसे हो सकता है?

**उत्तर :** ह्य भाई, यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। जीव में हुआ विकार अंश है। जो जीव ऐसा मानता है कि विकारी पर्याय पर के कारण होती है, उसे स्वयं का विकार टालने के लिए पर के सामने देखना ही पड़ेगा; क्योंकि वह जीव ऐसी तर्क करता है कि द्रव्य-गुण तो शुद्ध हैं, पर्याय में अशुद्धता कहाँ से आई? वह मानता है कि अशुद्धता निमित्त से अथवा कर्म से आई है; इसलिये उससे कहते हैं कि निश्चयनय से ऐसा ज्ञान करो कि मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि के परिणाम मेरे में से, मेरे कारण हो रहे हैं, किसी पर-पदार्थ ने नहीं कराये। इसप्रकार जो अंश को स्वतंत्र मानता है, उसकी दृष्टि अंशीद्रव्य की तरफ गये बिना नहीं रहती।

यह नय अकेले अंश में रुकने के लिए नहीं कहा; अपितु पर्याय को स्वतंत्र स्वीकार कर पर्यायवान की ओर बढ़ने के लिए उत्कृष्ट साधन के रूप में कहा है।

**प्रश्न :** ह्म जीव की स्वयं की अपराध करने की इच्छा तो है नहीं?

**उत्तर :** ह्म भाई, वह अपराध ही कर रहा है। क्योंकि जिस जीव को अपराध-रहित निरपराधी स्वभाव की खबर नहीं, वह अपराध ही है, उसे अपराध का भी सच्चा ज्ञान नहीं। अपराध स्वतंत्र हो रहा है ह्म ऐसा निश्चय करने पर निरपराधी स्वभाव का ख्याल आता है। अपराध-रहित शुद्ध स्वभाव के भान बिना अपराध टल नहीं सकता इसी से अज्ञानी का संसारभ्रमण चालू रहता है। अतः निरपराधी स्वभाव की पहचान से ही अपराध टलता है।

इसप्रकार विकारी पर्याय को जाननेवाला निश्चयनय अविकारी स्वभाव का स्वतंत्र कथन करने हेतु उत्कृष्ट साधन है ह्म ऐसा यथार्थज्ञान करके शुद्धस्वभाव की तरफ बढ़ना ही कार्यकारी है।

**प्रश्न :** ह्म राग परिणाम का ज्ञान-कराने वाला निश्चयनय उपादेय कैसे कहा? समयसार शास्त्र में ऐसा लिखा है कि शरीर, कर्म, देव-गुरु-शास्त्र पर हैं और उनके लक्ष्य से हुआ शुभाशुभ भाव जहर है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं। राग-द्वेष उपादेय नहीं; क्योंकि वे उपाधिभाव हैं। जीव निरूपाधि स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे तो अधर्म का नाश होकर धर्म होता है। संयोगों में से अथवा वर्तमान अंश में से धर्म नहीं होता; किन्तु शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से धर्म होता है। राग-द्वेष का ग्रहण-त्याग शुद्धस्वभाव में नहीं, वह तो नाममात्र है। वहाँ शुद्ध स्वभाव को बताने वाला शुद्धनय ही अंगीकार करने योग्य कहा था; फिर यहाँ प्रवचनसार में राग परिणाम के ग्रहण-त्याग रूप पर्याय का स्वीकार करने वाले निश्चयनय को उपादेय कैसे कहा?

**उत्तर :** ह्म राग स्वतंत्र अंश है ह्म ऐसा स्वीकार करनेवाले की दृष्टि अंशी की ओर जाती है, इसलिए राग को बतानेवाले निश्चयनय को उपादेय कहा है।

राग परिणाम तथा वीतराग परिणाम आत्मा स्वतंत्रपने करता है। तथा शुभ-अशुभ परिणाम करने वाला भी आत्मा स्वयं ही है। जड़ के कारण अथवा पर-पदार्थों के कारण विकार नहीं होता। निगोद में भी जीव स्वयं के अज्ञान के कारण रहता है; तीव्र कर्म के कारण नहीं।

ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर जीव नीचे के गुणस्थान में आता है, वह भी स्वयं के पुरुषार्थ की मंदता से आता है, कर्म के उदय के कारण नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जीव विकारी परिणाम स्वतंत्रतया करता है।

पर-पदार्थ से आत्मा जुदा है। पुण्य-पाप क्षणिक हैं। आत्मा पर्याय जितना ही नहीं है। आत्मा तो शुद्धस्वभाव चिदानंद स्वरूप है ह्म ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करके स्वयं में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के वीतरागी परिणाम आत्मा स्वयं करता है ह्म ऐसा जानना चाहिए। केवली-श्रुतकेवली का योग है, महाविदेह क्षेत्र है, कर्म का मंद उदय है अथवा कर्म नष्ट हो गया है, काल अच्छा है, इसलिए वीतरागी परिणाम करता है ह्म ऐसा नहीं; किन्तु जीव स्वयं की योग्यतानुसार वीतरागी परिणाम करता है। इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अज्ञानदशा तथा ज्ञानदशा का कर्ता है।

**प्रश्न :** ह्म तीर्थंकर प्रकृति का बंध तीर्थंकर के समीप गये बिना नहीं होता? इसलिए ऐसा निमित्त मिलाने का पुरुषार्थ करना चाहिए ना?

**उत्तर :** ह्म यह बात बहुत अज्ञानभरी है; क्योंकि निमित्त तथा शुभराग की दृष्टिवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे तीर्थंकर प्रकृति कभी नहीं बंधती।

१. प्रथम तो जो जीव ऐसा मानता है कि तीर्थंकर के पास जाऊँ और उपदेश सुनूँ तो उसके ख्याल में यह है कि हम पर-पदार्थों को मिला सकते हैं; किन्तु वह तो भ्रम है क्योंकि तीर्थंकर का संयोग मिलना जीव के शुभराग के आधीन नहीं; पूर्व पुण्य के निमित्त से संयोग स्वतंत्र मिलते हैं; फिर भी मैं पर को मिला सकता हूँ, यह भ्रान्ति है।

२. वह जीव ऐसा मानता है कि वहाँ जाने से मुझे शुभभाव होगा, क्षायिक सम्यक्त्व होगा; किन्तु आत्मा को जानने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है ह्म ऐसा वह नहीं मानता। उसकी मान्यता में भूल है; क्योंकि वह शुभ तथा शुद्ध पर्याय पर से मानता है।

३. उस जीव की ऐसी भावना है कि मैं तीर्थंकर नामकर्म बाँधूँ अथवा तीर्थंकर नामकर्म के योग्य शुभभाव करूँ, जिससे वह कर्म बंधे। ऐसी जिसकी रुचि अथवा दृष्टि है, उसे जड़कर्म की भावना है अथवा शुभराग-आस्रव की रुचि है; बंधरहित अबंध शुद्धस्वभाव की भावना नहीं है;

इसलिए उसे मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है।

४. जब उपादान में कार्य नहीं हो तो निमित्त क्या कर सकता है? भगवान के पास जाकर जो जीव शुभभाव करता है अथवा क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट करता है, उस जीव को भगवान शुभ अथवा शुद्ध में निमित्त कहे जाते हैं। जब उपादान में कार्य होता है, तब पर में निमित्तपने का आरोप आता है। तेरे उपादान में अभी कुछ कार्य तो हुआ नहीं तथा भगवान के ऊपर निमित्त का आरोप करने की तुम्हारी पर्याय में योग्यता प्रगटी नहीं, नैमित्तिक पर्याय में काम होने के पहले किसे निमित्त कहा जाये? भगवान को निमित्त कहने का काल आया नहीं; उसके पहले निमित्त को मिलाने जाऊँ हूँ ऐसा कहना स्थूल भ्रान्ति है।

५. जिसकी दृष्टि संयोग मिलाने के ऊपर, कर्म बांधने के ऊपर, शुभराग करने के ऊपर है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा मिथ्यादृष्टि जीव को तीर्थकर प्रकृति का बंध कदापि नहीं होता। मात्र समकिति धर्मात्मा को विकल्पवाली दशा में हेयबुद्धि से तीर्थकर प्रकृति का बंध हो जाता है। इसलिए मिथ्यात्व अवस्था होने पर मैं तीर्थकर प्रकृति का बंध करूँ हूँ यह तेरा अज्ञानभाव है।

किसी सम्यग्दृष्टि जीव को कमजोरी के शुभराग में तीर्थकर प्रकृति सहज बंध जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव को ही तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है। समकिति मानता है कि केवली मुझसे पर हैं। उनका संयोग मिलना कि नहीं मिलना मेरे हाथ की बात नहीं। यदि पूर्व पुण्य का योग हो तो मिल जाते हैं तथा भगवान मिले तो भगवान के कारण शुभराग अथवा सम्यग्दर्शन होगा हूँ ऐसा वह नहीं मानता। मेरा स्वरूप पर-पदार्थ से रहित, विकार से रहित, अंशप्रमाण नहीं है, मैं तो त्रिकाली ध्रुव ज्ञान स्वभावी आत्मा हूँ हूँ ऐसे भाव पूर्वक श्रद्धा-ज्ञान करे तो उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। तीर्थकर प्रकृति को बाँधूँ अथवा उसके योग्य शुभभाव करूँ हूँ ऐसी उसकी रागबुद्धि-संयोगबुद्धि नहीं होती। शुभ को वह हेय मानता है; किन्तु जब तक स्वभाव में नहीं ठहरे, तब तक “स्वभाव में परिपूर्ण होऊँ और सभी जीव ऐसे स्वभाव में परिपूर्ण हों” हूँ ऐसा

शुभभाव कई बार आ जाता है, उसके फल में तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है। शुभभाव में तो हेयबुद्धि ही रहती है, उसे अधर्मभाव मानता है तथा कमजोरीवश हुये शुभराग का ज्ञाता-दृष्टा रहता है। पहले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के कारण भ्रमता था अब वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र मिले इसलिए तिर गया हूँ ऐसा समकिति कभी नहीं मानता। जब जीव को तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है, तब तीर्थकर की उपस्थिति निमित्तरूप में कारण कही जाती है। तीर्थकर के कारण समकिति को तीर्थकर प्रकृति का बंध नहीं होता तथा इस जीव को तीर्थकर प्रकृति का बंध होना है, इसलिए तीर्थकर को आना पड़ेगा हूँ ऐसा भी नहीं। किन्तु जब सम्यग्दृष्टि को तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है अथवा क्षायिक सम्यक्त्व होता है, तब तीर्थकर की उपस्थिति निमित्तरूप में होती ही है हूँ ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

तीर्थकर की सभा में तो बहुत जीव होते हैं। यदि तीर्थकर के कारण सम्यक्त्व हो तो सभी को सम्यक्त्व होना चाहिए; किन्तु सभी जीवों को सम्यक्त्व नहीं होता तथा समकितियों में भी तीर्थकर प्रकृति का बंध किसी-किसी को ही होता है, सभी को नहीं हूँ ऐसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

पर्याय को पराधीन माननेवाले जीव को द्रव्यसामान्य का सच्चा ज्ञान नहीं होता। अहो ! जो जीव स्वयं की पर्याय पर के कारण मानता है, वह पर से हटकर स्वतरफ कैसे बढ़ेगा? विकारी पर्याय, अविकारी अधूरी पर्याय, मोक्षमार्ग तथा मोक्ष हूँ ये सभी विशेष हैं हूँ अंश हैं। अंश को पराधीन मानने वाला अंशी को स्वतंत्र नहीं मान सकता। जिसे विशेष का सच्चा ज्ञान नहीं वह सामान्य वस्तुस्वभाव का ज्ञान नहीं कर सकता। कर्म नष्ट हों तो धर्म हो, भगवान हों तो क्षायिक सम्यक्त्व हो, अनुकूल संयोग हों तो धर्म हो और प्रतिकूल संयोग हों तो धर्म नहीं हो, कुगुरु का संग हो तो संसार भ्रमण हो, सुगुरु का संग हो तो संसार से तिर जायें, गुरु हो तो सम्यग्दर्शन हो, स्त्री-पुत्र हों तो राग करना पड़े, पंचमकाल है इसलिए

केवलज्ञान नहीं होगा ह्व ऐसा जो जीव स्वयं की विकारी अथवा अविकारी पर्याय, शुभ अथवा अशुभ विशेष (अंश) को स्वतंत्र नहीं मानता, उसे सामान्य द्रव्य की स्वतंत्रता का सच्चा ज्ञान नहीं। **कारण कि निर्णय द्रव्य-गुण में नहीं कराना; पर्याय में कराना है।** जिसमें निर्णय कराना है, उस पर्याय को ही जो पराधीन मानता है, वह उस पर्याय का लक्ष्य छोड़कर स्व की तरफ लक्ष्य करने का पुरुषार्थ नहीं कर सकता। इस कारण उसे कभी धर्म नहीं होता।

पर्याय को स्वतंत्र माननेवाला ही पर्यायवान की तरफ दृष्टि करता है; इसलिए निश्चयनय को उपादेय कहा है। निश्चयनय विशेष का स्वतंत्र ज्ञान कराता है। संसार तो विकार भाव-उदय भाव हैं। पाँच भाव में उदयभाव स्वतत्त्व है। जब आत्मा स्वयं संसार को करता है तो होता है, नहीं करता तो नहीं होता। बंध तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है। कर्ता, कर्म, कारण और कर्मफल को आत्मा स्वयं ही करता है, दूसरा कोई नहीं। यदि आत्मा संसार करता है तो स्वतंत्रपने करता है और सच्चा ज्ञान करे तो भी स्वतंत्रपने स्वयं ही करता है। इसप्रकार जो जीव संसार अथवा मोक्षमार्ग में आत्मा के अकेलेपन को यथार्थपने जानता है, वह संयोग, कर्म आदि परद्रव्य से संयुक्त नहीं होता अर्थात् उनमें एकत्वबुद्धि नहीं करता? जो जीव भूल को स्वतंत्रपने स्वीकार करता है, वह भूलरहित हो जाता है, इसप्रकार पर से दृष्टि हटाकर स्वतरफ होती है। स्वद्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध है, उसमें परवस्तु का अभाव है। विकार उपाधिभाव है; त्रिकाली स्वभाव उपाधिरहित है ह्व ऐसे द्रव्य की ओर दृष्टि होने पर श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं। इसप्रकार पर्याय के यथार्थज्ञान में द्रव्य सामान्य का ज्ञान अपेक्षित होने से और द्रव्यपर्याय के यथार्थज्ञान में द्रव्यसामान्य का आलंबनरूप अभिप्राय अपेक्षित होने से ऊपर कहे अनुसार निश्चयनय उपादेय अर्थात् अंगीकार करने योग्य कहा है।

**प्रश्न :** ह्व जब पर्याय को द्रव्य का आलंबन रहता है, तो वह पर्याय पराधीन हुई ना?

**उत्तर :** ह्व जब ऐसा कहते हैं कि पर्याय है, तब वह स्वयं से है, द्रव्य से नहीं। विशेष विशेष से हैं, सामान्य से नहीं। कारण कि वह 'है'; किन्तु किसी के कारण नहीं है, इसलिए विशेष स्वतंत्र है ह्व ऐसा अलिंगग्रहण के बोल में आ ही चुका है। सामान्य सामान्य से है, विशेष से नहीं, यह बात भी पूर्व में आ चुकी है। ऐसा न मानें तो सामान्य का अभाव हो जाये। द्रव्य भी सत् है और पर्याय भी सत् है। यह पर्याय का निरपेक्ष कथन हुआ।

**प्रश्न :** ह्व कोई कहता है कि सम्यग्दर्शन पर्याय पूर्व में तो थी नहीं अब कहाँ से आई?

**उत्तर :** ह्व वह सम्यग्दर्शन पर्याय देव-गुरु-शास्त्र के कारण नहीं आई, कर्म मंद पड़ा इसलिए उत्पन्न नहीं हुई अथवा शुभराग से भी नहीं हुई, पूर्व पर्याय के कारण भी नहीं हुई; किन्तु वह पर-पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर शुद्ध स्वभाव की तरफ लक्ष्य किया, इसलिए द्रव्य में से ही आई है। धर्म की पर्याय द्रव्य में से प्रगट हुई ह्व यह सापेक्ष कथन है। इसप्रकार सापेक्ष और निरपेक्ष कथन बराबर समझना चाहिए।

निश्चयनय शुद्धत्व का प्रकाशक है और व्यवहारनय अशुद्धत्व का प्रकाशक है। पर्याय अंश को स्वतंत्र स्वीकार करनेवाले की दृष्टि द्रव्य की ओर ढलती है; इसलिए पर्याय को स्वतंत्र बतानेवाला निश्चयनय उत्कृष्ट साधक होने से उपादेय कहा है। शुद्ध आत्मा साध्य है और निश्चयनय उसका साधक है।

इसप्रकार विकार स्वतंत्रपने होता है ह्व ऐसा ज्ञान कराने वाला नय शुद्धनय की तरफ दौड़ जाता है, इसलिए उसे द्रव्य के शुद्धत्व का प्रकाशक कहा है। निश्चयनय ही साधकतम है। संयोग और कर्म का ज्ञान कराने वाला व्यवहारनय अशुद्धत्व का द्योतक है। वह पर की ओर लक्ष्य कराता है और पर लक्ष्य से विकार होता है, इसलिए व्यवहारनय साधकतम नहीं है। इसप्रकार व्यवहारनय को हेय समझकर निश्चयनय का यथार्थ ज्ञान करके द्रव्य सामान्य की ओर बढ़कर सच्चा-श्रद्धान-ज्ञान करना ही निश्चयनय को जानने का फल है। ●

### प्रवचनसार गाथा १९०

अब ऐसा कहते हैं कि अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है :ह

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेषु ।

सो सामण्यं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मगं॥१९०॥

( हरिगीत )

तन-धनादि में 'मैं हूँ यह' अथवा 'ये मेरे हैं' सही ।

ममता न छोड़े वह श्रमण उनमार्गी जिनवर कहें ॥१९०॥

अन्वयार्थ :ह [ यः तु ] जो [ देहद्रविणेषु ] देह-धनादिक में [ अहं मम इदम् ] 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' [ इति ममतां ] ऐसी ममता को [ न त्यजति ] नहीं छोड़ता, [ सः ] वह [ श्रामण्यं त्यक्त्वा ] श्रमणता को छोड़कर [ उन्मार्गं प्रतिपन्नः भवति ] उन्मार्ग का आश्रय लेता है ।

टीका :ह जो आत्मा शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय से जिसे मोह उत्पन्न हुआ है ऐसा वर्तता हुआ 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' इसप्रकार आत्मीयता से जो देह-धनादिक परद्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता, वह आत्मा वास्तव में शुद्धात्म परिणतिरूप श्रामण्यनामक मार्ग को दूर से छोड़कर अशुद्धात्म परिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय लेता है । इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है ।

#### गाथा १९० पर प्रवचन

जड़ तथा चेतन की एकत्वबुद्धि करनेवाला जीव संसारमार्ग में है । यह शरीर मेरे कारण चलता है तथा शरीर, कर्म आदि के कारण राग होता है हूँ ऐसा जाननेवाला जीव वस्तुस्वातंत्र्य को नहीं जानता । मेरी इच्छा से शरीर चलता है, दुकान पर जाऊँ और इच्छा करूँ तो धन आदि दान दे सकता हूँ, मैं अपनी इच्छा से बोलता हूँ हूँ इसप्रकार जो जीव पर में अपनापन करता है, जड़ पदार्थ की वर्तमान पर्याय का स्वयं स्वामी होता

है और स्वयं की वर्तमान पर्याय जड़ से हुई मानता है, वह जीव मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है । जड़ और चेतन में अत्यन्त अभाव है । शरीर, शरीर के कारण तथा आत्मा, आत्मा के कारण स्वतंत्र क्रिया करता है हूँ ऐसा न मानकर जड़-चेतन को पराधीन माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, जैन नहीं । वह बाह्य से श्रमण हो और ऐसा मानता हो कि शरीर की नग्नदशा आत्मा से होती है और नग्नदशा से आत्मा को लाभ होता है तो वह साधुपद से भ्रष्ट होकर उन्मार्ग की ओर जाता है, सच्चे मार्ग में नहीं रहता ।

इसप्रकार जड़-चेतन की एकत्व बुद्धि से संसार बढ़ता है हूँ ऐसा समझकर एकत्वबुद्धि तोड़कर जड़ और चेतन दोनों स्वतंत्र हैं हूँ ऐसा ज्ञान करना चाहिए ।

यह ज्ञेय अधिकार है । यहाँ ज्ञानप्रधान कथन करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि बताते हैं । इस गाथा में और समयसार में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कथन है, इसलिए सभी अपेक्षाओं को बराबर समझने का अभ्यास करना चाहिए । शुद्ध द्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय की चर्चा पहले की जा चुकी है ।

आत्मा स्वयं के अपराध के कारण ज्ञान स्वभाव को न जानता हुआ स्वयं ही पर-पदार्थों के प्रति मोह-राग-द्वेष के परिणाम करता है; किसी बाह्य-संयोग अथवा निमित्त के कारण नहीं करता । स्वज्ञेय के ज्ञानप्रधान कथन में आत्मा स्वयं के राग-द्वेष का ग्रहण-त्याग करता है; किन्तु पर-पदार्थ का ग्रहण-त्याग नहीं करता । इसप्रकार स्वयं के विकारी परिणाम का कर्ता आत्मा स्वयं है हूँ ऐसा बताने वाले नय को यहाँ शुद्धद्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय कहा है । उदयभाव स्वतत्त्व है हूँ ऐसा बताने वाला निश्चयनय है ।

जब जीव विकार करता है, तब कर्म आदि पर पदार्थ निमित्त होते हैं । उन कर्म अथवा पर-पदार्थों से विकार नहीं होने पर भी जीव पर के कारण राग-द्वेष करता है हूँ ऐसा कहनेवाला तथा जीव पर पदार्थों का ग्रहण-त्याग नहीं करता होने पर भी जीव पर-पदार्थ तथा कर्म का ग्रहण-त्याग



करता है वह ऐसा कहनेवाला नय अशुद्धद्रव्य को निरूपण स्वरूप व्यवहारनय है; कारण कि वह परद्रव्य के परिणाम को आत्मपरिणाम दर्शाता है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में विकारी पर्याय सहित आत्मा का ज्ञान और पर-पदार्थ का ज्ञान हूँ ऐसा दो रूप होकर प्रमाणज्ञान होता है।

दृष्टिप्रधान कथन में नियमसार में तो औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और क्षायिकभाव चारों को विभावभाव कहा है अर्थात् विशेष भाव कहा है, कारण कि वे भाव कर्म के सद्भाव और अभाव की अपेक्षा रखते हैं। क्षायिक भाव भी कर्म के व्यय की अपेक्षा रखता है। वह भी एक समय की क्षणिक अवस्था है। सिद्धदशा भी उत्पाद-व्ययवाली होने से पर्यायार्थिक नय का विषय है। चार भाव अवस्था है; इसलिए उनके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन नहीं होता। इस अपेक्षा से चारों को विभावभाव कहकर अनादि-अनंत एक पारिणामिक भाव रूप शुद्ध स्वभाव को दृष्टि का विषय कहा है। उसे जाननेवाले नय को निश्चयनय कहा है।

स्वयं में हुये विकारी अथवा अविकारी परिणाम को जाननेवाला व्यवहारनय कहा है। तथा स्वयं का त्रिकाली शुद्धद्रव्य और स्वयं की पर्याय हूँ ऐसा दो होकर प्रमाण कहा है।

दृष्टिप्रधान कथन में विकार जीव का त्रिकाली स्वरूप न होने से द्रव्यसामान्य का लक्ष्य कराने हेतु विकार को गौण करके कथन करते हैं और सामान्य शुद्ध अभेद द्रव्य को ध्येय बताते हैं; किन्तु ज्ञान प्रधान कथन में पर-पदार्थ से जुदा करने के लिए विकार को जीव का बताते हैं।

यहाँ प्रवचनसार में निश्चयनय पर-पदार्थ से जुदा आत्मा का ज्ञान कराता है। इसप्रकार इन दोनों कथनों को यथार्थ समझकर यहाँ ज्ञानप्रधान कथन को ख्याल में रखकर समझना।

यहाँ कहा है जो आत्मा शुद्ध द्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय को न जानता हुआ स्वयं का अपराध स्वयं से न मानकर पर से मानता है, वह निश्चयनय से दूर है। व्यवहारनय तो परद्रव्य के परिणाम को आत्म-

परिणाम दर्शाता है। यह संयोग का कथन होने पर भी मोह के कारण जीव पर के परिणाम को आत्मा का परिणाम मानता है। जब जीव राग-द्वेष करता है, तब व्यवहारनय ऐसा कहता है कि ये भाव कर्मोदय के कारण हुये हैं और राग के कारण कर्म बंधते हैं। वहाँ राग तथा कर्म में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है वह ऐसा ज्ञान व्यवहारनय कराता है, किन्तु उसे न जानते हुये अज्ञानी जीव को निमित्त में मोह उत्पन्न होता है और इसलिए कर्म के कारण राग हुआ और राग होने से कर्म का बंधन हुआ, मैंने इच्छा की तो वाणी बुली, मेरे राग से इस वस्त्र की क्रिया होती है वह ऐसा मानता है। स्वयं के परिणाम स्वयं से होते हैं और पर-पदार्थों के परिणाम पर के कारण होते हैं वह ऐसा न मानता हुआ स्वयं के परिणाम पर से होते हैं तथा पर के परिणाम स्वयं से होते हैं वह ऐसा जो जीव मानता है, वह जीव निश्चयनय के प्रति अनजान रहता है और व्यवहारनय में मोह उत्पन्न करता है।

यह मोही जीव स्वयं के परिणाम को स्वतंत्र स्वीकार नहीं करता। यह मैं हूँ और यह मेरा है वह ऐसा मोह उत्पन्न करता है। वह ऐसा मानता है कि यह शरीर, धन इत्यादि मेरे हैं, इनके कारण मुझे ममता होती है और मेरे राग के कारण वे आते हैं। इसलिए इन सभी वस्तुओं का मैं त्याग करता हूँ, जिससे मुझे धर्म होगा। वह अज्ञानी जीव मानता है कि स्त्री-पुत्र मुझे संसार में फँसाते हैं; अतः उनको छोड़कर वन में चला जाता है, वह जीव मोहगर्भित द्वेष कर रहा है। जीव ने इच्छा की तो लड्डू आदि पदार्थ आये और जीव ने उपवास किया, इसलिए आहार छूट गया वह इसप्रकार पर-पदार्थों को अपना मानकर अथवा उसकी क्रिया मेरे कारण होती है वह ऐसा मानकर परद्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता।

दृष्टिप्रधान कथन में कहा था कि उपाधिभाव तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं; अपितु निरुपाधि स्वभाव तेरा सच्चा स्वरूप है वह ऐसी द्रव्यदृष्टि करके जो श्रद्धा-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें दर्शन के साथ हुआ सम्यग्ज्ञान क्या स्वीकार करता है? वह ज्ञान ऐसा निश्चित करता है कि

जो प्रतिसमय विकार होता है, वह स्वयं के अपराध के कारण होता है; किसी संयोग, निमित्त अथवा कर्म के कारण नहीं होता। वैसे ही विकार है, इसलिए कर्म को आना पड़ेगा ह्व ऐसा भी नहीं है। गाथा-१८९ में व्यवहारनय के कथन में ऐसा कहा था कि आत्मा कर्म का ग्रहण-त्याग करता है। वह तो पर-पदार्थ के संयोग का ज्ञान कराने हेतु कहा था।

आचार्य भगवान कहते हैं कि गाथा १८९ में कहने का आशय ऐसा नहीं था कि निमित्त ने राग कराया है ह्व वहाँ ऐसी पराधीन दृष्टि नहीं करायी अथवा चेतन की क्रिया जड़ कर सकता है तथा जड़ की क्रिया चेतन कर सकता है ह्व ऐसा कहने का आशय नहीं था। वहाँ तो कहा था कि जो विकार तू करता है वह स्वभाव के लक्ष्य से नहीं हो होता। यदि विकार स्वभाव से होता हो तो विकार कभी टले ही नहीं, इसलिए विकार पर के लक्ष्य से होता है। वहाँ पर पदार्थ का ज्ञान कराने के लिए पर में आरोप करके कथन किया था। तथा निश्चयनय में यह आशय था कि कर्म अथवा पर-पदार्थ विकार नहीं कराता; किन्तु जीव स्वयं करता है तो होता है और नहीं करता तो नहीं होता ह्व ऐसी पर-द्रव्य की ओर से संयोगी बुद्धि छुड़ाने के लिए विकार को स्वतंत्र बताकर, उसके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंधरूप में कर्म का ज्ञान कराकर ह्व दोनों की स्वतंत्रता बतायी थी। विकार तुम्हारा है ह्व ऐसा कहकर, उसका लक्ष्य छोड़कर शुद्ध द्रव्य स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान कराना था। किन्तु निमित्त और संयोग को विकार का कारण न मान ले ह्व ऐसा वहाँ आशय था।

अज्ञानी जीव संयोगों के आधार से धर्म-अधर्म की कल्पना करके संसार में भ्रमण करता है। व्यवहारनय से कहते हैं कि 'देखो, निमित्त आया न? निमित्त तो है न? जब जीव मुनिपना अंगीकार करता है, तब बाहर की वस्तुएँ छूट जाती है। उसका कथन ऐसा करते हैं कि मुनियों ने स्त्री-कुटुंब आदि को छोड़कर मुनिपना अंगीकार किया। ऐसा कथन करने पर मोही जीव कहता है कि देखो, स्त्री-पुत्रादि को छोड़ने का कथन आया? उनको छोड़े बिना मुनिपना होता है क्या? भाई, मुनियों को

उसप्रकार का राग नहीं होने पर वे स्त्री-पुत्रादि के संयोग में भी नहीं रहते ह्व ऐसा संयोग का ज्ञान कराया था; किन्तु स्त्री-पुत्रों को छोड़ने से मुनिपना आया, यह बात कहाँ से आई? वे तो छूटे ही पड़े हैं। उनको जब ग्रहण ही नहीं किया तो छोड़ने की बात ही कहाँ रहती है? हमने तो स्वभाव के लक्ष्य से उनका राग छोड़ने का कथन किया था और वह राग छूटते ही उसके निमित्त का लक्ष्य छूट जाता है, तब उसने स्त्री-पुत्रों को छोड़ा ह्व ऐसा कहा जाता है। जब पर-पदार्थों तथा राग को छोड़ने की बात आवे, तब उसके बदले उन पदार्थों के ग्रहण-त्याग की बात करता है, वह तुझे व्यवहारनय का मोह हुआ है। अज्ञानी जीव मोह के वश हुआ है और मानता है कि मुझे राग हुआ है इसलिए वनस्पति (हरी सब्जी) खाने की क्रिया होती है और राग न हो तो मैं उसे छोड़ सकता हूँ। मुमुक्षु की भूमिका में तीव्र राग घटने पर मद्य-मांस-मधु आदि लेने का भाव ही नहीं होता, तब मोही जीव मानता है कि मैंने राग का त्याग किया इसलिए ये वस्तु मेरे से छूटी ह्व ऐसा वह मोह करता है। वह उन पदार्थों का आना-जाना स्वतंत्र न मानता हुआ स्वयं के राग के कारण उनकी पर्यायों को मैं पलटता हूँ ह्व ऐसा मानता है। वास्तव में स्वयं के वीतरागी स्वभाव के आश्रय से राग घटता है ह्व ऐसा न मानकर संयोगों से राग घटा अथवा बाह्य-वस्तुओं के कम होने से राग घटा ह्व ऐसा मानता है। वह जीव बड़ी भ्रान्ति में है, इससे उसका संसार भ्रमण नहीं मिटता।

हे भाई! विकारी परिणाम तू स्वतंत्र करता है ह्व ऐसा एकबार निश्चय तो कर! हमारे कथन का आशय बराबर समझना! मुनिपना अंगीकार करते समय शरीर की नग्न अवस्था स्वतंत्र होती है और बाह्य संयोग भिन्न-भिन्न क्षेत्र में दिखाई देते हैं वे छूट जाते हैं ह्व ऐसा तू ज्ञान कर; किन्तु वे तेरे वैराग्य से छूटे ऐसा मोह मत कर।

राग अथवा वैराग्य के परिणाम तू स्वतंत्र करता है ह्व ऐसा बताकर तुम्हारी पर्याय को स्वभाव की ओर ले जाते हैं; संयोग और निमित्त की ओर नहीं ले जाते। जब तक राग था तब तक लक्ष्मी रही और अब राग

छूटा इसलिए लक्ष्मी को छोड़ा हूँ ऐसे एकत्वबुद्धि के परिणाम मत कर! लक्ष्मी लक्ष्मी के कारण छूटी पड़ी है और तू अपने परिणाम का कर्ता स्वयं है हूँ ऐसा ज्ञान कर! स्वभाव के लक्ष्य से राग छूट जाता है और राग छूटने के निमित्त से पर-वस्तु, राज्यवैभव वस्त्र इत्यादि स्वयं के कारण छूट जाते हैं। वास्तव में वे छूटे ही पड़े हैं; किन्तु मुनिपने में वे संयोगरूप भी नहीं रहते अर्थात् मुनियों ने उन्हें छोड़ा हूँ ऐसा कथन करने में आता है।

निमित्त और संयोग अनंत होने पर भी वे सभी स्वतंत्र हैं। उनमें तुम्हें अपराध उत्पन्न कराने की सामर्थ्य नहीं हूँ ऐसा पर-पदार्थ से दूर हो और अपराध तुम्हारे कारण होता है हूँ ऐसा निश्चय कर। जब जीव के परिणाम स्वतंत्र हैं तो परिणामी आत्म पदार्थ भी स्वतंत्र है हूँ ऐसा हमारा कहने का आशय है।

व्यवहारनय एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में उपचार करता है हूँ ऐसा ज्ञान करने योग्य है; किन्तु उसका लक्ष्य छोड़ने योग्य है। यह ज्ञेय अधिकार है। यदि स्वज्ञेय परज्ञेय से हो और परज्ञेय स्वज्ञेय से हो तो दोनों स्वतंत्र नहीं रहते, इसलिए स्व और पर दोनों ज्ञेय स्वतंत्र हैं हूँ ऐसा दोनों नयों का कथन है।

इसप्रकार स्वज्ञेय तथा परज्ञेय का स्वतंत्रपने ज्ञान करके, विकार स्वयं से होता है हूँ ऐसा ज्ञान करके, त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिए और पश्चात् विशेष स्थिरता होने पर चारित्र की वीतरागी शुद्ध परिणति प्रगट करना चाहिए; किन्तु अज्ञानी जीव पर की क्रिया का कर्ता स्वयं को मानता है। पर-वस्तु के ग्रहण-त्याग में धर्म-अधर्म की कल्पना करता है। जब व्यवहार और निमित्त का कथन आता है तब उनसे ही कार्य होना मानता है। स्वयं के विकार को पराधीन मानता है, इसकारण पर से नहीं छूटता तथा स्वयं के शुद्ध-स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान नहीं कर सकता। उसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी वीतरागी मार्ग को दूर से छोड़ दिया है अर्थात् वीतरागी परिणाम प्राप्त नहीं कर पाया है। वह शुद्धमार्ग से भ्रष्ट हुआ है तथा निमित्त एवं संयोग में तल्लीन हुआ है।

इसप्रकार निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अर्थात् संयोगीदृष्टि से संसार की प्राप्ति होती है।

तीनों काल में अनंत पर-वस्तुओं का तुम्हारे में अभाव होने पर भी इनका मैंने अभाव किया है (छोड़ा है) हूँ यह मान्यता ही मिथ्या है। अज्ञानी जीव कहता है कि मैंने इतनी वस्तुओं का त्याग किया इसलिए धर्म हुआ। तो उससे ज्ञानी पुरुष पूँछते हैं कि तुमने किन वस्तुओं का त्याग किया ? तू मानता है कि संसार में रहने से त्याग नहीं होता और वन में जाये तो त्याग होता है। तो वन में जाकर किस वस्तु का त्याग करता है? वन में हो या नगर में हो, निगोद में हो कि सिद्ध में हो, योग्य काल हो अथवा नहीं हो, तुम्हारे में अनंत जीव एवं अनंत जड़ पदार्थों का तीनों काल अभाव वर्त रहा है। जो वस्तु तुमसे जुदी ही है, उसे मैं छोड़ता हूँ हूँ ऐसा माने तो यह मान्यता मिथ्या है। तू कहता है कि परद्रव्य का संपर्क छोड़ना चाहिए। तो पूँछते हैं कि किन-किन पर-द्रव्य का संपर्क था? अनादि काल से आज तक एक भी पर-द्रव्य के संपर्क में तू आया नहीं; फिर भी तू कहता है कि मैंने उनका संपर्क छोड़ा, यह मान्यता ही मिथ्या है। तुम अनादिकाल से पर-पदार्थ के संपर्क रहित हो। हाँ, इतना अवश्य है कि तू पर-पदार्थ का लक्ष्य छोड़ सकता है। यदि उस लक्ष्य का अभाव करना हो तो अनंत चेतन और जड़ पदार्थों से लक्ष्य हटाकर अपने ज्ञान स्वभाव पर दृष्टि कर। ऐसा करने पर विकार का नाश होता है और धर्मदशा प्रगट होती है।

इसप्रकार इस गाथा में आचार्य भगवान का कहने का आशय यह है कि जो जीव अशुद्धनय का कथन नहीं समझता और संयोग से लाभ-हानि मानता है, उसे अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। इसलिए हे जीव! तू ऐसा मिथ्या ज्ञान न करके पर-द्रव्य के ग्रहण-त्याग रहित अपने आत्मा की श्रद्धा ज्ञान कर तो तुझे धर्मदशा प्रगट होगी।

### प्रवचनसार गाथा १९१

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि शुद्धनय से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है :ह

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।

इदि जो झायदि झाणे सो अप्पा णं हवदि झादा।।१९१।।

( हरिगीत )

पर का नहीं ना मेरे पर मैं एक ही ज्ञानात्मा ।

जो ध्यान में इस भाँति ध्यावे है वही शुद्धात्मा ।।१९१।।

अन्वयार्थ :ह [ अहं परेषां न भवामि ] मैं पर का नहीं हूँ, [ परे मे न सन्ति ] पर मेरे नहीं हैं, [ ज्ञानम् अहम् एकः ] मैं एक ज्ञान हूँ [ इति यः ध्यायति ] इसप्रकार जो ध्यान करता है, [ सः ध्याता ] वह ध्याता [ ध्याने ] ध्यानकाल में [ आत्मा भवति ] आत्मा होता है ।

टीका :ह जो आत्मा, मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्य निरूपणात्मक (अशुद्धद्रव्य के निरूपण स्वरूप) व्यवहारनय में अविरोध रूप से मध्यस्थ रहकर, शुद्धद्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय के द्वारा जिसने मोह को दूर किया है ऐसा होता हुआ, 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं' इसप्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामी सम्बन्ध को छोड़कर, "शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ" इसप्रकार अनात्मा को छोड़कर, आत्मा को ही आत्मरूप से ग्रहण करके, परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण आत्मरूप ही एक अग्र में चिन्ता को रोकता है, वह एकाग्र-चिन्तानिरोधक (एक विषय में विचार को रोकने वाला आत्मा) उस एकाग्रचिन्ता-निरोध के समय वास्तव में शुद्धात्मा होता है । इससे निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है ।

### गाथा १९१ पर प्रवचन

स्वचतुष्टय में परचतुष्टय का और परचतुष्टय में स्वचतुष्टय का अभाव है । मैं आत्मा हूँ, अनन्त पदार्थ-कर्म, शरीर, कुटुंब, देव-गुरु इत्यादि मेरे

नहीं । मैं ज्ञानस्वरूप हूँ । मैं पर की क्रिया नहीं कर सकता तथा पर मेरे में कुछ नहीं कर सकता । पर-पदार्थ एकक्षेत्र में होने पर भी वे आत्मा को लाभ-नुकसान के कारण नहीं । 'द्रव्य' अर्थात् त्रिकाली कायम रहने वाली वस्तु, 'क्षेत्र' असंख्यात प्रदेश आत्मा का क्षेत्र काल अर्थात् समय-समय की अवस्था और भाव अर्थात् त्रिकाली शक्तियाँ ह आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि और पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि । प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वयं में हैं । स्व के चतुष्टय पर में नहीं और पर के चतुष्टय स्व में नहीं । जो वस्तु अभावरूप होती है, वह दूसरे को लाभ-हानि नहीं कर सकती ।

प्रश्न :ह मनुष्यभव से ही मोक्ष कैसे होता है, देवगति से क्यों नहीं?

उत्तर :ह ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करने से मोक्ष होता है, मनुष्य शरीर से नहीं । प्रथम तो जो बाहर में मनुष्य अथवा देव शरीर दिखाई देते हैं, वे मनुष्यगति अथवा देवगति नहीं, वे तो जड़ की पर्यायें हैं । उनका आत्मा में अभाव है, इसलिए किसी भी शरीर से जीव को मोक्ष नहीं होता । वास्तव में आत्मा की देवरूप वर्तमान पर्याय की योग्यता ही हीन पुरुषार्थवाली है, इसकारण उससे मोक्ष नहीं होता, अन्य कोई कारण नहीं तथा मनुष्यरूपी आत्मा की पर्याय में भी जो जीव पुरुषार्थ करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है । जीव को अनेकबार मनुष्यपर्याय मिली है; फिर भी मोक्ष नहीं हुआ । जो जीव ऐसा निर्णय करता है कि मैं शरीर से भिन्न हूँ, विकल्प मेरा स्वरूप नहीं, मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ, वह जीव स्वभाव में एकाग्र होकर मोक्ष प्राप्त करता है, तब उस जीव ने मनुष्यपर्याय से मोक्ष प्राप्त किया ह ऐसा कहने में आता है ।

प्रश्न :ह व्यवहारनय में अविरोधपने मध्यस्थ रहना कैसे हो?

उत्तर :ह अशुद्ध द्रव्य निरूपणात्मक व्यवहारनय एकद्रव्य के परिणाम को दूसरे में आरोपित करता है । जब कोई जीव बाह्य-परिग्रह छोड़कर शरीर की नग्न अवस्था करके मुनिपना धारण करता है, तो विवेकी जीव उसका ऐसा अर्थ करता है कि यह जीव सहज स्वरूप में विशेष लीन हुआ

तब मुनिपने का पुरुषार्थ हुआ और शरीर की नग्नदशा हुई; किन्तु आत्मा शरीर की नग्न अवस्था का कर्ता नहीं है। केवलज्ञान की उत्पत्ति के काल में उत्तम संहनन होता है, उसका ज्ञान मात्र कराया है; किन्तु संहनन के कारण केवलज्ञान नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य का द्रव्य-क्षेत्र और भाव त्रिकाल है, उसका काल अर्थात् पर्याय प्रतिसमय होती है। निगोद से लेकर सिद्धपर्यंत जीव तथा एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध तक के पुद्गल हूँ इसप्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं के द्रव्य-क्षेत्र और भाव से त्रिकाल है और उसका काल अर्थात् पर्याय (परिणमन) स्वयं के द्रव्य के कारण होती है। वह पर के द्रव्य, क्षेत्र और भाव के आधीन नहीं। वह विवेकी व्यवहारनय के कथन को समझता है और व्यवहारनय में मध्यस्थपने रहता है। दूसरी अनंत वस्तुयें भले ही हों, वे मुझे लाभ-हानि नहीं करा सकतीं, उनका मैं ज्ञाता ही हूँ, इसका नाम मध्यस्थपना है।

निश्चयनय को अंगीकार करने वाला जीव जब ज्ञायक स्वभाव की ओर झुकता है तो उसका मोह दूर हो जाता है। शुद्ध द्रव्य का निरूपण करनेवाला निश्चयनय बताता है कि जीव में उत्पन्न हुए विकारी परिणाम जीव के हैं। वे परिणाम किसी कर्म अथवा परद्रव्य ने नहीं कराये। 'शुद्ध द्रव्य' का अर्थ यहाँ 'पर से भिन्न' ऐसा लेना चाहिए। मैं पर के अभाव स्वभावरूप हूँ और विकार मेरे कारण होता है हूँ ऐसा जाननेवाला जीव मोह को दूर करता है।

**प्रश्न :**हूँ विकार को अपना माननेवाला जीव विकार को कैसे दूर करे?

**उत्तर :**हूँ भाई, यहाँ ज्ञान प्रधान कथन है। पहले परद्रव्य से स्वयं को भिन्न माने बिना स्व की तरफ कैसे बढ़ेगा? अर्थात् नहीं बढ़ सकता। पहले जीव पर चतुष्टय से लाभ-हानि मानता था, देव-गुरु के कारण समकित मानता था, अब निश्चयनय के निरूपण से दृष्टि पर से हटकर स्व-सन्मुख होती है। पर-पदार्थ पर के कारण है, मेरा और उनका कोई संबंध नहीं। मैं शरीरादि की क्रिया का कर्ता नहीं हूँ; क्योंकि शरीरादि

अपने चतुष्टय में हैं, मैं अपने चतुष्टय में हूँ; इसलिए वे मेरे नहीं।

यहाँ द्रव्य की बात नहीं; किन्तु वर्तमान समय की बात है। द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो स्वज्ञेय और परज्ञेय में त्रिकाल हैं; किन्तु उनका समय-समय का काल अर्थात् वर्तमान अवस्था उन-उन पदार्थों के कारण है, पर के कारण नहीं। मालिक के पदार्थ तथा मालिक के बीच स्व-स्वामी संबंध कहने में आता है हूँ यहाँ ऐसे स्व-स्वामी संबंध को तोड़ दिया है अर्थात् दोनों के बीच कोई संबंध नहीं हूँ ऐसा बताया है। मेरा स्वामीपना पर में नहीं हो सकता तथा पर का स्वामीपना मेरे में नहीं हो सकता, ऐसा जो निश्चय करता है, उसका मोह नष्ट हो जाता है।

**प्रश्न :**हूँ 'मोह दूर किया' ऐसा कहने का क्या तात्पर्य है?

**उत्तर :**हूँ जिस समय मोह उत्पन्न हुआ, उस समय उसे दूर करना शक्य नहीं; किन्तु पर के कारण विकारी नहीं होता ऐसा निश्चय किया जा सकता है। जब पर के स्वामीपने से दूर होता है और स्व की तरफ बढ़ता है तथा स्वयं के द्रव्य-गुण का ज्ञान करता है और विचारता है कि द्रव्य-गुण तो शुद्ध हैं, विकारी पर्याय उपाधि है; फिर ऐसे उपाधिभाव से लक्ष्य उठाकर स्वज्ञायक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे तो मोह उत्पन्न ही नहीं होता, उसने 'मोह दूर किया' ऐसा कहा जाता है।

परद्रव्य, क्षेत्रादि से धर्म होगा ऐसा माननेवाला जैनसम्प्रदाय में होने पर भी अन्यमति-मिथ्यादृष्टि ही है। कोई कहे कि मनुष्यगति हो तो धर्म होता है, संहनन अच्छा हो तो केवलज्ञान होता है, चौथाकाल और अच्छा क्षेत्र हो तो धर्म जल्दी होता है हूँ यह पराधीन दृष्टि है। ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञान अथवा धर्म की पर्याय जीव की है। यदि वह पर्याय परक्षेत्र और पर शरीर के आधीन हो तो जीव का स्वामी पर हो जाये। प्रत्येक पर्याय वर्तमान सत् है; फिर भी यदि कोई एक समय की पर्याय को पराधीन माने तो उसके द्रव्य-गुण भी पराधीन मानना पड़ेंगे और उससे द्रव्य के नाश का प्रसंग आयेगा। इससे स्वज्ञेय तथा परज्ञेयों की स्वतंत्रता भी नहीं रहती। जैसे विष्णु मत जगत का कर्ता ईश्वर

को मानता है, वैसे ही जैन नाम धराकर स्वयं की पर्याय पर से माने, वह स्वयं का नाश मानता है, दोनों ही मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ तो आचार्य भगवान ने अनेकान्त से कथन किया है। मैं मेरे से हूँ पर से नहीं। अनात्मा अर्थात् पर तरफ की एकत्वबुद्धि। निमित्त से लाभ मानना अनात्मबुद्धि है इसलिये उसको छोड़कर मैं ज्ञानस्वभावी हूँ हूँ ऐसा आत्मा को आत्मपने ग्रहण करना चाहिए। पर से जुदा एक में अग्र होना चाहिए हूँ ऐसा आचार्य ने अस्ति-नास्ति से कथन किया है। यहाँ पाठ है कि 'स्व-स्वामी संबंध को छोड़ दिया' जैसे कपड़े में धूल भरी हो और झटकार दें, वैसे ही मिथ्यादृष्टिपने में जीव पर की पर्याय का स्वामी था, वह भ्रान्ति टाली है। देव-गुरु-शास्त्र की पर्याय उनमें है और मेरी पर्याय के वे स्वामी नहीं तथा शरीरादि पर्याय का आत्मा स्वामी नहीं हूँ इसप्रकार से मिथ्यात्वरूपी धूल को छोड़ दिया है। वहीं संसार पर-पदार्थ में नहीं, वह तो उदयभाव है; इसलिए स्वतत्त्व है। जैसे संसार पर में नहीं, वैसे ही संसार स्वयं के द्रव्यगुण में नहीं, एक समय की पर्याय में है। ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करने पर मिथ्यात्व का व्यय होकर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत् है, उसमें उत्पाद का पहला समय, व्यय का दूसरा समय तथा ध्रुव का तीसरा समय हूँ ऐसा नहीं है; तीनों एक समय में हैं। जो उत्पाद है वह स्वयं से होता है, पर से नहीं हो सकता। जो जीव विकार का उत्पाद पर से मानता है, वह उत्पाद को नहीं मानता। गुण की विशेष पर्याय है। जो पर्याय को स्वतंत्र नहीं मानता, वह द्रव्य-गुण को भी स्वतंत्र नहीं मानता। जो जीव ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय का अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की स्वतंत्रता का ज्ञान करता है, वह जीव अनात्मबुद्धि छोड़कर आत्मबुद्धि ग्रहण करता है।

जो जीव "मैं ज्ञानमात्र हूँ" ऐसा निर्णय करके स्वभाव में एकाग्र होता है, उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। धर्मी जीव स्वभावबुद्धि करता है। वह मानता है कि मैं तो एक शुद्ध ज्ञान ही हूँ। यहाँ एक मात्र ज्ञानगुण ही नहीं लेना बल्कि ऐसा मानना कि ज्ञान, दर्शन आदि अनंत गुणों का

पिण्डमात्र मैं हूँ, शुद्ध चैतन्य सत्ता मैं हूँ, पर सत्ता का मेरे में अभाव है। यहाँ द्रव्यदृष्टि के जोर में अशुद्धता को गौण करके 'शुद्ध ज्ञान ही' ऐसा कहा, उसे परिपूर्ण केवलज्ञान नहीं समझना। अशुद्धता अथवा अधूरापन आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं तथा अनेक प्रकार के पदार्थ मैं नहीं, अनेक प्रकार की राग-द्वेष की वृत्ति मैं नहीं; मैं तो चैतन्यस्वभावी एक हूँ हूँ ऐसी दृष्टि करने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। तथा उसके अंशों में तारतम्यता होने से वह पर्याय आत्मा के साथ अभेद होती है; इसलिए शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ हूँ ऐसा अस्ति से कहा है। तथा जो नव तत्त्व हैं, उनको जानने वाला ज्ञानस्वभाव एक मैं हूँ। इसप्रकार जो निज को पर पदार्थों से जुदा करके आत्मा को आत्मपने ग्रहण करके आत्मा को ध्याता है, वह सम्यग्दर्शन तथा धर्म प्रगट करता है।

स्वभाव की रुचि होने पर पुण्य की तथा संयोग की रुचि छूट जाती है। पर-पदार्थ तो आत्मा में अभावस्वरूप हैं, अतः उनका अभाव करने की जरूरत नहीं है। अभावरूप वस्तु का अभाव कर सकता हूँ हूँ ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। यह जीव पर का नहीं; किन्तु पर तरफ की एकत्वबुद्धि का अभाव कर सकता है। मैं ज्ञानस्वभावी एक हूँ हूँ ऐसी रुचि करने पर पुण्य-पाप की रुचि छूट जाती है। पुण्य-पाप की रुचि अथवा पर से धर्म मानना अनात्मपना है। स्वभाव की रुचि होने पर विकार की रुचि छूट जाती है, तब ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने विकार को छोड़ा पर-द्रव्य की रुचि छोड़ी, उसे पर द्रव्य से भिन्न किया ऐसा कहा जाता है। पर द्रव्य तो भिन्न ही है; किन्तु उसका लक्ष्य छूटने पर ऐसा कहने में आता है।

इसप्रकार शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा को ध्याना उसमें एकाग्र होना, ही सम्यग्दर्शन रूपी ध्यान है और वही धर्म है।

स्वभाव को अग्र करके ध्यान करना ही शुद्धात्मा की प्राप्ति का कारण है। यहाँ धर्मी जीव का भाव कैसा होता है, ध्यान कैसा होता है? उसकी बात करते हैं। प्रथम तो वह पर पदार्थ की रुचि छोड़ता है। पर-पदार्थ, निमित्त, कर्म तथा विकार के साथ स्वस्वामी संबंधपना नहीं

मानता। पुण्य-पाप रहित आत्मा को आत्मपने ग्रहण करता है। परद्रव्य की ओर लक्ष्य नहीं देता। पर-पदार्थ, विकार इत्यादि को गौण करके, एक आत्मा को अग्र करके उसमें उपयोग को लगाकर उसमें लीन होना ही ध्यान है।

पर-पदार्थ, क्षेत्र, संहनन, देव-गुरु-शास्त्र आत्मा को लाभ-हानि के कारण नहीं, पाँच महाव्रतादि के परिणाम विकार हैं, उनकी दृष्टि छोड़कर स्व में लीन होना ही शुद्धात्मा है। पर-सन्मुख दृष्टिवाले को शुद्धात्मा नहीं कहा।

इसलिए शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है अर्थात् धर्म होता है।

### चौरासी के फेर से बचा ले

दिन-प्रतिदिन बननेवाले देहविलय के क्षणभंगुर प्रसंग सुनकर वैराग्य भरे शब्दों में पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं। हे भाई! यह देह तो क्षणभर में छूट जाएगी। देह का संयोग तो वियोगजनित ही है। जिस समय आयु पूर्ण होना हो उस समय करोड़ों उपाय भी तुझे नहीं बचा सकते। तू लाखों-करोड़ों रुपये खर्च कर ले, चाहे तो विलायत से डॉक्टर बुला ले; परन्तु यह सब छोड़कर तुझे जाना पड़ेगा। देहविलय की ऐसी स्थिति जानकर, तू ऐसी स्थिति आने के पहले ही चेत जा। अपने आत्मा को चौरासी के फेरे में से बचा ले। आँखें मिचने के पहले ही जागृत हो जा। आँखें मिचने के बाद तू कहाँ जाएगा? इसकी तुझे खबर है! वहाँ तेरा भाव पूछने वाला कौन होगा? इसलिये 'लोग ऐसा कहेंगे, समाज ऐसा कहेगा' हूँ ऐसे मोह के भ्रमजाल में फँसकर अपने आत्मा को क्यों दुःखी कर रहा है?

हूँ दृष्टि का निधान, पृष्ठ-५९-६०

### प्रवचनसार गाथा १९२

अब ऐसा उपदेश देते हैं कि ध्रुवत्व के कारण शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य हैं :ह

एवं गाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।

ध्रुवम चलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं॥१९२॥

( हरिगीत )

इसतरह मैं आतमा को ज्ञानमय दर्शनमयी।

ध्रुव अचल अवलंबन रहित इन्द्रियरहित शुध मानता॥१९२॥

अन्वयार्थ :हूँ [ अहम् ] मैं [ आत्मकं ] आत्मा को [ एवं ] इसप्रकार [ ज्ञानात्मानं ] ज्ञानात्मक, [ दर्शनभूतम् ] दर्शनभूत, [ अतीन्द्रियमहार्थं ] अतीन्द्रिय महा पदार्थ [ ध्रुवम् ] ध्रुव, [ अचलम् ] अचल, [ अनालम्बं ] निरालम्ब और [ शुद्धम् ] शुद्ध [ मन्ये ] मानता हूँ।

टीका :हूँ शुद्धात्मा सत् और अहेतुक होने से अनादि-अनन्त और स्वतःसिद्ध है, इसलिये आत्मा के शुद्धात्मा ही ध्रुव है, (उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है। आत्मा शुद्ध इसलिये है कि उसे परद्रव्य से विभाग (भिन्नत्व) और स्वधर्म से अविभाग है इसलिये एकत्व है। वह एकत्व आत्मा के (१) ज्ञानात्मकपने के कारण, (२) दर्शनभूतपने के कारण, (३) अतीन्द्रिय महापदार्थपने के कारण, (४) अचलपने के कारण और (५) निरालम्बपने के कारण है।

### गाथा १९२ पर प्रवचन

शुद्ध आत्मा सत् और अहेतुक है, उसे दूसरे पदार्थ की जरूरत नहीं। यदि आत्मा को किसी ने बनाया हो तो उसकी नित्यता नहीं रहती और जो नित्य है, उसकी शुरुआत नहीं हो सकती। शुरुआत समय-समय की पर्याय की अपेक्षा कहने में आती है। और अनादि की अपेक्षा लेने पर पर्याय की भी शुरुआत नहीं। कोई भी पर्याय पहले बाद में नहीं होती। द्रव्य अर्थात् सामान्य और पर्याय अर्थात् विशेष। सामान्य और विशेष

एक साथ होते हैं, आगे-पीछे नहीं होते। द्रव्य भी अनादि से हैं और पर्याय भी अनादि से है; किन्तु पर्याय वर्तमान की अपेक्षा सादि कही जाती है। वर्तमान की अपेक्षा विकार का आदि और अंत होता है; किन्तु द्रव्य में आदि की अपेक्षा भी लागू नहीं पड़ती। शुद्धचैतन्यतत्त्व अनादि-अनंत है। वह स्वयं से है, अन्य के कारण नहीं। उसे कोई बनानेवाला नहीं; इसलिए आत्मा अनादि-अनंत स्वतः सिद्ध पदार्थ है।

शुद्धात्मा ही ध्रुव है, इसलिए वही एक शरण लेने योग्य है।

१. कुटुंब, पैसा, देव-गुरु-शास्त्र, शरीर, कर्म इत्यादि इस आत्मा की अपेक्षा ध्रुव नहीं। संयोग पलट जाता है, इसलिए वह अध्रुव है, उनकी शरण लेने से धर्म नहीं होता।

२. शुभाशुभ भाव प्रतिसमय होते हैं; वे अध्रुव हैं। विकल्प भी शरणभूत नहीं। व्यवहार रत्नत्रय भी अध्रुव है; इसलिए उसके आश्रय से भी धर्म नहीं होता।

३. नित्य, स्वतःसिद्ध, अकारणीय आत्मा ही ध्रुव है, अन्य कोई ध्रुव नहीं। वह ध्रुव आत्मा ही एक शरण लेने योग्य है।

**प्रश्न :** ह्व जीव, ध्रुव की दृष्टि क्यों नहीं करता?

**उत्तर :** ह्व जीव स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता; इसलिए ध्रुव की रुचि नहीं होती। यदि ध्रुव की रुचि करे तो अध्रुव की रुचि टले। अज्ञानदशा में जीव प्रतिक्षण निमित्त की तथा विकार की नई रुचि करता है। वह जीव पर सन्मुख दृष्टि को छोड़कर स्व-सन्मुख दृष्टि करे तो हो सकती है। नरक अथवा निगोद में है; इसलिए स्वभाव दृष्टि नहीं करता ह्व ऐसा नहीं। स्वयं के अज्ञान के कारण निमित्त की रुचिवाला जीव प्रतिसमय नई-नई विकारी पर्याय करता है, वह अनित्य है, दुःखदायक है। यदि आकुलता टालनी हो तो उसकी (निमित्त की) रुचि छोड़ना चाहिए और स्व की रुचि करना चाहिए।

अज्ञानी जीव कहता है कि अमुक को जीवन जीना नहीं आता, शरीरादि का ध्यान रखना नहीं आता; किन्तु मुझे बराबर जीवन जीना

आता है, शरीर को तंदुरुस्त रखना आता है ह्व ऐसा वह अहंकार करता है। पर भाई! अहंकार न कर! तेरी पर्याय के काल में जब शरीर दूर होने लगेगा तब उसे बचाने में इन्द्र, नरेन्द्र, वैद्य, डॉक्टर कोई भी समर्थ नहीं। शरीर चला जायेगा, दूसरे क्षण में बदल जायेगा, तू उसका क्या अभिमान करता है? वे संयोग किसी और के हैं कि तुम्हारे हैं? पुद्गल के कारण उनका फेरफार हुआ है; किन्तु तुम्हारे कारण नहीं। जब तक तू शरीर को देखता रहेगा तब तक तेरा स्वयं निर्णय कभी नहीं होगा।

शुभाशुभ भाव पलटते रहते हैं, वे आश्रय करने योग्य नहीं। आत्मा में दया-दानादि के परिणाम होते हैं, वे शुभ हैं और काम-क्रोधादि के परिणाम अशुभ हैं। दोनों अशुद्ध हैं। वे आत्मा की पर्याय में होने पर भी दुःखदायी हैं। उनकी दृष्टि माने अध्रुव की दृष्टि जिसप्रकार वाहन में से नीचे उतरना हो तो जमीन पर पैर रखकर वाहन से पैर उठाते हैं; उसीप्रकार आत्मा शुद्ध, ध्रुव एकरूप जमीन जैसी है, उसकी दृष्टि करके, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके शुभाशुभभाव और शरीर इत्यादि संयोगों से दृष्टि उठाये तो सच्ची दृष्टि होगी। शुभाशुभ भाव पलटते रहते हैं; इसलिए वे शरणभूत नहीं। ध्रुव आत्मा ही एक शरणभूत है।

ध्रुव स्वभाव के ज्ञान बिना अकेला पर-प्रकाशक ज्ञान मिथ्या है। तेरी दृष्टि राग को दूर करने पर है तो वह दृष्टि भी पर्यायदृष्टि है। उससे धर्म नहीं होता। पर की तरफ लक्ष्य वाला पर-प्रकाशक ज्ञान भी मिथ्या है। यदि ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे तो साधकदशा में होनेवाला पर-प्रकाशक ज्ञान भी सच्चा ठहरता है।

आत्मा ध्रुव, शुद्ध, चैतन्य है ह्व ऐसी दृष्टि होने पर जो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान खिला, उसमें शरीर तथा संयोग का ज्ञान है, वह ज्ञान सच्चा है; किन्तु पर के साथ तन्मय हुआ एकत्वबुद्धि सहित अकेला पर-प्रकाशक ज्ञान मिथ्या है।

यहाँ तो शुद्ध द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान कराते हैं। कोई भी काल हो, कोई भी संयोग हो, सम्मेद शिखर हो या शत्रुंजय हो, सातवें नरक की पृथ्वी हो



या नौवां ग्रैवेयक हो, चौथा काल हो या पंचम काल हो, कोई शरणभूत नहीं है। क्षणिक पदार्थों की श्रद्धा करने से धर्म नहीं होता। मात्र ध्रुव आत्मा का भजन करने से धर्म होता है।

१. पर-पदार्थ, शास्त्र, मूर्ति इत्यादि जड़ हैं, उनके भजन से धर्म नहीं होता; क्योंकि ध्रुव आत्मा की अपेक्षा वे सभी अध्रुव हैं।

२. सच्चे देव-गुरु चेतन पर हैं; वे भी ध्रुव आत्मा की अपेक्षा अध्रुव हैं, इसलिए उनके भजन से धर्म नहीं होता।

३. पुण्य-पाप के भाव क्षणिक हैं, पलटते रहते हैं, अध्रुव हैं, उनका भजन करने से भी धर्म नहीं होता।

४. एक समय की निर्मल पर्याय क्षणिक है, पलटती है। पर्याय में से पर्याय नहीं आती, इसलिए उसका भजन करने से धर्म नहीं होता।

५. तेरा शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है, उसका भजन करने से अर्थात् उसमें एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म प्रगटता है। जब जीव स्वयं में शुद्ध स्वभाव के भान सहित निश्चय भक्ति करता है, तब देव-गुरु की भक्ति व्यवहार नाम पाती है। सम्यग्दर्शन ही निश्चय भक्ति है।

जिसप्रकार अक्षर ज्ञान बिना नाम नहीं लिखा जा सकता, उसीप्रकार आत्मा के ज्ञान बिना धर्म नहीं होता। कोई कहता है कि मैंने नाम लिखना नहीं सीखा, अक्षरज्ञान नहीं सीखा; किन्तु नाम लिखना है और व्यापार करना है, तो वह कैसे हो सकता है? उसीप्रकार कोई कहे कि हमने तो (वस्तुस्वरूप) कुछ नहीं समझा, समझने की जरूरत भी कहाँ है? हम मात्र व्रत और तप ही करें तो? उससे कहते हैं कि भाई! समझे बिना तेरे ज्ञान का दिवाला निकल जायेगा अर्थात् तेरा ज्ञान खत्म हो जायेगा। यहाँ तो शुद्ध आत्मा कैसा है? उसका श्रद्धान-ज्ञान कराते हैं; पहले उसका सच्चा श्रद्धान-ज्ञान तो कर!

आत्मा का परद्रव्य से विभाग और स्वधर्म से अविभाग होने के कारण एकपना है। उसका एकपना पाँच कारणों से हैं ह

१. आत्मा ज्ञानस्वभावी है, राग और पर को करना उसका स्वरूप नहीं, इसलिए एक है।

२. आत्मा दर्शनस्वभावी है, इसलिए एक है।

३. आत्मा इन्द्रियों के अवलंबन बिना जानता है; इसलिए अतीन्द्रिय महापदार्थपने के कारण एक है।

४. दूसरे पदार्थ चलायमान हैं, शुभाशुभ भाव भी चल हैं। आत्मा एक अचल है, इसलिए अचलपने के कारण एक है।

५. निमित्तों का अवलंबन नहीं, इसलिए निरालंबनपने के कारण एक है।

आत्मा एकपने के कारण शुद्ध है। पर तरफ के लक्ष्यवाली अनेकता होने पर भी आत्मा में अनेकता नहीं आती। वहीं शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से प्रगट हुई निर्मल पर्याय अनेक प्रकार की तारतम्यता वाली होने पर भी आत्मा के साथ अभेद होती है; इसकारण आत्मा एक है। यहाँ जो आत्मा को शुद्ध कह रहे हैं, वह अकेले शुद्धद्रव्य सामान्य की बात नहीं है। यहाँ परद्रव्य से जुदापना और स्वधर्म से एकपना कहा, वह कथनपद्धति मात्र है, उसमें कालभेद नहीं। वह जिससमय स्वभाव में स्थित है, उसीसमय पर लक्ष्य से जुदा है। आत्मा एक है, इसलिए शुद्ध है और वही ध्रुव है। ध्रुव आत्मा ही शरणभूत है, उससे ही धर्म प्रगट होता है।

**प्रश्न** ह्व गृहस्थाश्रम में फँसे हैं तो क्या करें?

**उत्तर** ह्व भाई! तेरी मान्यता ही मिथ्या है। किसी पर-पदार्थ ने तुझे फँसाया नहीं। तू कहता है कि इस चीज के बिना मेरा बिल्कुल नहीं चलता, यह मान्यता भी मिथ्या है।

१. तू जगत के अनंत पर पदार्थ के बिना ही चलता है। यदि पर-पदार्थ के कारण तू चलता हो तो जब उनका अस्तित्व खत्म हो तब तुम्हारा भी अस्तित्व नहीं रहना चाहिए, किन्तु रहता है; अतः अनंतपदार्थों से भिन्न तेरा अस्तित्व है।

२. हाँ, इतनी बात बराबर है कि तूने अपनी एक समय की अवस्था में जो मान्यता की है कि पर-पदार्थ के बिना मेरा नहीं चलता ह्व ऐसी मिथ्या

मान्यता के बिना तू नहीं चलता। तथा अनुकूल पदार्थों की तरफ के राग बिना और प्रतिकूल पदार्थों की तरफ के द्वेष बिना तेरा नहीं चलता। इस कारण प्रवाहरूप संसार चालू रहता है। किन्तु वह पर्याय एक समय की है, दूसरे समय नवीन करता है तो होती है। यदि सच्ची समझ करे और मिथ्या मान्यता न करे तो नहीं होती। वास्तव में तेरी पर्याय पर-पदार्थ के बिना ही चलती है; मिथ्या मान्यता से नहीं चलती।

३. मोह-राग-द्वेष पर्याय में होने पर भी तेरा द्रव्य तो शुद्ध ही पड़ा है। वह द्रव्य तो अनादि काल से आज तक पर-पदार्थ के बिना तथा मिथ्या मान्यता बिना ही चल रहा है।
४. पर-पदार्थ तथा शुभाशुभ भाव के बिना मेरा नहीं चलता हूँ ऐसी मान्यता को छोड़ और शुद्ध ध्रुव आत्मद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान कर।
५. पर-पदार्थ का अभाव नहीं कराना है हूँ ऐसा निश्चित करके पर-पदार्थ तथा राग-द्वेष के बिना नहीं चलता हूँ ऐसी मिथ्या मान्यता का शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से अभाव करे तो राग की भूमिका होने पर भी सम्यग्दर्शन प्रगट होगा।
६. शुभाशुभ भाव के बिना नहीं चलता हूँ ऐसी उल्टी मान्यता का अभाव होने पर शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से विकार की अस्थिरता का भी अभाव करे तो चारित्र प्रगट होगा और क्रम-क्रम से वीतरागदशा होगी।
७. योग की अशुद्धता का अभाव करे तो अयोगीपना प्रगट होगा और सिद्धदशा की प्राप्ति होगी।

इसप्रकार ध्रुव शुद्धद्रव्य का निर्णय करने से समकित तथा चारित्र प्रगट होगा पश्चात् मोक्ष प्रगट होगा।

सम्यग्दर्शन का विषय स्वज्ञेय आत्मा कैसा है? किस ज्ञेय के अवलंबन करने से धर्म होता है? अब उसकी बात करते हैं। आत्मा ज्ञानात्मकपने के कारण, दर्शनभूतपने के कारण, अतीन्द्रिय महापदार्थपने के कारण, अचलपने के कारण और निरालंबनपने के कारण एक है। एकपने के

कारण आत्मा शुद्ध है और शुद्धता ही ध्रुव है। ध्रुव आत्मा सम्यग्दर्शन का ध्येय है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। इसलिए ध्रुव आत्मा ही अनुभव करने योग्य है। स्त्री, कुटुंब तथा पैसा आत्मा को शरणभूत नहीं, देव-गुरु-शास्त्र भी शरणभूत नहीं, इसलिए उनका अवलंबन छोड़कर, स्वपदार्थ का अवलंबन करके आत्मा के साथ एकत्व का अनुभव करना मोक्षमार्ग है। पर से भिन्न होकर स्व में एकाग्र होना ही शुद्धता है और वही ध्रुव है तथा ध्रुव आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

**आत्मा को ज्ञानात्मकपने तथा दर्शनभूतपने के कारण एकपना है।** आत्मा स्वयं ही स्वयं में अपने ज्ञान-दर्शन को धारण करता है। देव-गुरु-शास्त्र पर-पदार्थ हैं, वे ज्ञान-दर्शन से अतन्मय हैं; इसलिए उनको देखने से ज्ञान-दर्शन प्रगट नहीं होते; किन्तु आत्मा में ज्ञान-दर्शन स्वयं से हैं; इसकारण वे प्रगट होते हैं। केवलज्ञानी के ज्ञान-दर्शन उनमें स्वयं में हैं। मेरे ज्ञान-दर्शन केवली भगवान में तन्मय नहीं; इसलिए पंचपरमेष्ठी से लेकर निगोद तक के जीवों में तथा एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध तक के जड़ पदार्थों में मेरे ज्ञान-दर्शन नहीं। मैं अपने स्वधर्म ज्ञान-दर्शन आदि गुणों से भिन्न नहीं; किन्तु मैं अनंत पदार्थों से भिन्न हूँ, इसकारण मुझे एकपना है।

**प्रश्न हूँ अर्हत, सिद्ध, साधु और केवली द्वारा प्ररूपित धर्म हूँ इन चार की शरण आत्मा लेता है हूँ ऐसा शास्त्र में पाठ आता है न?**

**उत्तर हूँ** ये सब व्यवहार कथन है। पर-पदार्थ शरणभूत नहीं होते। आत्मा में पंचपरमेष्ठी का अभाव है। आत्मा का ज्ञान उनके आधार से प्रगट नहीं होता हूँ ऐसा समझकर जो जीव स्वयं के चैतन्य भगवान की शरण लेता है, उसे स्वयं में धर्म की पर्याय प्रगट होती है और तब उसने पंच परमेष्ठी की शरण ली हूँ ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

**प्रश्न हूँ** फिर मंदिरादि किसलिये बनाये?

**उत्तर हूँ** साधकदशा में जब जीव को शुभराग की वृत्ति उठती है, तब उसका लक्ष्य परद्रव्य पर जाता है; किन्तु वे पर-द्रव्य जीव को आधार

नहीं होते। आधार और आधेय स्वयं में है। पर के आधार से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। स्वयं के गुण स्वयं से तन्मय हैं, गुण-गुणी तन्मय हैं, वे पर में तन्मय नहीं। केवली भगवान से मेरे गुण अतन्मय हैं; इसलिए पर के आधार से समकित नहीं होता। आत्मा का स्व ज्ञान-दर्शनभूत पदार्थ के साथ एकपना है, इस कारण वह शुद्ध है और शुद्ध होने से ध्रुव है, उसकी शरण से समकित होता है।

यहाँ ज्ञान-प्रधान कथन है। स्वद्रव्य और परद्रव्य की भिन्नता का स्पष्टीकरण करते हुए इस अधिकार में जड़ तथा अन्य चेतन-पदार्थ पर कहे हैं; किन्तु विकार को यहाँ पर में नहीं लेना है। यहाँ निश्चयनय से विकारी पर्याय सहित आत्मा को स्व कहा है। इसप्रकार बराबर अर्थ समझने से परद्रव्य की रुचि छूट जाती है तथा स्व की ओर लक्ष्य बढ़ता है, तब विकार भी गौण हो जाता है। स्वद्रव्य की तरफ देखने से निज शुद्ध गुणों पर लक्ष्य होता है और विकार की दृष्टि छूट जाती है। पहले जो अनेक निमित्तों के आश्रय से विकार की अनेकता उत्पन्न हुई थी, अब वह स्व के आश्रय से छूटी और एकपना उत्पन्न हुआ। यह जीव पर पदार्थ से जुदा होने पर विकार-रहित होता है। ऐसा ज्ञान-प्रधान से अर्थ समझना चाहिए।

**अतीन्द्रिय महापदार्थपने के कारण आत्मा को एकपना है।** प्रत्येक इन्द्रिय स्वयं के नियत विषय को जानती है। जैसे स्पर्शोन्द्रिय स्पर्श को, रसनेन्द्रिय रस को आदि क्रमशः समझना। जब भावेन्द्रिय ऐसे एक-एक विषय को क्रमसर जानती है, तब उस समय खण्ड-खण्ड भावेन्द्रिय पर लक्ष्य जाने से विकार की अनेकता उत्पन्न होती है। खण्ड-खण्ड ज्ञान आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं। आत्मा समस्त स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्याय को एकसाथ जाननेवाला महापदार्थ है। आत्मा जड़ इन्द्रियों से जुदा है; किन्तु पर-पदार्थों संबंधी ज्ञान से जुदा नहीं; इसलिए उसके एकपना है।

परज्ञेयों के अवलंबन से राग की अनेकता होती है और स्वज्ञेय के

अवलंबन से एकता होती है। जड़ इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषय परज्ञेय हैं, उनके आधार से ज्ञान नहीं होता; अपितु परज्ञेयों का अवलंबन लेने पर ज्ञान में खण्ड-खण्डपना होता है। इन्द्रियों के लक्ष्य से ज्ञान की खण्ड-खण्ड पर्याय होती है, वह पर्यायरूप पदार्थ है; किन्तु महापदार्थ नहीं। एक आत्मा ही अतीन्द्रिय महापदार्थ है; क्योंकि आत्मा के आश्रय से ही आत्मा का ज्ञान प्रगट होने पर आत्मा के साथ ही एकपना होता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों की तरफ का ज्ञान असत् है, क्षणिक है, उसके अवलंबन से सम्यग्दर्शन नहीं होता। पर-पदार्थ के अवलंबन से अथवा इन्द्रियों के अवलंबन से हुआ ज्ञान रागमिश्रित है, उसके लक्ष्य से अनेकता उत्पन्न होती है; किन्तु आत्मा के आधार से हुए ज्ञान से एकता होती है।

धर्मीजीव अतीन्द्रिय महापदार्थ के साथ एकपना साधकर शुद्धता प्रगट करता है। जिसे धर्म करना हो, उसे सच्ची मान्यता करनी चाहिए। जड़ इन्द्रियाँ व उनके विषय पर हैं, परज्ञेय हैं, किन्तु आत्मा से होनेवाला ज्ञान स्वज्ञेय है। परज्ञेय-इन्द्रियाँ तथा दूसरे पदार्थों से मुझे ज्ञान होता है, ऐसी मान्यता छोड़ देना चाहिए। आत्मा इन्द्रियों तथा अन्य ज्ञेयों के अवलंबन बिना सच्चा ज्ञान करता है। धर्मी जीव को अधूरी दशा में पर-पदार्थों की तरफ लक्ष्य जाता है, उससे राग भी होता है; किन्तु वह राग तथा पर से ज्ञान होना नहीं मानता, उस समय भी मैं अतीन्द्रिय महापदार्थ हूँ हूँ ऐसा आत्मा का ही अवलंबन उसे वर्तता है। देव-गुरु का तथा शुभराग का अवलंबन व्यवहार से कहने में आता है; किन्तु धर्मी को उसका अवलंबन नहीं। स्वयं के ज्ञानदर्शनमय आत्मा के साथ एकपना होने से आत्मा शुद्ध है, ध्रुव है तथा वही शरणभूत है।

**अचलपने के कारण आत्मा को एकपना है।** शरीर, मन, वाणी प्रतिक्षण पलटने वाले पदार्थ हैं, उन ज्ञेयों की अवस्था प्रतिक्षण उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। उन-उन पदार्थों की अवस्था का उत्पाद-व्यय उन-उन पदार्थों के कारण होता है, आत्मा के कारण नहीं। आत्मा उन ज्ञेयों की पर्यायों का ग्रहण-त्याग नहीं करता; क्योंकि उनका आत्मा में

अभाव है। आत्मा शरीर, वस्त्र तथा अन्य पदार्थों की अवस्था का कर्ता नहीं। शरीर तथा अन्य पदार्थ अपनी क्रियावती शक्ति के कारण क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होते हैं, आत्मा उनको नहीं चला सकता। पुस्तक को निकट लाना तथा पर को चलाने में सहायक हाथ की क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं, आत्मा में उस क्रिया का अभाव है, तब फिर अभावरूप वस्तु का आत्मा क्या कर सकता है? वे ज्ञेय पर्यायों प्रत्येक समय चलायमान होती हैं, आत्मा में उनके ग्रहण-त्याग का अभाव होने से आत्मा अचल है। आत्मा को उन ज्ञेय-पर्यायों से जुदापना है और ज्ञेय पर्यायों के निमित्त से आत्मा में स्वयं के कारण से जो ज्ञान होता है, उससे आत्मा के एकपना है।

इसप्रकार आत्मा को अचलपने के कारण एकपना है, एकपने के कारण आत्मा शुद्ध है, शुद्ध होने से ध्रुव है और वह ध्रुव ही अवलंबन करने योग्य हैं ह्व ऐसे स्वज्ञेय की सच्ची प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है।

यह ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ। आत्मा और पर दोनों ज्ञेय हैं। आत्मा परज्ञेय में तन्मय हुए बिना स्व में रहकर जानता है। परज्ञेय को जानना व्यवहार है तथा स्वज्ञेय को जानना निश्चय है। स्वज्ञेय को किसप्रकार जानने से सम्यक्दर्शन होता है यहाँ उसकी बात चल रही है।

दूसरे पदार्थों की पर्यायों में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय होता ही रहता है। शरीर, आहार, पानी आदि का विनाशरूप होना परज्ञेय के कारण है; स्वज्ञेय के कारण नहीं।

आत्मारूप स्वज्ञेय के चार भेद हैं ह्व

१. त्रिकाली शक्ति का पिण्डरूप, द्रव्य सामान्य।
  २. उसकी त्रिकाली शक्तियाँ ह्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व आदि।
  ३. उसकी वर्तमान ज्ञानगुण की उघाड़रूप अवस्था
  ४. उसकी वर्तमान चारित्रगुण की इच्छारूप दशा वहीं परज्ञेय पुद्गल हैं, उसमें तीन भेद पड़ते हैं।
- (i) त्रिकाली शक्ति के पिण्डरूप द्रव्यसामान्य

(ii) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि शक्तियाँ

(iii) उनकी प्रत्येक समय की अवस्था

ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायरूप पुद्गल परज्ञेय है।

एक आत्मा दूसरे आत्मा को तथा जड़ के परिणाम को नहीं कर सकता। लकड़ी ऊँची-नीची होती है, उसमें द्रव्य सामान्य है, उसका उत्पाद-व्यय होना अथवा एकक्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना, सब पुद्गल परमाणु के आधीन है।

१. वह लकड़ी हाथ आदि से ऊँची नहीं हुई; क्योंकि हाथ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव हाथ में हैं, लकड़ी परद्रव्य है, उसके उत्पाद-व्यय स्वयं में हैं।
  २. आत्मा ने लकड़ी ऊँची करने की इच्छा की, इसलिए वह ऊँची नहीं हुई; क्योंकि इच्छा का उत्पाद स्वज्ञेय में होता है, लकड़ी आदि में नहीं।
  ३. लकड़ी ऊँची हुई ह्व ऐसा ज्ञान आत्मा करता है; किन्तु ज्ञान के कारण लकड़ी ऊँची नहीं हुई; क्योंकि ज्ञान का उत्पाद स्वज्ञेय में होता है। लकड़ी का उत्पाद लकड़ी में है। इसलिए आत्मा स्वज्ञेय, परज्ञेय की पर्याय का ग्रहण-त्याग नहीं करता। वाणी, पुस्तक आदि की पर्याय का आत्मा ग्रहण-त्याग नहीं करता। इसलिए वाणी आदि तथा ज्ञान की पर्याय भिन्न है।
- (अ) वाणी परज्ञेय होने से आत्मा की इच्छा के कारण नहीं निकलती।
- (ब) आत्मा में ज्ञानपर्याय है, इसलिए वाणी नहीं निकलती; क्योंकि वाणी परज्ञेय है।
- (स) आत्मा के उपदेश के विकल्प से, दूसरे को ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वह (उपदेश का विकल्प) परज्ञेय है।
- (द) आत्मा में ज्ञान वर्तता होने से दूसरों को ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वे परज्ञेय हैं।
- (इ) वाणी निकलने से दूसरे को ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वह परज्ञेय है।

प्रथम भाषा वर्गणा के परमाणु थे, उनका व्यय होकर भाषारूप परिणामन हुआ। यह जीव की उपस्थिति के कारण, जीव के ज्ञान के कारण तथा जीव की इच्छा के कारण नहीं हुआ। वे क्षण विनाशरूप प्रवर्तते ज्ञेय पर्याय हैं। शरीर, मन, वाणी, आहार तथा पानी की अवस्था का आत्मा ग्रहण-त्याग नहीं करता।

एक पुद्गल की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल की वर्तमान पर्याय का अन्योन्य अभाव है। एक चेतन की पर्याय का दूसरे चेतन की पर्याय में अथवा जड़ की पर्याय में अत्यन्त अभाव है। जो वस्तु अभावरूप होती है, वह दूसरी वस्तु में क्या कर सकती है?

अज्ञानी जीव मानता है कि मैंने आहार का त्याग किया, इसलिए धर्म हो गया, मैं दुकान पर रहूँ तो दुकान चलती है, मैं हूँ तो रोटी बनती है, मेरे कारण शरीर चलता है; किन्तु भाई! जड़-पदार्थ की पर्याय उनमें स्वयं में है। उनके उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वयं से हैं। आत्मा उनके उत्पाद-व्यय-ध्रुव का कर्ता नहीं तथा दूसरे पदार्थ भी आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव को नहीं कर सकते।

यदि पर के कारण कार्य होता है ह्व ऐसा मानें तो 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न ह्व परद्रव्य के परिणामन में आत्मा निमित्त तो है ना?

उत्तर ह्व परज्ञेयों के क्षण-विनाश उनकी पर्यायों में प्रवर्तते हैं, उनके निमित्त की क्या जरूरत है? पर-पदार्थ की पर्याय का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं; क्योंकि वह ज्ञेय पर्याय प्रतिसमय स्वयं पलट रही है। फिर आत्मा के कारण शरीर चला, वाणी निकली ह्व इत्यादि बातें तो स्थूल अज्ञान ही हैं। यदि एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य के आधार से हो तो उत्पाद पर से होने के कारण (सत्) उत्पाद सिद्ध नहीं होता और उत्पाद सिद्ध न होने पर व्यय और ध्रुव भी सिद्ध नहीं होता। ऐसा होने पर "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" ऐसा सिद्धान्त नहीं रहता।

इस जगत में प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय स्वयं के आधार से हैं, पर

के कारण नहीं। आत्मा में इच्छा तथा ज्ञान पर्याय का होना पर अथवा वाणी के कारण नहीं होता। यहाँ क्षण-विनाशरूप प्रवर्तता ज्ञेयपर्याय कहा है। 'प्रवर्तता' ऐसा कहने में दो बातें आईं। 'है' और 'पलटता' है। वह पर के कारण 'है' अथवा पर के कारण पलटता है ह्व ऐसा नहीं। पर-पदार्थ की पर्याय आत्मा में नहीं आती। आत्मा उनका ग्रहण-त्याग नहीं करता। आत्मा के ज्ञान में वह जानने योग्य मात्र है।

प्रश्न :ह्व आत्मा पर को प्रत्यक्ष ग्रहण करता है ह्व ऐसा देखा जाता है न?

उत्तर :ह्व तुझे भ्रम हुआ है। जड़ की पर्याय जड़ में है और आत्मा की पर्याय आत्मा में है। तू परज्ञेय को मानता है या नहीं? अथवा अद्वैत वेदान्ती के समान बहुत रूप होने वाली एक ही वस्तु मानता है? किन्तु बहुत होकर अद्वैत नहीं रहता। अनंत परज्ञेय जुदे-जुदे स्वतंत्र हैं। उन-उन ज्ञेयों की प्रत्येक समय की पर्याय स्वतंत्ररूप से पलट रही है ह्व ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि उनका पलटना पर के कारण माना जाये तो सभी द्रव्यों के एक होने का प्रसंग आवे अर्थात् एकान्त अद्वैतवाद की मिथ्या मान्यता का प्रसंग आवे; इसलिए यह तेरी भूल है।

प्रश्न :ह्व यद्यपि आत्मा पर को निश्चय से तो ग्रहण नहीं करता; किन्तु व्यवहार से तो ग्रहण करता है न?

उत्तर :ह्व यदि आत्मा पर को व्यवहार से ग्रहण करे तो व्यवहार स्वयं ही निश्चय हो जाये; किन्तु ऐसा नहीं होता। निश्चय अर्थात् सच्चा और व्यवहार अर्थात् आरोपित कथन। जैसे घड़ा मिट्टी का होने पर भी घी के संयोग में 'घी का घड़ा' कहा जाता है, वैसे ही पर की पर्याय होने में जीव की इच्छा को कारण कहा जाता है, लेकिन हमें ऐसा समझना चाहिए कि जीव पर में कुछ नहीं कर सकता। जैसा कि समयसार नाटक में कहा है :ह्व

एक परिणाम के न करता दरब दोई,

दो परिणाम एक दरब न धरतु है।

अर्थात् आत्मा और शरीर दो द्रव्य मिलकर एक परिणाम नहीं करते

तथा आत्मा राग एवं शरीर की अवस्था ह्व ऐसे दो परिणाम कभी भी नहीं कर सकता। यदि आत्मा व्यवहार से पर की पर्याय को ग्रहण करता हो तो निश्चय व व्यवहार एक हो जायें अथवा व्यवहार ही निश्चय हो जाये और ऐसा होने पर वस्तुस्वरूप के नाश का प्रसंग आता है; इसलिए ऐसा नहीं बन सकता।

कोई मिथ्यादृष्टि जीव कहता है कि जगत में पहले ज्ञेय नहीं थे, उनको ईश्वर ने बनाया है, किन्तु ऐसा मानना गलत है। ज्ञेय पदार्थ तो अनादि-अनंत सत् हैं। कोई जैन नामधारी कहता है कि इस ज्ञेय का वर्तमान नहीं था, मेरे कारण उस ज्ञेय की वर्तमान अवस्था हुई ह्व यदि ऐसा मानें तो ज्ञेय का त्रिकालपना नहीं रहता। इसलिए वर्तमान अवस्था को पर से मानने वाला ईश्वरकर्ता की मान्यता वाले की तरह मिथ्यादृष्टि है।

इसप्रकार ज्ञेयों की पर्यायें प्रतिसमय होती हैं, उनके ग्रहण-त्याग का आत्मा में अभाव है; इसलिए आत्मा अचल है। उन परज्ञेय से आत्मा को पृथक्पना है और उनके निमित्त से स्वयं के कारण स्वयं में होनेवाले ज्ञान से अपृथक्पना है अर्थात् एकपना है। दूसरे ज्ञेयों की जैसी-जैसी अवस्था होती है, वैसा ही उनका ज्ञान होता है, उनसे विरुद्ध नहीं होता तथा उन पदार्थों के कारण से भी ज्ञान नहीं होता। देव-गुरु-शास्त्र तो परज्ञेय हैं। प्रतिक्षण विनाशशील पर्यायवाले ज्ञेय हैं, उनसे आत्मा को ज्ञान नहीं होता; फिर भी जैसे ज्ञेय हैं, वैसा ही ज्ञान आत्मा स्वयं की योग्यता से आत्मा करता है। यहाँ ज्ञेयपर्यायों के निमित्त से ज्ञान हुआ ऐसा कथन है; किन्तु पर के उपादान से ज्ञान हुआ ह्व ऐसा नहीं कहा अर्थात् जब स्व उपादान से ज्ञान प्रगट होता है, तब उससमय उपस्थित परज्ञेयों को ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। उपादान में कार्य हुये बिना निमित्त कौन? अज्ञानी जीव कहता है कि निमित्त मिलने के बाद उपादान में कार्य होता है ह्व ऐसा मानने पर निमित्त तथा उपादान में समयभेद ठहरता है; किन्तु ऐसा नहीं होता। निमित्त पहले आये पश्चात् उपादान में कार्य हो तथा उपादान में कार्य पहले हो और निमित्त बाद में आये ह्व ऐसा समयभेद नहीं है। जिस

समय उपादान में कार्य होता है, उससमय निमित्त पर आरोप आता है। इससे सिद्ध हुआ कि दोनों वस्तुएँ एक ही समय में हैं तथा एक के कारण दूसरे में कार्य नहीं होता तो भी ज्ञेय की जैसी पर्याय हो, वैसा ही ज्ञान जानता है, कम अथवा अधिक नहीं जानता; इसलिए आत्मा को पर-पदार्थ से जुदापन है और पर संबंधी स्वयं के ज्ञान से एकपना है। इस प्रकार आत्मा को एकपना है। एकपना है; इसकारण शुद्ध है और शुद्ध ही ध्रुव है और ध्रुव ही शरणभूत है।

इसप्रकार स्वज्ञेय का ज्ञान करके प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है।

**ज्ञानात्मकपने तथा दर्शनभूतपने के कारण स्वज्ञेय को एकपना है।**  
यह गाथा अलौकिक है। भेदज्ञानी जीव स्वज्ञेय को कैसा स्वीकार करता है, उसकी बात चल रही है। मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा कर्ता और ज्ञान मेरा कार्य है। देव-गुरु-शास्त्र में मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं; इसलिए उनकी तरफ से दृष्टि हटाकर निज आत्मा में स्थिर होने से मैं एक हूँ और एक होने से शुद्ध हूँ ह्व ऐसे परज्ञेय से पृथक्ता करना सम्यक्ज्ञान है। ज्ञानी विचार करता है कि मेरे ज्ञान-दर्शन, देव-गुरु-शास्त्र में तन्मय नहीं, मेरे में तन्मय हैं। पर से पृथक् होकर जो बात की है, वह तो मात्र समझाने की शैली है। पर से पृथक् होना नहीं पड़ता। मैं ज्ञान-दर्शनमय हूँ ह्व ऐसा निश्चित करने पर स्व के साथ एकत्व होता है और शुद्धता होती है; और पर-पदार्थ के साथ एकता टल जाती है।

**प्रश्न :** ह्व समयसार तो ज्ञानादि का आधार है न?

**उत्तर :** ह्व नहीं, ज्ञान का आधार समयसार नहीं, ज्ञान-दर्शन का परद्रव्य में तन्मयपना नहीं। ज्ञान की पर्याय समयसार के कारण नहीं और समयसार की पर्याय ज्ञान के कारण नहीं। ज्ञान-दर्शन-गुण, शक्ति का आधार निरूपाधि तत्त्व सामान्य स्वभाव है। ज्ञानी पर्याय में विचार करता है; क्योंकि विचार की धारा द्रव्य-गुण में नहीं। द्रव्य-गुण में कार्य नहीं, वे तो सदृश एकस्वभावी हैं; किन्तु पर्याय विसदृशस्वभावी है। जब पर्याय स्वभाव की तरफ ढलती है और विचारधारा चलती है कि मैं ज्ञान-दर्शन

का धारक पर के कारण नहीं तथा पर के लक्ष्य से हुए दया-दानादि का आधार मेरा ज्ञान-दर्शन स्वभाव नहीं तब पर्याय स्वस्वभाव के साथ तन्मय होती है। 'मैं हूँ' ऐसा कहने से पर-पदार्थ मैं नहीं हूँ ऐसा स्वयं ही आ जाता है। सर्वज्ञदेव, गुरु तथा शास्त्र स्वयं के आधार-आधेय हैं तथा मेरे ज्ञान-दर्शन आधेय और मैं उनका आधार हूँ। ऐसा दोनों का आधार-आधेय स्वतंत्र प्रवर्त रहा है। परज्ञेय ज्ञान में जाने जाते हैं; किन्तु उनका ज्ञान के साथ संबंध नहीं। इसप्रकार स्वज्ञेय कर्ता और निर्मल पर्याय कार्य हूँ दोनों अभेद हैं। ऐसे स्वज्ञेय को जानना-मानना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान है।

**अतीन्द्रिय महापदार्थपने के कारण स्वज्ञेय को एकपना है।** आत्मा पाँच इन्द्रियों से शब्द, रस इत्यादि को जानने का काम नहीं करता। आत्मा इन्द्रियों से स्व तथा पर को नहीं जानता। समयसार, इन्द्रियाँ तथा दिव्यध्वनि के लक्ष्य से काम नहीं होता। मैं इन्द्रियों से न तो जानता हूँ न ही जाना जाता हूँ। मैं तो अतीन्द्रिय महापदार्थ हूँ हूँ ऐसे स्वभावरूप स्वद्रव्य कर्ता तथा निर्मल पर्याय कार्य है, दोनों अभेद हैं। मैं इन्द्रियादि से भिन्न तथा स्व से अभिन्न हूँ।

**आत्मा ज्ञेय पदार्थों का ग्रहण-त्याग नहीं करता।** आत्मा के अतिरिक्त शरीर-मन-वाणी, देव-गुरु-शास्त्र आदि प्रतिक्षण विनाशशील पदार्थ हैं, उनकी पर्याय क्षणविनाशी है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञेय पदार्थों का ग्रहण-त्याग नहीं करता।

**प्रश्न :** हूँ धर्मी जीव प्रतिमा की पूजा तो करता है न?

**उत्तर :** हूँ पूजन के समय यद्यपि शब्द तो बोलता है; किन्तु आत्मा निश्चय से शब्द नहीं बोल सकता, मात्र पूजन का राग करता है और ऐसा धर्मी जानता है। वहीं शुभराग भी होता है; किन्तु प्रतिमा के कारण नहीं होता। अशुभ से बचकर शुभराग आता है, वह पुण्य है; धर्म नहीं। जो जीव शुभभाव से तथा देह की क्रिया से धर्म मानता है, वह मिथ्यात्वी है। प्रतिमा की पर्याय प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त होती है, उसका आत्मा ग्रहण-त्याग नहीं करता। निमित्त से न तो राग होता है और न ही ज्ञान-

दर्शन; अपितु स्वयं के आधार से ज्ञान-दर्शन होता है। यदि ऐसा भान हो और कमजोरीवश अल्पराग आवे, पर उसका भी निषेध वर्ते तो वह बात यथार्थ है।

जिस समय जो शुभभाव होने योग्य हों, उससमय वे ही होते हैं और तब उसके योग्य ही निमित्त होते हैं, दूसरे नहीं होते। कोई कहता है कि यदि वहाँ दूसरे निमित्त आ जाये तो? यह प्रश्न ही ठीक नहीं; क्योंकि कोई भी क्रम टूटता नहीं। शुभ-अशुभ के असंख्य प्रकार हैं।

१. जिससमय दया का शुभभाव हो, उस समय दूसरा शुभभाव नहीं आता तथा उसी समय दया में निमित्त जो दूसरा जीव है, उसी पर लक्ष्य जाता है, अन्य निमित्त के ऊपर नहीं जाता।
२. जिस समय भक्ति का शुभभाव आना हो, उस समय वही आता है, अन्य नहीं तथा उसी समय भक्ति में निमित्त प्रतिमा के ऊपर ही लक्ष्य जाता है, अन्य पर नहीं।
३. जिससमय देव-गुरु-शास्त्र के आदर का शुभभाव आना हो, उससमय वही आता है, दूसरा नहीं तथा उसी समय आदर में निमित्त देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर ही लक्ष्य जाता है, अन्य निमित्त के ऊपर नहीं।

उन निमित्तों की पर्याय को ग्रहण तथा त्याग करने का आत्मा में अभाव है। जैसे निमित्त होते हैं; वैसा ही उनका ज्ञान होता है; पर पदार्थ के कारण ज्ञान नहीं होता। फिर भी उस समय जो निमित्त हो, वैसा ही ज्ञान आत्मा को स्वयं के कारण होता है। पर-पदार्थ की पर्याय से ज्ञान होता है हूँ ऐसा मानना मिथ्याशल्य है, आत्मज्ञान के बिना वह नष्ट नहीं होती। जिसप्रकार पेट में पड़ी सुई को निकलने में लोह चुम्बक निमित्त होने पर भी सुई स्वतंत्रपने निकलती है, उसीप्रकार आत्मा स्वयं स्वतंत्रपने ज्ञान करता है। जब जीव ऐसी मान्यता करता है, तब उसकी मिथ्याशल्य नष्ट होती है और धर्म प्रगट होता है।

सच्ची मान्यता होने पर जीव स्वयं के शुद्ध स्वभाव को ग्रहण करता है और मिथ्यात्व को छोड़ता है। पहले जीव अपने अचल स्वभाव को न

जानने के कारण स्वयं को पर-पदार्थों के ग्रहण-त्याग का कर्ता तथा निमित्त से लाभ मानता था; किन्तु वह अब सच्चा ज्ञान करके मानता है कि पर और मेरे में अत्यन्त अभाव है; फिर भी अभी अपूर्ण-दशा में शुभभाव आता है; किन्तु वह पर निमित्त से हुआ हूँ ऐसा नहीं तथा शुभराग होने के अर्थ निमित्त के पास जाना पड़ा हूँ ऐसा भी नहीं तथा शुभराग से धर्म भी नहीं मानता। शरीर, कर्म इत्यादि पर-पदार्थ हैं, उनसे मेरा कोई संबंध नहीं; क्योंकि दोनों में अत्यन्त अभाव है। उनके साथ मैं एक-मेक नहीं; किन्तु उनके ज्ञान से मैं एकमेक हूँ हूँ ऐसा सच्चा ज्ञान होने पर स्वयं के शुद्धस्वभाव को प्रतिसमय ग्रहण करता है और मिथ्यात्व को छोड़ता है।

**प्रश्न :** हूँ अग्नि को छूने से शरीर की चमड़ी जलती है और उससे दुःख होता है ना?

**उत्तर :** हूँ यहाँ पहले छूने का अर्थ समझना चाहिए। 'छूना' क्षेत्र की निकटता बताता है। अग्नि के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और शरीर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जुड़े हैं। दोनों में अन्योन्याभाव है; इसलिए छूने का अर्थ दो होकर एक नहीं होता तथा क्षेत्र की निकटता होने पर भी दोनों का क्षेत्र जुड़ा है, इसकारण दोनों स्वतंत्र है। चमड़ी की ठण्डी पर्याय का व्यय होकर गरम पर्याय का उत्पाद हुआ और परमाणु ध्रुव रहा, उसे अज्ञानी नहीं जानता। संयोग कहना ही पृथक्ता का प्रतीक है। अज्ञानी जीव अंग में फोड़ा होने पर दुःख मानता है; किन्तु जो वस्तु अभावरूप होती है, उससे कभी दुःख नहीं होता। जिसप्रकार कोई कहे कि मुझे खरगोश का सींग लगा; किन्तु खरगोश के सींग का तो अभाव है, वह कैसे लग सकता है? उसीप्रकार अग्नि ने मुझे जलाया हूँ ऐसा कैसे हो सकता है? क्योंकि अग्नि की पर्याय का तथा शरीर की पर्याय का आत्मा में अभाव होने से उससे दुःख नहीं होता; उससे दुःख मानना भ्रम ही है। शरीर मेरा है और शरीर जलने से मैं जल गया, यह मान्यता ही दुःख है।

इसीप्रकार पानी की पर्याय शीतल है, उसमें से शीतल पर्याय का

व्यय होकर गरमरूप उत्पाद होता है और परमाणु टिका रहता है। वह उत्पाद-व्यय पानी का है; फिर भी अज्ञानी जीव मानता है कि अग्नि से पानी गरम हुआ। पानी का उत्पाद-व्यय पानी के कारण होता है; अग्नि के कारण नहीं। पानी गरम हुआ या अग्नि गरम हुई? अग्नि तो गरम थी ही; किन्तु जब पानी का गरमरूप उत्पाद हुआ, तब अग्नि का निमित्त होता है, उसमें समयभेद नहीं। यदि पहले अग्नि आये; फिर पानी गरम हो फिर तो निमित्त और उपादान में समयभेद हो जाये; किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिससमय पानी में गरमरूप उत्पादपर्याय होती है, उसीसमय अग्नि निमित्त होती है।

यदि एक वर्तमान पर्याय का पर से होना माना जाये तो अनंत द्रव्यों के नाश का प्रसंग आता है। जो जीव पर-पदार्थ को संयोग से देखता है, वह स्व-पदार्थ को भी संयोग से देखता है; किन्तु जो जीव स्व-पदार्थ को संयोग रहित देखता है, वह समस्त पर-पदार्थों को भी संयोगरहित देखता है। पर-पदार्थ की पर्याय चल होने से कोई उसका ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। अग्नि की गरम पर्याय रूपी है और आत्मा अरूपी है तो फिर आत्मा किस प्रकार गरम हो गया? हाँ, इतना जरूर है कि पूर्व पर्याय में जो ज्ञान था, वह अब पलटकर शरीर की अवस्था गरमरूप हई हूँ ऐसा ज्ञान करता है; किन्तु ज्ञान करने के साथ इस शरीर की अवस्था मुझे दुःखरूप है हूँ ऐसी मिथ्या भ्रान्ति करता है। शरीर में परिवर्तन अथवा पानी का गरम रूप से परिणाम होना तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है; किन्तु उसे स्वतंत्र न मानकर पर से मानना मिथ्याभ्रान्ति है। यदि पर का अथवा स्व का एक समय का परिणाम पर के कारण माना जाये तो वस्तु के नाश का प्रसंग आता है।

संत तथा मुनि कहते हैं कि प्रत्येक समय का परिणाम स्वतंत्र है। द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्वयं के कारण होती है, आत्मा उसका ग्रहण-त्याग नहीं करता। मेरे स्वभाव के कारण मुझे ज्ञान होता है, अन्य के



कारण नहीं हूँ ऐसा स्वभावदृष्टि से देखनेवाले के धर्म प्रगट होता है। पर पदार्थ की पर्याय चल होने से, उसका मेरे में अभाव है। मैं अचल हूँ और मेरे से उत्पन्न हुई ज्ञान पर्याय से मैं एक हूँ, एक होने से शुद्ध हूँ और ध्रुव हूँ हूँ ऐसे ध्रुव का अवलंबन लेना चाहिए।

इसप्रकार स्वभावदृष्टि से देखनेवाले को सच्चा ज्ञान और धर्म होता है। इसलिए स्वज्ञेय कर्ता और वीतरागी परिणाम कार्य है हूँ ऐसे ज्ञेय को लक्ष्य में लेना ही सम्यग्दर्शन है।

निरालंबनपने के कारण स्वज्ञेय को एकपना है। वहीं शाश्वतज्ञेयों (द्रव्यों) के आलम्बन का अभाव होने से आत्मा निरालंब है। चौथे बोल 'अचल' में परज्ञेय की पर्याय से जुदा बताते हैं। तीर्थकर आदि ज्ञेय नित्य-शाश्वत हैं; किन्तु उन ज्ञेयों का आत्मा को अवलंबन नहीं। निचलीदशा में देव-गुरु की भक्ति का शुभराग होता है और देव-गुरु का अवलंबन होता है; किन्तु वह व्यवहार कथन है। धर्मीजीव शुभराग को भी अवलंबनरूप नहीं मानता तो फिर तीर्थकर आदि पदार्थ तो पर हैं, उनका स्वज्ञेय को अवलंबन कैसे हो सकता है? इसलिए आत्मा पर-द्रव्यों से भिन्न है; किन्तु उन निमित्तों से उत्पन्न हुये ज्ञान से स्वयं के कारण एकमेक है, इसलिए एकपना है। निरालंब आत्मा स्वज्ञेय कर्ता और वीतराग परिणाम कार्य है हूँ ऐसा कारण कार्यरूप स्वज्ञेय के एकपना है। एक सो शुद्ध, शुद्ध सो ध्रुव और वही ध्रुव अनुभव करने योग्य है।

यहाँ आत्मा को शांति किस प्रकार मिले, उसका उपाय बताते हैं। आत्मा को निरालंबनपने के कारण एकपना है, उसकी बात इस गाथा में चल रही है। यह आत्मा ज्ञातास्वरूप ज्ञान का आधार है, दृष्टास्वरूप दर्शन का आधार है। द्रव्य आधार है, गुण आधेय हैं तथा पर्याय निश्चित करने वाली है। अर्थात् इस गाथा में निरालंबी आदि पाँच बोल से आत्मा को एकपना कहा है हूँ इसका निर्णय करना चाहिए।

मुमुक्षु जीव को प्रथम इतना तो निश्चय करना ही चाहिए।

१. पर-पदार्थों का मुझे आलंबन नहीं, मुझे तो मेरा ही आलंबन है। आलंबन लेनेवाले गुण हैं और आलंबन देने वाला त्रिकाली द्रव्य है और पर्याय में विचार चलता है हूँ ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों मिलकर वस्तु है।
२. द्रव्य-गुण तो अनादि के हैं, वे कुछ भी विचार नहीं करते; किन्तु पर्याय विचार करती है। पहले दूसरा विचार था और अब दूसरा विचार करती है; इसलिए पर्याय पलटती है और द्रव्य-गुण ध्रुव रहते हैं। आत्मा नित्य परिणामी द्रव्य है; नित्य कूटस्थ नहीं।
३. स्वज्ञेय के कारण परज्ञेय में और परज्ञेय के कारण स्वज्ञेय में कार्य माननेरूप मिथ्यामान्यता स्वयं के कारण पर्याय में थी, वह भ्रम ही था।
४. उस मिथ्याभ्रान्ति के समय इन्द्रियाँ तथा पर-पदार्थों का अवलंबन था; इसकारण इन्द्रियाँ तथा अन्य ज्ञेय भी उस भ्रान्ति के समान अनादि से हैं; पर अद्वैत नहीं हैं।
५. वे ज्ञेय क्षणविनाशरूप पर्यायवाले होने से पलटते रहते हैं; अतः वे एकान्त नित्य नहीं।
६. पर्याय पलटती रहने पर भी द्रव्य के ध्रुवपना रहता है; इसलिए वस्तु एकान्त अनित्य नहीं।
७. पर के कारण कार्य होता है हूँ ऐसी उल्टी मान्यता थी; अतः उस मान्यता में निमित्त कुदेव, कुगुरु तथा कुशास्त्र होना चाहिए।
८. आत्मा अतीन्द्रिय है, निरालंबी है हूँ ऐसी सच्ची बात कहनेवाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र होना चाहिए।
९. पहले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का आदर था, अब उनका आदर छोड़कर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का आदर स्वलक्ष्य में करता है।
१०. पर का आलंबन छोड़कर स्व का आलंबन करने को कहते हैं तो स्व का परिपूर्ण आलंबन करके परिपूर्ण दशा प्रगट करनेवाले सर्वज्ञ को जानना चाहिये।

११. जब तक स्व का परिपूर्ण आलंबन न हो तब तक उस परिपूर्ण दशा को साधनेवाले साधक, मुनि आदि की दशा को स्वीकारना चाहिए।
१२. स्वज्ञेय के अवलंबन से धर्म होता है तथा परज्ञेय के अवलंबन से धर्म नहीं होता ह्व ऐसे अस्ति-नास्ति इत्यादि अनेकांतरूप धर्म बतानेवाले सत् शास्त्र को मानना चाहिए।
१३. कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का लक्ष्य छोड़कर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की बात हमेशा आदर से सुनना चाहिए; किन्तु वे परज्ञेय होने से उनसे धर्म नहीं होता।
१४. पहले जीव इन्द्रियों से ज्ञान मानता था; किन्तु अब सत् समागम से जाना कि अतीन्द्रिय स्वभाव के लक्ष्य से धर्म और सुख की प्राप्ति होती है।
१५. स्वयं अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावमय है ह्व ऐसा निश्चय करने से गुण-गुणी का अभेदपना निश्चित होता है।
१६. गुण-गुणी को प्रदेशभेद नहीं होने पर भी संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादि भेद हैं। एक गुण विकसित होने पर दूसरे गुण तुरंत ही विकसित हों ह्व ऐसा नहीं; किन्तु दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्रमशः विकसित होते हैं।
१७. उन गुणों के विकास का आधार पर-पदार्थ नहीं; किन्तु आत्मा ही है। गुणी आत्मा आधार है और गुण आधेय हैं।
१८. जब जीव स्वयं स्वयं का अवलंबन लेता है, तब देव-गुरु-शास्त्र पर निमित्त का आरोप आता है।
१९. आत्मा परज्ञेयों से त्रिकाल जुदा है और सिद्धदशा में भी जुदा ही रहता है, दूसरे में प्रविष्ट नहीं करता।
२०. परज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता; किन्तु स्वयं ज्ञानात्मक पदार्थ है; इसलिए ज्ञान होता है।

ह्व इसप्रकार अनेक प्रकार वस्तुस्वरूप है, उसका समीचीन निर्णय करना चाहिए।

आत्मा को पर-पदार्थों से निरालंबनपना है और उन संबंधी ज्ञान से एकपना है; अतः आत्मा शुद्ध है। जीवों को वस्तुस्वरूप का सही निर्णय करना चाहिए तथा सच्ची प्ररूपणा करनेवालों के पास जाकर बात समझनी चाहिए। इसप्रकार जिज्ञासु जीव से कहते हैं कि परज्ञेय की सत्ता और स्वज्ञेय की सत्ता जुदी है, परज्ञेयों का अवलंबन नहीं, इन्द्रियाँ मुझसे जुदी हैं, इन्द्रियों से मुझे ज्ञान नहीं होता; किन्तु उनके निमित्त से हुई मेरी ज्ञानपर्याय से मैं जुदा नहीं, इसलिए एक हूँ। एक हूँ, इसलिए शुद्ध हूँ, शुद्धता ही ध्रुवता है, वही अनुभव करने योग्य है।

इसप्रकार आत्मा शुद्ध है; क्योंकि चैतन्यमात्र शुद्धनय आत्मा को मात्र शुद्ध ही निरूपित करता है। वह स्वभाव का ही ग्रहण करता है और उसका ही अवलंबन लेता है; पुण्य-पाप को स्वीकार नहीं करता। इसलिए यह एक ही (शुद्ध आत्मा ही) ध्रुवपने के कारण अनुभव करने योग्य है। कर्म तो प्रतिक्षण विनाशशील हैं, उनका उदय और नाश उनमें ही होता है। आत्मा ने कर्मों का ग्रहण किया ही नहीं; इसलिए कर्मों को छोड़ना भी नहीं पड़ता। पर की तरफ का लक्ष्य न रहने से आत्मा में पुण्य-पाप का भी आदर नहीं रहता, उससे शुद्धि की वृद्धि होती है और ऐसा ही शुद्ध आत्मा अनुभव करने योग्य है। सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु और सच्चे शास्त्र अध्रुव हैं, मोक्षमार्गी जीव उनका अवलंबन करके अटकता नहीं। जैसे कोई राहगीर अपने गाँव की तरफ जाता है तो रास्ते में आम के वृक्ष की छाया आवे या वट के वृक्ष की छाया आवे, गुलाब का सुगंधित पौधा हो या नीम का कड़वा वृक्ष हो उससे राहगीर को कोई प्रयोजन नहीं; उसका प्रयोजन तो मात्र गाँव पहुँचना ही है, वह छाया तथा गंध आदि को अपना मानकर अटकता नहीं वह तो मात्र गाँव जाने को उत्सुक है; उसीप्रकार मुमुक्षु जीव स्वयं मोक्षमार्ग में चलता है, सिद्धदशा प्राप्त करना उसका ध्येय है। रास्ते में अनुकूल सामग्री हो कि प्रतिकूल सामग्री हो, उनसे उसका कोई संबंध नहीं। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र तो दूर रहो, सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र के पास भी वह नहीं ठहरता; क्योंकि वे पर-पदार्थ अध्रुव हैं, उनसे उसका क्या

प्रयोजन? मोक्षमार्ग में समयसार हो या पद्मपुराण हो, सम्मेदशिखर हो या सोनगढ़ की धरा हो, झोपड़ी हो या बंगला हो, सर्वज्ञदेव हों या कुदेव हों उनसे उसका क्या संबंध है? ये सभी अध्रुव हैं, उनसे कोई प्रयोजन नहीं। मुमुक्षु जीव तो इन सभी अध्रुव वस्तुओं को छोड़कर मोक्षमार्ग में उत्साह के साथ बढ़ता जाता है।

**भावार्थ :** ह्र आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दर्शनस्वरूप है, इन्द्रियों के बिना सभी को जाननेवाला महापदार्थ है, वह परज्ञेय-पर्यायों का ग्रहण-त्याग नहीं करता। कर्म का उदय, भगवान की वाणी, भगवान का केवलज्ञान ह्र ये सभी ज्ञेय पर्याय हैं। अज्ञानी मानता है कि कर्म का फल जीव में आता है; किन्तु यह बात गलत है, कर्म का फल तो कर्म में आता है, जीव में नहीं आता। जब जीव पुरुषार्थ करता है और स्व की तरफ बढ़ता है, तब कर्म की पर्यायों में संक्रमण, उदीरणा इत्यादि भेद होते हैं। आत्मा को कर्म के कारण विकार करना पड़े ह्र यह बात मिथ्या है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मा को किसी पर का अवलंबन न होने से वह निरालंबन है और निरालंबन होने से शुद्ध है, शुद्ध होने से ध्रुव है और वही ध्रुव अनुभव करने योग्य है। ●

### निरंजन हो जाओगे

पर के साथ के अभिलाषी प्राणियो ! तुम्हारा सच्चा साथी आत्मा का अखण्ड एकत्व ही है, अन्य नहीं। यह एकत्व तुम्हारा सच्चा साथी ही नहीं, ऐरावत हाथी भी है; इसका आश्रय ग्रहण करो, इस पर चढ़ो और स्वयं अन्तर के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थकर बन जावो; धर्म की धवल पाण्डुक शिला पर तुम्हारा जन्माभिषेक होगा, पावन परिणतियों की प्रवाहित अजस्र धारा में स्नान कर तुम धवल निरंजन हो जाओगे।

**ह्र बारहभावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-७१**

### प्रवचनसार गाथा १९३

अब ऐसा उपदेश देते हैं कि अध्रुवत्व के कारण आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है :ह्र

**देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाघ सत्तुमित्तजणा ।**

**जीवस्स ण संति ध्रुवा ध्रुवोवओगप्पगोअप्पा।।१९३।।**

( हरिगीत )

अरि-मित्रजन धन्य-धान्य सुख-दुःख देह कुछ भी ध्रुव नहीं।

इस जीव के ध्रुव एक ही उपयोगमय यह आत्मा ।।१९३।।

**अन्वयार्थ :** ह्र [ देहाः वा ] शरीर, [ द्रविणानि वा ] धन, [ सुखदुःखे ] सुख-दुःख [ वा अथ ] अथवा [ शत्रुमित्रजनाः ] शत्रु-मित्रजन (यह कुछ) [ जीवस्य ] जीव के [ ध्रुवाः न सन्ति ] ध्रुव नहीं हैं; [ ध्रुवः ] ध्रुव तो, [ उपयोगात्मकः आत्मा ] उपयोगात्मक आत्मा है।

**टीका :** ह्र जो परद्रव्य से अभिन्न होने के कारण और परद्रव्य के द्वारा उपरक्त होनेवाले स्वधर्म से भिन्न होने के कारण आत्मा को अशुद्धपने का कारण है, ऐसा (आत्मा के अतिरिक्त) दूसरा कोई भी ध्रुव नहीं है; क्योंकि वह असत् और हेतुमान् होने से आदि-अन्तवाला और परतःसिद्ध है; ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है। ऐसा होने से मैं उपलभ्यमान अध्रुव ऐसे शरीरादि को ह्र वे उपलब्ध होने पर भी ह्र उपलब्ध नहीं करता, और ध्रुव ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता हूँ।

### गाथा १९३ पर प्रवचन

निगोद से लेकर पंचपरमेष्ठी और परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध तक सभी पर पदार्थ मेरे आत्मा से जुड़े हैं। जब जीव स्वलक्ष्य करता है, तब विकार नहीं होता; किन्तु जब परलक्ष्य करता है, तब विकार होता है, उससमय पर-पदार्थों को निमित्त कहा है; क्योंकि उनके लक्ष्य से शुद्धता न होकर अशुद्धता ही होती है। इसलिए मेरे लिए कोई भी परपदार्थ शरणभूत नहीं है, मात्र शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है और वही शरणभूत है।

परपदार्थ असत् हैं, अहेतुक हैं, आदि-अंतवाले हैं, परतःसिद्ध हैं; इसकारण उससे धर्म नहीं होता।

१. पर-पदार्थ असत् हैं, शरीर, धन इत्यादि आदि-अंत वाले हैं, वे पलट जाते हैं। सर्वज्ञ भगवान तो मोक्ष चले जाते हैं, गुरु भी और जगह चले जाते हैं, पुस्तक पड़ी रहती है। पर-पदार्थों का संयोग होता है; इसलिए उनका आदि है और वियोग होता है; इसलिए उनका अंत है; इसकारण पर-पदार्थों को असत् कहा है।

२. वहीं वे पदार्थ हेतुवाले हैं; क्योंकि उनका संयोग मिलने में कोई निमित्त होता है। देह, धन इत्यादि के मिलने में कर्म निमित्त हैं। देव-गुरु-शास्त्र मिलने में पुण्यकर्म निमित्त है। किसी को सच्चे देव-गुरु का योग मिलता है, किसी को नहीं मिलता, किसी को लक्ष्मी मिलती है, किसी को नहीं मिलती। वे सभी पदार्थ दूसरे के निमित्त से मिलते हैं; इसलिए परतःसिद्ध हैं वे कोई भी शरणभूत नहीं है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप की खबर नहीं, उसकी दृष्टि तो परपदार्थ की पर्याय को बदलने के ऊपर है। वह परपदार्थ की पर्यायों का स्वयं की पर्याय के साथ संबंध जोड़ता है; किन्तु उन क्षणिक पर्यायों के साथ संबंध जोड़ने योग्य नहीं है; क्योंकि वे पलटती रहती हैं और पलटती अवस्था के लक्ष्य से धर्म नहीं हो सकता; किन्तु अज्ञानी जीव स्वद्रव्य तथा परद्रव्य को स्वतंत्र नहीं जानता।

**त्रिकाली शुद्ध आत्मा सत् और अहेतुक है, उसके लक्ष्य से धर्म होता है।**

१. आत्मा आदि-अंत रहित होने से सत् है, वह संयोगी पदार्थ नहीं है।

२. आत्मा अहेतुक है, वह किसी कर्म के कारण अथवा किसी निमित्त से प्राप्त नहीं होता, वह तो अकारण, अहेतुक स्वतःसिद्ध है।

यह जीव जब सच्ची समझ करे और पर की पर्याय का उस द्रव्य के साथ संबंध माने तो स्वपर्याय को स्व-आत्मा में जोड़ने का प्रसंग बने। देव-गुरु-शास्त्र क्षणिक हैं, वे छूट जाते हैं; इसलिए उनका अवलंबन लेने योग्य नहीं

हूँ ऐसा परपदार्थ की पर्यायों से निजपर्याय को पृथक् निश्चित करके अपने सत्, अहेतुक, अनादि-अनंत स्वतः सिद्ध पदार्थ की तरफ लक्ष्य करने से धर्म होता है; इसलिए ध्रुव आत्मा की ही शरण लेने योग्य है।

यहाँ आचार्य भगवान बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि हे भाई! यदि तुझे धर्म करना हो तो परपदार्थों से दृष्टि उठा ले। कुटुंबादि से लेकर देव-गुरु, तीर्थकर तथा सिद्ध जीव, एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध तक के जड़ पदार्थ, लौकिक ग्रंथों से लेकर समयसार तक के शास्त्र -सभी परतः सिद्ध और आदि-अंतवाले हैं। जिसप्रकार हूँ कई मनुष्य अलग-अलग रास्ते से आकर मिलते हैं और अलग-अलग चले जाते हैं; उसी प्रकार कुटुंब, देव, गुरु हूँ सभी संयोग हैं; अतः छूट जाते हैं तथा परतःसिद्ध होने से अध्रुव हैं। उनके लक्ष्य से धर्म अथवा सुख नहीं होता; इसलिए उनकी दृष्टि छोड़कर ध्रुव आत्मा की दृष्टि कर! तो धर्म और सुख होगा।

बाह्य संयोग होने पर भी धर्मी जीव की उन पर दृष्टि नहीं; अपितु ध्रुव शुद्ध आत्मा के ऊपर ही दृष्टि है। धर्मी जीव की दृष्टि किसके ऊपर है? उसकी यहाँ बात चल रही है। शरीर, मन, वाणी, देव-गुरु-शास्त्र आदि सभी अध्रुव हैं, वे शरणभूत नहीं। इस गाथा में सुख-दुःख आत्मा को ध्रुव नहीं हूँ ऐसा कहा है। यहाँ सुख-दुःख का अर्थ हूँ सुख-दुःख के निमित्त शरीर, लक्ष्मी, देव-गुरु इत्यादि लेना है। कितने ही जीव सर्वथा ऐसा कहते हैं कि धन इत्यादि कर्म के निमित्त से नहीं मिलते, वह बात गलत है। यहाँ पाठ है कि साता-असाता के निमित्त से संयोगों की प्राप्ति उन-उन कर्मों के अनुसार होती है। धर्मी जीव विचार करता है कि शारीरिक निरोगता, चक्रवर्ती का राज्य, देवियों के सुख अथवा नरक में प्रतिकूलता के संयोग मिलते हैं; फिर भी मैं उनका अनुभव नहीं करता। धर्मी जीव की दृष्टि चिदानन्द ध्रुव स्वभाव के ऊपर है। इन्द्रपद अथवा चक्रवर्ती का पद मेरा नहीं, मैं तो ज्ञान-दर्शन स्वभावमय हूँ हूँ ऐसा वह मानता है। वह लक्ष्मी, शरीर, राज्य होने पर भी उनकी रुचि नहीं करता; ध्रुव आत्मा की ही रुचि करता है। ●

### प्रवचनसार गाथा १९४

इसप्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है? अब वह निरूपण करते हैं :ह

**जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।**

**सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं॥१९४॥**

( हरिगीत )

यह जान जो शुद्धात्मा ध्यावें सदा परमात्मा ।

दुठ मोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आत्मा ॥१९४॥

अन्वयार्थ :ह [ यः ] जो, [ ज्ञात्वा ] ऐसा जानकर, [ विशुद्धात्मा ] विशुद्धात्मा होता हुआ [ परमात्मानं ] परम आत्मा का [ ध्यायति ] ध्यान करता है, [ सः ] वह ह [ साकारः अनाकारः ] साकार हो या अनाकार [ मोहदुर्ग्रन्थि ] मोहदुर्ग्रन्थि का [ क्षयपति ] क्षय करता है ।

**टीका :**ह इस यथोक्त विधि के द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मत्व होता है; और इसलिये अनन्त-शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्रसंचेतनलक्षण ध्यान होता है; और इसलिये (उस ध्यान के कारण) साकार (सविकल्प) उपयोगवाले को या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवाले को ह दोनों को अविशेषरूप से एकाग्रसंचेतन की प्रसिद्धि होने से ह अनादि संसार से बंधी हुई अतिदृढ़ मोहदुर्ग्रन्थि (मोह की दुष्ट गाँठ) छूट जाती है ।

इससे (ऐसा कहा गया है कि) मोहग्रन्थि भेद (दर्शनमोहरूपी गाँठ का टूटना) वह शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है ।

#### गाथा १९४ पर प्रवचन

उपर्युक्त विधि के अनुसार जो परज्ञेय से हटकर स्वज्ञेय ध्रुव की ओर बढ़ता है, उसकी शुद्धात्मा में ही प्रवृत्ति होती है । निमित्त तो आदि-अंतवाले और परतःसिद्ध हैं और आत्मा अनादि-अनंत स्वतःसिद्ध है ह ऐसा जानकर निज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में एकाकार होने पर शुद्धात्मा

की प्राप्ति होती है; किन्तु व्यवहार प्रवृत्ति द्वारा तथा पर पदार्थ की प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती । परपदार्थ असत् हैं, शरणभूत नहीं; किन्तु निज आत्मा ही एक शरणभूत है, वही ध्यान करने योग्य है । एक अग्र का (विषय का, ध्येय का) संचेतन अर्थात् अनुभवन ही ध्यान का लक्षण है । यहाँ पुण्य-पाप रहित, निमित्त और संयोग रहित एक शुद्ध आत्मा को ही अग्र किया है और उसके ही अनुभवन को ध्यान कहा है; क्योंकि वह अनंतशक्ति का पिण्ड है । उसमें से ही केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रगट होते हैं । इसप्रकार शुद्धात्मा की प्राप्ति के अर्थ ध्यान होता है ।

#### साकार तथा अनाकार उपयोग की स्पष्टता

**साकार उपयोग :**ह यह शरीर है, यह जीव है, यह मनुष्य है ह ऐसा भेद करके जाननेवाला चेतन का उपयोग ही साकार उपयोग है ।

**अनाकार उपयोग :**ह यह जीव है, यह अजीव है ह ऐसा भेद किये बिना सत्ता मात्र के प्रतिभास को अनाकार उपयोग कहते हैं ।

**ध्यानमात्र से ही मोह का नाश होता है ।** साकार तथा अनाकार दोनों उपयोगवाले को एक विषय का अनुभव होता है । ध्यान लक्ष्य है तथा एकाग्र संचेतन उसका लक्षण है । आत्मा ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वरूपी ही है । वह पर का कर्ता नहीं, राग-द्वेष उसके स्वरूप नहीं ह ऐसा जानकर जो एकमात्र ध्रुव आत्मा को ही अग्र करके ध्याता है ह अनुभवता है, उसे धर्म की प्राप्ति होती है तथा उसकी अनादिकाल की बंधी मोह की ग्रंथी नष्ट हो जाती है । स्वभाव में एकाग्र होने पर मोह उत्पन्न ही नहीं होता, तब मोह का नाश किया ह ऐसा कहा जाता है ।

इसमें मुमुक्षु जीव की जवाबदारी अधिक है । गाथा में यथोक्त-विधि शब्द कहा है । इस विधि से ही मोह का नाश होता है । इस विधि के अलावा कोई अज्ञानी पुण्य से धर्म माने, निमित्त से धर्म माने, देव-गुरु-शास्त्र से धर्म माने तो वह सच्ची विधि नहीं है । मिथ्या विधि है । ज्ञानी जीव ने पैसा, शरीर इत्यादि की रुचि छोड़ी है; क्योंकि वे अध्रुव हैं, शरणभूत

नहीं। वह सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानता हुआ भी उनसे धर्म नहीं मानता; क्योंकि धर्म तो स्वपुरुषार्थ से होता है, वह ऐसी विधि समझता है। जब वह स्वयं पुरुषार्थ करता है, तब सच्चे देव-गुरु-शास्त्र निमित्त होते हैं; किन्तु उन निमित्तों से वह धर्म नहीं मानता।

वहीं कोई जीव सर्वथा ऐसा कहता है कि सामग्री साताकर्म के निमित्त से नहीं मिलती, निमित्त बिना स्वयं मिलती है। तथा कोई कहता है कि समाज की व्यवस्था बराबर नहीं, इसकारण गरीब मनुष्य के पास पैसा नहीं, लेकिन धनवान के पास पैसों का ढेर दिखाई देता है; किन्तु यह मान्यता भी ठीक नहीं।

१. पैसा आदि जड़ पदार्थ क्षेत्रान्तर होकर स्वयं के कारण आते हैं, उसमें साता-असातावेदनीय कर्म निमित्त हैं। जो जीव निमित्तरूप में भी कर्म को नहीं मानता, वह भूल में है।
२. पैसेवाला और निर्धन हूँ ऐसे दो भेद दिखाई देते हैं, उसमें निमित्तरूप उन-उन जीवों के कर्म हैं, जिनके कारण ऐसे संयोगों की प्राप्ति होती है। जो जीव मानता है कि मैं पैसा किसी दूसरे को दे दूँ, समाज की व्यवस्था कर दूँ तो यह उसका स्थूल अज्ञान है; क्योंकि जड़ पदार्थ के हेर-फेर करने की तथा पुण्य-पाप कर्मों को हटाने की ताकत आत्मा में नहीं है; फिर भी मैं समाज की व्यवस्था करूँ, उसे सुखी बना दूँ हूँ यह मान्यता मिथ्या भ्रान्ति है। ये जड़ पैसों के परमाणु कदाचित् पुण्य के योग से मिलें तो भी उनमें सुख नहीं; क्योंकि सुख पर-पदार्थ से नहीं हो सकता।

मुमुक्षु जीव मानता है कि प्रत्येक जीव को स्वयं के कर्मानुसार बाह्य-संयोग धन आदि की प्राप्ति होती है। साता-वेदनीय का योग होने पर भी उसकी दृष्टि उस पर नहीं है। अनुकूल संयोग हो या प्रतिकूल संयोग हो, वज्रवृषभनाराच संहनन हो या सामान्य संहनन हो हूँ इन पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं होती। वह तो स्वयं के शुद्ध स्वभाव में एकाग्र होता है, जिससे पुण्य-

पाप की रुचि तथा संयोगों का लक्ष्य सहज छूट जाता है और शुद्धि की वृद्धि होने से मोह नष्ट हो जाता है।

अज्ञानी की मान्यता हूँ

१. अज्ञानी जीव निज चैतन्यवस्तु का अवलोकन नहीं करता और पर-पदार्थों पर दृष्टि करता है। वह मानता है कि पर में फेरफार करने से सुख मिलेगा, किन्तु वह उसकी भ्रान्ति है। वह माने या न माने; किन्तु पर-पदार्थ का क्रम नहीं बदलता। जो पदार्थ, जिस समय, जिस संयोगरूप में आना हो, वह निश्चितरूप से आयेगा ही, उसमें कोई फेरफार नहीं कर सकता।
२. अज्ञानी जीव पुण्य के उदय से धनादि अनुकूल सामग्री मिलने पर सुख मानता है। दूसरी वस्तु से सुख मानना ही दुःखदायक और पराधीनता है; किन्तु अज्ञानी को उसमें दुःख नहीं भासता।
३. अज्ञानी प्रतिकूल वस्तु को देखकर भागना चाहता है और उसका अभाव करना चाहता है। पर वह किसका अभाव करता है? अरे! तू तो तीनों काल पर के अभावस्वरूप है। तूझे किसका अभाव करना है?
४. अज्ञानी जीव संयोगों को हटाने से धर्म मानता है; किन्तु पर-द्रव्य तो स्वयं असत्स्वरूप स्वतः सिद्ध हैं। किसको हटायेगा? तेरे में एक भी द्रव्य ने कभी प्रवेश ही नहीं किया।
५. वहीं शुभ और अशुभ के असंख्य प्रकार हैं। जिससमय जिस जाति का शुभभाव आना हो, उससमय वही शुभभाव आयेगा और जिससमय जो अशुभभाव आना हो, उससमय वही अशुभभाव आयेगा तथा उससमय उन-उनके योग्य निमित्त उपस्थित रहेंगे। फिर तू किसमें फेरफार करेगा? राग में फेरफार करेगा? या निमित्त में फेरफार करेगा? वास्तव में वस्तु का क्रम तो जैसा है वैसा ही है। मात्र दृष्टि फेरने की जरूरत है। पर से हटकर स्वभाव की दृष्टि करना योग्य है। धर्मी जीव विचार करता है कि परवस्तु की स्वतः सिद्ध है; पर अध्रुव है।

१. जो पदार्थ जिस समय मिलने हों, वे उस समय ही मिलते हैं, उनके क्रम को कोई बदल नहीं सकता; क्योंकि वे क्रमबद्धरूप से परिणम रहे हैं, ज्ञानी तो उनका मात्र ज्ञाता है।
२. पुण्य का निमित्त मिलने पर भी ज्ञानी उसमें सुखबुद्धि नहीं मानता; क्योंकि उसने अध्रुव की शरण छोड़ दी है।
३. ज्ञानी प्रतिकूल निमित्तों से द्वेष नहीं करता; क्योंकि उसने पर का अवलंबन छोड़ दिया है और स्व की रुचि की है। वहाँ अस्थिरता के दोष को गौण किया है।
४. ज्ञानी की दृष्टि बाहर के पदार्थों को हटाने की नहीं; क्योंकि वह उसके हाथ की बात नहीं। वह तो स्वयं के स्वभाव के लक्ष्य से उनकी ममता घटा सकता है।
५. ज्ञानी की दृष्टि शुभाशुभ भाव के ऊपर भी नहीं; क्योंकि उनमें फेरफार की दृष्टि ही पर्यायदृष्टि है। स्वयं के स्वभाव पर दृष्टि जाते ही राग छूट जाता है।

राग को दूर करने का भाव मिथ्या है। जब राग हुआ ही नहीं तो उसको कैसे दूर करें? स्वभाव की दृष्टि करने से पर का लक्ष्य छूट जाता है, जिससे राग अनंतवें भाग मंद पड़ जाता है, उसे मंद करना नहीं पड़ता वह ऐसी दृष्टि करते ही धर्मदशा प्रगट होती है। तब वहाँ निमित्तों में फेरफार करने, संयोगों में बदलाव करने, प्रतिकूल संयोगों को हटाने अथवा अनुकूल संयोगों को लाने की बात ही नहीं, पर का अभाव अथवा शुभाशुभ भावों में फेरफार करने की भी बात नहीं; एक मात्र दृष्टि स्वभाव की तरफ लगाने की बात है।

इसप्रकार धर्मीजीव की दृष्टि स्वभाव तरफ बढ़ने पर शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है, शुद्धात्मा की प्राप्ति होने पर ध्यान होता है और ध्यान होने पर मोह का नाश होता है।



### प्रवचनसार गाथा १९५

अब, मोहग्रंथि टूटने से क्या होता है सो कहते हैं :ह

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खबीय सामण्णे ।

होजं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१९५॥

( हरिगीत )

मोहग्रन्थी राग-रुष तज सदा ही सुख-दुःख में ।

समभाव हो वह श्रमण ही बस अखयसुख धारण करें ॥१९५॥

अन्वयार्थ :ह [ यः ] जो [ निहतमोहग्रंथी ] मोहग्रंथि को नष्ट करके [ रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा ] राग-द्वेष का क्षय करके, [ समसुखदुःखः ] समसुख-दुःख होता हुआ [ श्रामण्ये भवेत् ] श्रमणता (मुनित्व) में परिणमित होता है, [ सः ] वह [ अक्षयं सौख्यं ] अक्षय सौख्य को [ लभते ] प्राप्त करता है।

टीका :ह मोहग्रंथि का क्षय करने से, मोहग्रंथि जिसका मूल है ऐसे राग-द्वेष का, क्षय होता है; उससे (राग-द्वेष का क्षय होने से), सुख-दुःख समान हैं ऐसे जीव का परम मध्यस्थता जिसका लक्षण है ऐसी श्रमणता में परिणमन होता है; और उससे (श्रामण्य में परिणमन से) अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

इससे (ऐसा कहा है कि) मोहरूपी ग्रंथि के छेदने से अक्षय सौख्यरूप फल होता है।

### गाथा १९५ पर प्रवचन

पर-पदार्थ से लाभ-हानि होती है, पुण्य से धर्म होता है ह्व ऐसी मान्यता ही मोह की गाँठ है। ऐसे मोह का नाश होने पर राग-द्वेष का नाश हो जाता है; क्योंकि राग-द्वेष का मूल मिथ्यात्व है। उस मोह के नष्ट हुये बिना राग-द्वेष का नाश नहीं होता। जो जीव मानता है कि सच्ची समझ बिना राग-द्वेष घटते हैं, वह मिथ्या मानता है। जिसप्रकार पत्ते तोड़कर फेंकने से वृक्ष का नाश नहीं होता; क्योंकि वे पत्ते दो-चार महीने में फिर

आ जायेंगे; किन्तु यदि वृक्ष का मूल से ही नाश कर दिया जाये तो पत्ते भी सूख जाते हैं और वृक्ष भी पुनः नहीं उगता; उसीप्रकार अज्ञानी जीव बिना समझे उपवास, व्रत, तप करे तो कषाय की मंदता दिखाई देती है; किन्तु संसार का परिभ्रमण नहीं मिटता। जब इस जीव का पर से लाभ-हानि की मान्यतारूपी मोह मूल से नष्ट हो जाये तो संसार परिभ्रमण का अंत आ जाता है। इसलिये जिसे राग-द्वेष का नाश करना हो, उसे सर्वप्रथम दर्शनमोह का नाश करना चाहिए? क्योंकि मिथ्यात्व टले बिना राग-द्वेष नहीं टलते और राग-द्वेष टले बिना चारित्र प्रगट नहीं होता तथा चारित्र बिना मुक्ति नहीं होती।

यह ज्ञेय अधिकार है। परज्ञेय का लक्ष्य मलिनता का कारण है और स्वज्ञेय का लक्ष्य मलिनता का नाशक है। स्वज्ञेय पर से जुदा है; इसलिए एक है, एक होने से शुद्ध है, शुद्ध होने से ध्रुव है और वही अनुभव करने योग्य है, उससे मोह का नाश होता है। इसप्रकार जो जीव स्वज्ञेय का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसे स्थिरता होने पर चारित्रदशा प्रगट होती है। **दंसण मूलो धम्मो** चारित्र ही साक्षात् धर्म है, उस धर्म का मूल समकित है। पर ज्ञेय से प्रवृत्ति हटाकर स्वज्ञेय की प्रतीति और ज्ञान करना ही सम्यग्दर्शन और ज्ञान है। इसप्रकार जो जीव स्व की प्रतीति करके स्व में स्थिर होता है, उसे चारित्रदशा प्रगट होती है और चारित्रदशा प्रगट होने से राग-द्वेष का नाश होता है।

इसी रीति से मुनिराज राग-द्वेष का क्षय करते हैं। वे मुनि परम मध्यस्थता धारण करते हैं। श्रामण्य अर्थात् मुनिपने का लक्षण परम मध्यस्थता है। चौथे गुणस्थान में मध्यस्थता प्रगट हुई है, वह भी अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में सुख-दुःख की कल्पना नहीं करता, शरीर की क्रिया से अथवा पुण्य से धर्म नहीं मानता। स्वज्ञेय की सच्ची प्रतीति में ही धर्म है वह ऐसा स्वज्ञेय-परज्ञेय का विवेक तो चौथे गुणस्थान में ही था; किन्तु अब मुनिदशा में विशेष स्थिरता होने से अस्थिरता की वृत्ति भी नहीं उठती। कोई शरीर को कष्ट दे तो उससे द्वेष नहीं करते तथा कोई शरीर में

चंदन चुपड़े तो उससे राग नहीं करते। इज्जत अच्छी और बेइज्जती खराब, स्वस्थ शरीर अच्छा और अस्वस्थ शरीर खराब वह ऐसे अस्थिरता के विकल्प भी स्वयं के ज्ञानस्वभाव में विशेष लीनता नहीं होने देते, इसकारण मुनि को परम मध्यस्थता प्रगट हुई है वह ऐसे परम मध्यस्थता लक्षणवाले मुनि होते हैं। वे बाह्य सुख-दुःख के प्रसंगों के मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, अस्थिरता की वृत्ति भी उत्पन्न नहीं होने देते। देखो! इसका नाम मुनिदशा है। श्रामण्य का लक्षण परम मध्यस्थता कहा है; किन्तु श्रामण्य का लक्षण नग्नदशा, मोर पीछी रखना, पाँच महाव्रत, २८ मूलगुण का पालन नहीं कहा। मोरपीछी, नग्नदशा तो परज्ञेय हैं, उनकी यहाँ बात ही नहीं की।

इसप्रकार मुनि अपने में विशेष स्थिरता करके अक्षय अविनाशी सुख को प्राप्त करते हैं। उस सुख का लक्षण अनाकुलता है। अज्ञानी जीव पैसा, पुत्र-पत्नी, वन में आनंद माने बैठा है; पर वह तो दुःखरूप आकुलता है। इसप्रकार स्वभाव की लीनता से शांतसमभाव के कारण मुनि आनंद और मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार परज्ञेय का लक्ष्य छोड़कर स्वज्ञेय की श्रद्धा-ज्ञान करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, उससे चारित्र प्रगट होता है और चारित्ररूपी मध्यस्थता से अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

इससे मोहरूपी ग्रंथि के भेद से अर्थात् मिथ्यात्व के नाश से अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है। ●

अन्याय से उपार्जित धन जबर्दस्ती लाई हुई स्त्री के समान अधिक समय तक नहीं टिकता। जैसे धनी के गुणों से आकर्षित स्त्री हमेशा रहेगी, वैसे ही न्यायोपार्जित लक्ष्मी अधिक समय तक टिकी रहेगी। नीति वस्त्रों के समान है और धर्म आभूषण के समान है। जैसे कपड़ों के बिना आभूषण शोभा नहीं देते वैसे नीति के बिना धर्म शोभा नहीं देता।

**हृदय का निधान, पृष्ठ-२४-२५**



### प्रवचनसार गाथा १९६

अब, एकाग्रसंचेतन<sup>१</sup> जिसका लक्षण है, ऐसा ध्यान आत्मा में अशुद्धता नहीं लाता ऐसा निश्चित करते हैं :ह

जोखविदमोहकलुसो विसयविरक्तो मणो गिरुंभित्ता ।

समवट्टिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा।।१९६।।

( हरिगीत )

आत्मध्याता श्रमण वह इन्द्रियविषय जो परिहरे ।

स्वभावथित अवरुद्ध मन वह मोहमल का क्षय करे।।१९६।।

अन्वयार्थ :ह [ यः ] जो [ क्षपितमोहकलुषः ] मोहमल का क्षय करके [ विषय-विरक्तः ] विषय से विरक्त होकर, [ मनः निरुध्य ] मन का निरोध करके, [ स्वभावे समवस्थितः ] स्वभाव में समवस्थित है, [ सः ] वह [ आत्मानं ] आत्मा का [ ध्याता भवति ] ध्यान करनेवाला है ।

टीका :ह जिसने मोहमल का क्षय किया है ऐसे आत्मा के, मोहमल जिसका मूल है ऐसी परद्रव्यप्रवृत्ति<sup>२</sup> का अभाव होने से विषयविरक्तता होती है; (उससे अर्थात् विषय विरक्त होने से), समुद्र के मध्यगत जहाज के पक्षी की भाँति, अधिकरणभूत द्रव्यान्तरों का अभाव होने से जिसे अन्य कोई शरण नहीं रहा है ऐसे मन का निरोध होता है । (अर्थात् जैसे समुद्र के बीच में पहुँचे हुए किसी एकाकी जहाज पर बैठे हुए पक्षी को उस जहाज के अतिरिक्त अन्य किसी जहाज का, वृक्ष का या भूमि इत्यादि का आधार न होने से दूसरा कोई शरण नहीं है, इसलिये उसका उड़ना बन्द हो जाता है, उसीप्रकार विषयविरक्तता होने से मन को आत्मद्रव्य के अतिरिक्त किन्हीं अन्यद्रव्यों का आधार नहीं रहता इसलिये दूसरा कोई शरण न रहने से मन निरोध को प्राप्त होता है); और इसलिये (अर्थात् मन का

१. एकाग्र = जिसका एक ही विषय हो ऐसा

२. परद्रव्य प्रवृत्ति = परद्रव्य में प्रवर्तन

निरोध होने से), मन जिसका मूल है ऐसी चञ्चलता का विलय होने के कारण अनन्तसहज-चैतन्यात्मक स्वभाव में समवस्थानं होता है वह स्वभावसमवस्थान तो स्वरूप में प्रवर्तमान, अनाकुल, एकाग्र संचेतन होने से उसे ध्यान कहा जाता है ।

इससे (यह निश्चित हुआ कि ह) ध्यान, स्वभावसमवस्थानरूप होने के कारण आत्मा से अनन्य होने से अशुद्धता का कारण नहीं होता ।

### गाथा १९६ पर प्रवचन

परद्रव्य के कारण लाभ-हानि मानना दर्शनमोह है और परद्रव्य की प्रवृत्ति में आसक्ति होना चारित्र मोह है । जिसने दर्शनमोह और चारित्रमोह का अभाव किया है, उसे परद्रव्य की प्रवृत्ति का अभाव होता है ।

१. चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है । जो जीव ज्ञानस्वभाव की सच्ची प्रतीति करता है, उसे ही अंतर रमणतारूप चारित्र प्रगट होता है; किन्तु सम्यग्दर्शन बिना चारित्र प्रगट नहीं होता ।
२. राग-द्वेष का मूल दर्शनमोह है । जो राग-द्वेष होता है, उसका कारण पर-पदार्थ के प्रति एकत्वबुद्धिरूप मोह है । दर्शनमोह टले बिना राग-द्वेष नहीं टलता ।
३. पर-द्रव्य प्रवृत्ति का मूल मोह-राग-द्वेष है । आत्मा के अलावा शरीर, मन, वाणी, देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि की तरफ जो प्रवृत्ति होती है, उसके दो कारण हैं ह  
(अ) परद्रव्य से लाभ-हानि मानकर जो प्रवृत्ति होती है, उसका मूल दर्शनमोह है ।  
(ब) पर से लाभ-हानि माने बिना स्वयं की कमजोरी के कारण परद्रव्य की ओर प्रवृत्ति होती है, उसका मूल चारित्रमोह-राग-द्वेष है ।

मुनियों ने मोह-राग-द्वेष टाला है, इसलिए उनको पर-द्रव्य में प्रवृत्ति नहीं और राग-द्वेष का अभाव होने से पर-द्रव्य से विरक्तता है । आत्मा स्वज्ञेय है और बाकी सभी परज्ञेय हैं । जो स्वज्ञेय शुद्ध चिदानंद आत्मा की

श्रद्धा-ज्ञान करके मिथ्यात्व को टालकर स्व में विशेष लीनता करता है, उसके परद्रव्य की तरफ लक्ष्य नहीं जाने से राग-द्वेष का नाश होता है।

जिसप्रकार समुद्र के मध्य में कोई अकेला पक्षी जहाज पर बैठा हो तो उसे जहाज के अलावा अन्य कोई वृक्ष अथवा जमीन का आधार नहीं, इसलिए वह पक्षी वहीं अटक जाता है, वैसे ही मुनियों को पर पदार्थों के प्रति लक्ष्य नहीं होने से स्वलक्ष्यदशा बहुत हो गई है, इसकारण मन को दूसरे द्रव्यों का आधार नहीं है, मात्र एक आत्मद्रव्य की तरफ ही उनका लक्ष्य रहता है, उससे मन की प्रवृत्ति वही अटक जाती है। चंचलता का मूल मन है और मन का निषेध होने से चंचलता उत्पन्न ही नहीं होती। मन के अवलंबन से पुण्य-पाप होते हैं और आत्मा के अवलंबन से मुक्ति होती है। चंचलता को भावमन कहा है तथा अष्टदलकमल के आकार को द्रव्यमन कहा है। सर्वप्रथम बाह्य देव-गुरु-शास्त्र, शरीर, कुटुंब आदि पर-द्रव्य का आलंबन तो छुड़ाना ही था; किन्तु अब अंदर के द्रव्यमनरूप परज्ञेय का भी अवलंबन छुड़ाते हैं। मन का अवलंबन टूटने से चंचलता का नाश होता है और चंचलता के नाश होने से स्वयं के अनंत ज्ञान-दर्शन स्वभाव में दृढ़ स्थिरता होती है। आत्मा में दृढ़पने स्थिर होना स्वरूप में प्रवृत्ति है तथा निराकुल एक आत्मा को ही अग्र करके उसका ध्यान करने से मुक्ति होती है।

इसप्रकार परज्ञेय और स्वज्ञेय का विवेकपूर्ण श्रद्धा-ज्ञान करने से सम्यग्दर्शन होता है, जिससे दर्शनमोह का नाश होता है तथा दर्शनमोह के नाश के पश्चात् आत्मस्थिरता होने पर चारित्रमोह अर्थात् राग-द्वेष का भी नाश होता है, मोह-राग-द्वेष का नाश होने पर पर-द्रव्य के प्रति प्रवृत्ति का अभाव होता है, परद्रव्य के प्रति प्रवृत्ति का अभाव होने से मन की चंचलता का अभाव होता है, मन की चंचलता का अभाव होने से

आत्मा में एकाग्रता होती है तब उसे ध्यान होता है तथा ध्यान के फल में केवलज्ञान और सिद्धपद मिलता है।

**प्रश्न** ह्व जब केवली भगवान ने परिपूर्णदशा तथा अनंत चतुष्टय को प्राप्त किया है, वे एक समय में तीनलोक और तीनकाल की वस्तुओं को एकसाथ जानते हैं, अब उनको कुछ करना बाकी नहीं रहा; फिर भी उनके शुक्लध्यान क्यों कहा?

**उत्तर** ह्व यद्यपि अर्हत तीनलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एकसाथ एक ही समय में जानते हैं, उनके अठारह दोष भी नष्ट हो गये हैं; फिर भी उन्होंने परिपूर्ण स्वज्ञेय दशा को प्राप्त नहीं किया। अभी वहाँ पर योगगुण तथा प्रतिजीवी गुणों आदि की अशुद्धता है तथा उनके अभी अघाति कर्म भी विद्यमान हैं, इतनी उस स्वज्ञेय की प्रवृत्ति में कचास है; इसकारण अरहंत को ध्यानदशा है। सिद्धदशा परिपूर्ण शुद्धज्ञेय है, उसे ध्यान नहीं होता। अरहंत को अभी भी अशुद्धता है, इसलिये ध्यान बाकी है। ऐसे ज्ञेय का यथार्थ स्वरूप बताने के लिए अर्हत के शुक्लध्यान की बात ज्ञेय अधिकार में ली है। ●

### पुनः जन्म न लेना पड़े ...

अज्ञानियों को मरण इष्ट नहीं है, इसलिए वे जीने के लिए ही जीते हैं। मरण आने पर भी उन्हें जीने का लक्ष्य रहता है। ज्ञानी तो मरने के लक्ष्य से ही जीते हैं अर्थात् पहले से ही प्रयोग करके ... तैयारी करके रखी है, फिर आनन्दपूर्वक मरण का स्वागत करते हैं। उनके लिए मरण का समय बहुत महोत्सव का होता है, इसलिए आनन्द से देह छोड़ते हैं। जीने के भाव से तो अनन्तबार जिया, परन्तु मरने के भाव से एकबार भी नहीं जिया। मरने के भाव से जिए तो पुनः जन्म न लेना पड़े। **ह्व दृष्टि का निधान, पृष्ठ-२५**

### प्रवचनसार गाथा १९७

अब, सूत्र द्वारा ऐसा प्रश्न करते हैं कि जिनने शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है ऐसे सकलज्ञानी (सर्वज्ञ) क्या ध्याते हैं? :ह

**णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।**

**णयंतगदो समणो ज्ञादि कमट्टं असंदेहो ॥१९७॥**

( हरिगीत )

घन घातिकर्म विनाश कर प्रत्यक्ष जाने सभी को ।

संदेहविरहित ज्ञेय ज्ञायक ध्यावते किस वस्तु को ॥१९७॥

अन्वयार्थ :ह [ निहतघनघातिकर्मा ] जिनने घनघातिकर्म का नाश किया है, [ प्रत्यक्षं सर्वभावतत्वज्ञः ] जो सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानते हैं और [ ज्ञेयान्तगतः ] जो ज्ञेयों के पार को प्राप्त हैं, [ असंदेहः श्रमणः ] ऐसे संदेह रहित श्रमण [ कम् अर्थ ] किस पदार्थ को [ ध्यायति ] ध्याते है ।

टीका :ह लोक को (१) मोह का सद्भाव होने से तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबन्ध का सद्भाव होने से, (१) वह तृष्णा सहित है तथा (२) उसे पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है और वह विषय को अवच्छेदपूर्वक नहीं जानता, इसलिये वह (लोक) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ का ध्यान करता हुआ दिखाई देता है; परन्तु घनघातिकर्म का नाश किया जाने से (१) मोह का अभाव होने के कारण तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबन्ध का अभाव होने से, (१) तृष्णा नष्ट की गई है तथा (२) समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रत्यक्ष है तथा ज्ञेयों का पार पा लिया है इसलिये भगवान् सर्वज्ञदेव अभिलाषा नहीं करते, जिज्ञासा नहीं करते और संदेह नहीं करते; तब फिर (उनके) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कहाँ से हो सकता है? ऐसा है तब फिर वे क्या ध्याते हैं?

भावार्थ :ह लोक के (जगत् के सामान्य जीव समुदाय के) मोहकर्म का सद्भाव होने से वह तृष्णा सहित है, इसलिये उसे इष्ट पदार्थ की

अभिलाषा होती है; और उसके ज्ञानावरणीय कर्म का सद्भाव होने से वह बहुत से पदार्थों को तो जानता ही नहीं है तथा जिस पदार्थ को जानता है उसे भी पृथक्करण पूर्वक ह् सूक्ष्मता से ह् स्पष्टता से नहीं जानता, इसलिये उसे अज्ञात पदार्थ को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) होती है, और अस्पष्टतया जाने हुए पदार्थ के संबंध में संदेह होता है। ऐसा होने से उसके अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ का ध्यान संभवित होता है; परन्तु सर्वज्ञ भगवान् के तो मोहकर्म का अभाव होने से वे तृष्णारहित हैं, इसलिये उनके अभिलाषा नहीं है और उनके ज्ञानावरणीय कर्म का अभाव होने से वे समस्त पदार्थों को जानते हैं तथा प्रत्येक पदार्थ को अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक ह् परिपूर्णतया जानते हैं, इसलिये उन्हें जिज्ञासा या सन्देह नहीं है ह् इसप्रकार उन्हें किसी पदार्थ के प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा या सन्देह नहीं होता; तब फिर उन्हें किस पदार्थ का ध्यान होता है?

### गाथा १९७ पर प्रवचन

छद्मस्थ जीवों को मोह तथा अल्पज्ञता होने के कारण ध्यान होता है ।

१. जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें मोह का सद्भाव होने के कारण वे तृष्णा सहित देखने में आते हैं, और वे ही पर तरफ से हटकर स्वज्ञेय की तरफ बढ़ने का प्रयत्न करते हैं ।
२. छद्मस्थ जीवों को अल्पज्ञदशा है, उसका कारण ज्ञानावरणकर्म है, इसकारण वे सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष और सूक्ष्मता से नहीं जान सकते । इसलिए जिन-जिन पदार्थों को जानने की इच्छा हो, उन्हें जानने के लिए एवं जिन पदार्थों के विषय में संदेह हो, उनके निर्णय करने के लिए वह ध्यान करते हुए देखने में आते हैं । वहीं निचली दशा में राग का भी सद्भाव रहता है, इसलिए राग को टालने के अर्थ ध्यान करता हुये देखने में आते हैं । हम अल्पज्ञ जीवों के ध्यान का कारण तो समझ ही सकते हैं ।

यह तो छद्मस्थ की बात हुई; किन्तु भगवान (अर्हन्त) तो सर्वज्ञ हैं, उनके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अंतराय ह्व ये चार घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं।

१. भगवान को मोह का अभाव है, उन्हें वीतराग दशा की प्राप्ति हुई है और किसी प्रकार की तृष्णा भी नहीं है।
२. उन्हें सर्वज्ञता प्रगट हुई है, वे तीन लोक तथा तीन काल के पदार्थों को एक समय में हस्तामलकवत् जानते हैं, उन्हें सभी पदार्थों का स्वरूप प्रत्यक्ष है, वे ज्ञेयों के पार को प्राप्त हुये हैं। उन्हें किसी भी पदार्थ की अभिलाषा नहीं, इच्छा नहीं, किसी भी प्रकार का संदेह नहीं तो उनको अभिलाषा करने योग्य, जानने की इच्छा योग्य अथवा संदेह दूर करने योग्य किसी ध्यान की जरूरत नहीं तो वे ध्यान क्यों करें?

ऐसा इस गाथा में शिष्य अर्हन्त का विशेष स्वरूप जानने के लिए जिज्ञासापूर्वक पूछता है?

जगत के सामान्यजनों को मोह के निमित्त से स्वयं की योग्यता से तृष्णा है, इसलिये उनको किसी न किसी पदार्थ की इच्छा रहती है तथा वे स्वयं की योग्यता के कारण और ज्ञानावरणरूप कर्म के निमित्त से बहुत पदार्थों को तो नहीं जान सकते तथा जो पदार्थ जानते हैं, उसे भी सूक्ष्मता से नहीं जानते, इसलिए जो जानने में नहीं आ रहे, उन्हें जानने की जिज्ञासा होती है तथा अस्पष्ट रूप से जाने हुए पदार्थों में शंका रहती है ह्व ऐसा होने के कारण उन्हें अभिलाषावाला, जिज्ञासावाला और संदेहवाले पदार्थ का ध्यान होता है।

परन्तु सर्वज्ञ भगवान को निमित्तरूप मोहनीय कर्म का अभाव होने से और स्वयं की योग्यता से वीतरागता है, इसलिए इच्छा नहीं, सर्वज्ञदशा प्रगट है इसकारण निमित्तरूप ज्ञानावरण कर्म नहीं; इसलिये भगवान सर्व पदार्थों को अत्यन्त स्पष्टता से परिपूर्ण जानते हैं, अतः उन्हें किसी भी पदार्थ के प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा अथवा संदेह नहीं; तो फिर उनको किस पदार्थ का ध्यान संभव है?

देखो! यहाँ शिष्य इतनी लायकातवाला तो है कि अर्हन्त के स्वरूप को बराबर जानता है, भगवान को वीतरागी मानता है, उन्हें कोई इच्छा नहीं और वे परिपूर्ण हैं ह्व ऐसा जानता है। जो भगवान को रोग माने, आहार करने वाला माने तो वह भगवान के स्वरूप को ही नहीं जानता। भगवान रोग, शोक, तृष्णा, भय इत्यादि सभी दोषों से रहित हैं और उन्हें कुछ भी जानना बाकी नहीं रहा ह्व ऐसा स्वीकार करके शिष्य पूछता है कि भगवान को किसका ध्यान है? ●

### अनित्य भावना का सम्यक् चिंतन

संयोगों और पर्यायों की अनित्यता को जब हम अपनी मिथ्या मान्यताओं और राग-द्वेष के चश्मे से देखते हैं तो वह दुःखकर प्रतीत होती है, यदि सम्यग्ज्ञान के आलोक में देखें तो वस्तु का स्वभाव होने से शान्ति और सुखोत्पादक ही प्रतीत होंगी। दोष हमारी दृष्टि में है और उसे हम खोज रहे हैं लोक में। षट्द्रव्यरूपी लोक तो अपने परिणमनस्वभाव में पूर्ण व्यवस्थित है; अतः परिवर्तन लोक में नहीं, अपनी दृष्टि में करना है; किन्तु जगतजन जगत को अपने राग-द्वेषात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं और तदनुसार ही उसे परिणमित करना चाहते हैं। उल्टी गंगा बहाने के इस दुष्प्रयत्न में हमने अनन्तकाल बिताया है और अनन्त दुःख भी उठाये हैं।

अब समय आ गया है कि हम वस्तु के परिणमनस्वभाव को सहजभाव से स्वीकार करें; संयोगों की क्षणभंगुरता का आपत्ति के रूप में नहीं, सम्पत्ति के रूप में प्रसन्नचित्त से स्वागत करें; संयोग-वियोगों में सहज समताभाव रखें, संयोगों को मिलाने-हटाने के निरर्थक विकल्पों से यथासंभव विरत रहें; अपनी दृष्टि को परिणमनशील संयोगों और पर्यायों से हटाकर अपरिणामी द्रव्यस्वभाव की ओर ले जावें; क्योंकि अनित्यभावना के सम्यक् चिन्तन का यही सुपरिणाम है। ह्व बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-३०-३१

### प्रवचनसार गाथा १९८

अब, सूत्र द्वारा (उपरोक्त गाथा के प्रश्न का) उत्तर देते हैं कि ह्व जिसने शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है, वह सकलज्ञानी (सर्वज्ञ आत्मा) इस (परम सौख्य) का ध्यान करता है :ह्व

**सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।**

**भूदो अक्खातीदो ज्ञादि अणक्खो परं सोक्खं ॥१९८॥**

( हरिगीत )

अतीन्द्रिय जिन अनिन्द्रिय अर सर्व बाधा रहित हैं ।

चहुँ ओर से सुख-ज्ञान से समृद्ध ध्यावे परमसुख ॥१९८॥

अन्वयार्थ :ह्व [ अनक्षः ] अनिन्द्रिय और [ अक्षातीतः भूतः ] इन्द्रियातीत हुआ आत्मा [ सर्वाबाधवियुक्तः ] सर्व बाधा रहित और [ समंतसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः ] सम्पूर्ण आत्मा में समंत (सर्वप्रकार के, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध वर्तता हुआ [ परं सौख्यं ] परम सौख्य का [ ध्यायति ] ध्यान करता है ।

टीका :ह्व जब यह आत्मा, जो सहज सुख और ज्ञान की बाधा के आयतन<sup>१</sup> है (ऐसी) तथा जो असकल आत्मा में असर्वप्रकार के सुख और ज्ञान के आयतन हैं ऐसी इन्द्रियों के अभाव के कारण स्वयं 'अनिन्द्रिय' रूप से वर्तता है, उसीसमय वह दूसरों को 'इन्द्रियातीत' (इंद्रियअगोचर) वर्तता हुआ, निराबाध सहजसुख और ज्ञानवाला होने से 'सर्वबाधा रहित' तथा सकल आत्मा में सर्वप्रकार के (परिपूर्ण) सुख और ज्ञान से परिपूर्ण होने से 'समस्त आत्मा में समंत सौख्य और ज्ञान से समृद्ध' होता है । इसप्रकार का वह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और संदेह का असंभव होने पर भी अपूर्व और अनाकुलत्व लक्षण परमसौख्य का ध्यान करता है; अर्थात् अनाकुलत्वसंगत एक 'अग्र' के संचेतनमात्ररूप से अवस्थित

१. आयतन = निवास, स्थान ।

रहता है, (अर्थात् अनाकुलता के साथ रहनेवाले एक आत्मारूपी विषय के अनुभवनरूप ही मात्र स्थित रहता है) और ऐसा अवस्थान सहजज्ञानानन्दस्वभाव सिद्धत्व की सिद्धि ही है (अर्थात् इसप्रकार स्थित रहना, सहजज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है ऐसे सिद्धत्व की प्राप्ति ही है ।)

भावार्थ :ह्व १९७ वीं गाथा में प्रश्न उपस्थित किया गया था कि सर्वज्ञ भगवान को किसी पदार्थ के प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा या सन्देह नहीं है तब फिर वे किस पदार्थ का ध्यान करते हैं? उसका उत्तर इस गाथा में इसप्रकार दिया गया है कि ह्व एक अग्र (विषय) का संवेदन ध्यान है । सर्व आत्मप्रदेशों में परिपूर्ण आनन्द और ज्ञान से भरे हुए सर्वज्ञ भगवान परमानन्द से अभिन्न ऐसे निजात्मरूपी एक विषय का संवेदन करते हैं इसलिये उनके परमानन्द का ध्यान है अर्थात् वे परमसौख्य का ध्यान रखते हैं ।

### गाथा १९८ पर प्रवचन

केवली भगवान स्वयं अतीन्द्रियपने वर्तते हैं ह्व निचली दशा में जड़-इन्द्रियों की तरफ लक्ष्य होने से सहज सुख और ज्ञान में बाधा पहुँचती है, तब तक सुख और केवलज्ञान नहीं हो सकता; लौकिक सुख जो परमार्थ से दुःख ही है, इन्द्रियां उसी में निमित्त हैं वे आत्मा के ज्ञान तथा सुख में निमित्त नहीं है ।

भगवान का इन्द्रियों की ओर से लक्ष्य सर्वथा छूट गया है, इसलिए शरीर तथा जड़ इन्द्रियों का सद्भाव होने पर भी उन्हें इन्द्रियों का अभाव कहा है ।

इसप्रकार भगवान स्वयं अतीन्द्रियपने वर्तते हैं ।

केवली भगवान दूसरों को भी इन्द्रियातीत हैं ह्व केवली भगवान इन्द्रियों से जानने में नहीं आते । इन्द्रियों से तो केवल उनका शरीर और वाणी ही जानने में आती है, वह तो भगवान का स्वरूप है नहीं । जो

आत्मा इन्द्रियों और मन से पार अपने स्वभाव की ओर दृष्टि करता है, वह भगवान को जान सकता है। बाह्य दृष्टि से भगवान को देखना, वह भगवान को देखना नहीं है। केवली भगवान तो आत्मा के ज्ञान से जानने में आते हैं; इसलिए वे इन्द्रियातीत हैं।

केवली भगवान के सर्वप्रदेश ज्ञान और सुख से भरे हुए हैं ह्व भगवान विघ्न रहित, परिपूर्ण, परमार्थ सुख, ज्ञानदशा को प्राप्त किए हुए हैं। निचली दशा में बाधा सहित लौकिक सुख था; पर यहाँ तो जिसमें कोई बाधा न पहुँचे ऐसा परमार्थिक अनाकुल सुख प्रगट हुआ है। जहाँ छद्मस्थ दशा में निश्चित प्रदेशों से ज्ञान का कार्य देखा जाता था। अब आत्मा के असंख्य प्रदेशों में केवलज्ञान प्रगट हो गया है। केवली भगवान का आत्मा अनन्तसुख और ज्ञान से समृद्ध हो गया है, इसलिए उनको कोई अभिलाषा, जिज्ञासा और संदेह नहीं होता है।

केवली भगवान को परिपूर्ण सिद्धदशा होने तक शुक्लध्यान होता है ह्व केवली भगवान के परिपूर्ण सिद्धदशा होने तक शुक्लध्यान होता है, क्योंकि वे अनाकुल रूप से एक आत्म विषय में अनुभवरूप से स्थित रहते हैं, ऐसा होने पर भी केवली भगवान अपूर्व और अनाकुल लक्षण परम सुख को ध्याते हैं और ऐसे आत्मस्थित रहने से सहज ज्ञान, आनन्द स्वभाव रूप सिद्धदशा की प्राप्ति हो जाती है। छद्मस्थदशा में जैसा ध्यान होता है, अरहंत भगवान को वैसा ध्यान नहीं करना पड़ता; परन्तु परम अत्यन्त सुख प्रगट नहीं हुआ है, योग गुण की अशुद्धता है। चार प्रतिजीवी गुणों की पर्याय में अशुद्धता है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी शुद्धरूप से प्रगट नहीं हुआ है, अरहंत भगवान की आत्मा में इतनी अपूर्णता है और निमित्त रूप चार अघाति कर्म शेष हैं, स्वपर्याय की इतनी अपूर्णता मिटाने के लिए उन्हें (१३वें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान को) छद्मस्थ की तरह कोई विकल्प/पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; आत्म अनुभव में स्थित रहने से क्रम-क्रम से मलिनता समाप्त होकर सिद्धदशा प्रगट होती है।

एक में अवस्थित रहने से भगवान को शुक्लध्यान कहा है। इतनी

मलिनता भगवान को स्वयं के कारण से है, यह भी स्वीकार करना चाहिए। यह मलिनता अघातिकर्म बाकी होने के कारण कहना मिथ्या है। स्वयं के उपादान की उस-उस समय की योग्यता के अनुसार केवली भगवान तेरहवें गुणस्थान में हैं, सिद्ध होना बाकी है, इससे उन्हें ध्यान कहा है।

आत्मा की और पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा कब कहलायेगी ह्व जिन जीवों को अपनी आत्मा की तथा पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा, ज्ञान करना हो उन्हें निम्न बातें स्वीकार करना चाहिए।

१. वस्त्र-पात्र सहित मुनिपना नहीं होता और सम्यग्दर्शन बिना नग्नता धारण करे तो भी मुनिपना नहीं होता। सम्यग्दर्शन सहित अन्तरस्वरूप रमणता से जो शुद्धता प्रगट हुयी है, उसके साथ नग्न दिगम्बरदशा होती है, उसे मुनिपना कहते हैं।
२. ग्रहस्थाश्रम अथवा स्त्रीपर्याय में केवलज्ञान नहीं होता, जहाँ केवलज्ञान प्रगट होता है, वहाँ पुरुष शरीर और नग्न दिगम्बरदशा ही होती है; अन्य नहीं।
३. केवली भगवान को पीड़ा, रोग इत्यादि नहीं होते, दूसरों को उपदेश देने का विकल्प नहीं होता, अन्तरंग में परिपूर्ण वीतरागदशा और बहिरंग में बाधा रहित परम औदारिक शरीर होता है, इच्छा बिना ॐकार अनक्षरी दिव्यध्वनि होती है।
४. सभी मुक्त आत्मा मिलकर एक नहीं हो जाते। प्रत्येक आत्मा जुदा-जुदा स्वतंत्र रहता है, आत्मा में एक नहीं अनंत गुण होते हैं। एक गुण में पूर्णता प्रगट हुई है इसलिए सब गुणों में उसीसमय पूर्णता होगी ऐसा नहीं होता, गुणों में विकास क्रम से होता है ह्व ऐसे गुणों की स्वतंत्रता स्वीकार करनी चाहिए।  
वस्तु एकांत अद्वैत नहीं; पर द्वैताद्वैत है। वस्तु एक है; पर गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेक है, उसमें गुण एक साथ अक्रमरूप हैं, पर पर्यायों क्रम-क्रम से होती हैं। सभी द्रव्य गुण-पर्याय सहित उत्पाद-व्यय

वाले होते हैं, ऐसा स्वीकार करके अपने आत्मा की सच्ची श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; परन्तु सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, इसलिए चारित्र होकर केवलज्ञान व सिद्धदशा तत्काल प्रगट होगी ऐसा नहीं होता, क्रमिक विकास होता है। श्रद्धा गुण सम्यक् है, ज्ञान सम्यक् है, पर अधूरा है और चारित्र इत्यादि गुणों में मलिनता है। इस प्रकार निर्मलता का क्रमिक विकास होता है।

६. स्वरूपस्थिरता होने से चारित्र में स्थिरता होती है और वीतरागदशा होती है। ज्ञान-दर्शन-वीर्य इत्यादि अनन्तवें भाग हैं, उनका पूर्ण विकास नहीं हुआ ह्व ऐसा समझना चाहिए।
७. स्वज्ञेयपर्याय अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्यरूप प्रगटती है, पर परम अव्याबाध सुख नहीं प्रगटा; क्योंकि उसके अनेक दूसरे गुणों में पूर्णता प्रगट नहीं हुई है। चार प्रतिजीवी गुण, योगगुण, वैभाविक गुण प्रदेशत्व वगैरह गुणों में अभी अशुद्धता है। इतनी स्वज्ञेय की परिपूर्णता में अपूर्णता है; किन्तु यह अघातिकर्मों के कारण नहीं; अपनी स्वयं की योग्यता के कारण हैं; इसलिए वहाँ शुक्लध्यान है, उसमें भी क्रमिक विकास है।
८. इस शुक्लध्यान से ही परिपूर्णदशा प्रगट होती है। उसमें निमित्तरूप शरीर अथवा कर्म नहीं होता। एक सिद्ध दूसरे सिद्ध से मिल नहीं जाता। वहाँ प्रतिसमय पर्यायों में परिवर्तन हो रहा है। सहज सुख का आनन्द भोग रहे सिद्ध पुनः संसार में नहीं आते। इसप्रकार स्वज्ञेय की पर्याय सिद्ध अवस्था में परिपूर्ण होती है।

ऐसे यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान होने से और अपनी आत्मा में ऐसी श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) प्रगट करने पर पंचपरमेष्ठी की यथार्थ श्रद्धा हुई ह्व ऐसा कहने में आता है।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न कथन पद्धति को समझना चाहिए, समयसार में कहते हैं कि जिसने आत्मा की सच्ची प्रतीति कर सम्यग्दर्शन प्रगट किया वह सिद्ध हो गया और ज्ञानी के भोग को निर्जरा का कारण कहा है।

वहाँ चारित्र को गौण कर दर्शनप्रधान कथन किया गया है। यहाँ प्रवचनसार में ज्ञान प्रधान कथन करते हुए इस गाथा में कहते हैं कि केवलज्ञान प्रगट होने पर भी अशुद्धता बाकी है। यहाँ अर्हत की ज्ञेयपर्याय का यथार्थ ज्ञान कराना है, इसलिए १३वें गुणस्थान में योगगुण इत्यादि में अशुद्धता होने से स्वज्ञेय की पर्याय में अशुद्धता है ह्व ऐसा बताया है। इस अशुद्धता का नाश कर सिद्धदशा प्रगट करने के लिए यहाँ शुक्लध्यान कहा है। यह ज्ञेय अधिकार है; अतः ज्ञेयपर्याय का यथार्थ ज्ञान कराते हैं।

**भावार्थ :** ह्व भगवान को ध्यान का क्या काम? इसके उत्तर में यह गाथा कहती है कि एक अग्र के विषय का संवेदन ध्यान है। सर्व आत्मप्रदेशों में परिपूर्ण आनंद और ज्ञान से भरे सर्वज्ञ भगवान का परमानंदरूप अपने निजात्मा में मात्र अपने रूप से संवेदन करनेवाले होने से, उन्हें परमानंद का ध्यान है, वे परमसुख को ध्याते हैं। ●

भाई, ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है ह्व ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जम जाना, रम जाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एकबार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर! अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायगा, लीन हो जायगा, समाधिस्थ हो जायगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख।

**ह्व आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८३**

### प्रवचनसार गाथा १९९

अब, यह निश्चित करते हैं कि ह्व 'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्ष का मार्ग है' :ह्व

**एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मगं समुट्टिदा समणा ।**

**जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमगस्स ॥१९९॥**

( हरिगीत )

निर्वाण पाया इसी मग से श्रमण जिन जिनदेव ने ।

निर्वाण अर निर्वाणमग को नमन बारंबार हो ॥१९९॥

अन्वयार्थ :ह्व [ जिनाः जिनेन्द्राः श्रमणाः ] जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (अर्थात् सामान्यकेवली, तीर्थकर और मुनि) [ एवं ] इस (पूर्वोक्त ही) प्रकार से [ मार्ग समुत्थिताः ] मार्ग में आरूढ़ होते हुए [ सिद्धाः जाताः ] सिद्ध हुए [ नमोऽस्तु ] नमस्कार हो [ तेभ्यः ] उन्हें [ च ] और [ तस्मै निर्वाणमार्गाय ] उस निर्वाणमार्ग को ।

टीका :ह्व सभी सामान्य चरमशरीरी, तीर्थकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तिलक्षण (शुद्धात्मतत्व में प्रवृत्ति जिसका लक्षण है ऐसी) विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए; किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधि से भी सिद्ध हुए हों। इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं। अधिक विस्तार से बस हो! उस शुद्धात्मतत्व में प्रवर्ते हुए सिद्धों को तथा उस शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को, जिसमें से भाव्य और भाव का विभाग अस्त हो गया है ह्व ऐसा नोआगमभाव नमस्कार हो! मोक्षमार्ग अवधारित किया है, कृत्य किया जा रहा है, (अर्थात् मोक्षमार्ग निश्चित किया है और उसमें) प्रवर्तन कर रहे हैं।

### गाथा १९९ पर प्रवचन

शुद्धात्मा की श्रद्धा, ज्ञान, रमणता ये ही एक मोक्ष का मार्ग है अन्य नहीं ह्व सभी केवली भगवन्तों, तीर्थकरों तथा एक भवतारी संतों ने शुद्धात्मा

में प्रवृत्ति की विधि से ही मोक्षमार्ग पाया और इसी विधि से सिद्ध पद की प्राप्ति की। शरीर, मन, वाणी की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता है। पुण्य-पाप विकार हैं; जबकि आत्मा विकार रहित सुख स्वरूपी है ह्व ऐसी अन्तर प्रतीति, ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान और उसी में अन्तर स्थिरता ही एक मोक्षमार्ग की विधि है। तत्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है। इन तीनों का एक समावेश शुद्धात्मतत्व की प्रवृत्ति में हो जाता है। अनंत सिद्धों, केवलियों, संतों ने इसी एक मार्ग से सिद्धदशा को प्राप्त किया है, उन्होंने देह की क्रिया या पुण्य से मोक्ष पाया हो ह्व ऐसा नहीं है। पुण्य-पाप की निवृत्तिपूर्वक स्वभाव में रमणता करना ही मोक्ष की विधि है, दूसरी कोई नहीं। चौथे काल में यही विधि थी और अब इस पंचम काल में भी यही विधि है, पंचमकाल के लिए, कोई दूसरी विधि नहीं है। महाविदेह क्षेत्र हो या भरत क्षेत्र या अन्य जो भी क्षेत्र हो सर्वत्र मोक्ष की विधि एक ही है।

अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अद्भुत टीका की है। देहदेवल में रहता हुआ राग से जुदा भगवान आत्मा अन्तर श्रद्धा से मुक्तदशा को प्राप्त करता है। दया-दान-यात्रा इत्यादि के भाव से कोई मुक्त नहीं होता; पर बहुत जीव अज्ञान से कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय हो जावेगा ह्व यह बात ही मिथ्या है। व्यवहार कहते ही आरोपित कथन को हैं। आरोप कहाँ होता है? कोई निश्चय श्रद्धा, ज्ञान, रमणता स्वयं में प्रगट करे तो उसके विकल्प पर व्यवहार का आरोप आता है।

जिसप्रकार पानी में पानीपना कायम रहते हुए लहर-तरंग उठती है उसीप्रकार आत्मा में आत्मपन कायम रहते हुए अवस्था बदलती है। पुण्य से धर्म होता है या पर से लाभ होता है ह्व ये उल्टी मान्यता है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है ह्व ऐसी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करने से वीतराग पर्याय उत्पन्न होती है अर्थात् विपरीत श्रद्धा/ज्ञान का व्यय होकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की पर्याय उत्पन्न होती है। पुण्यपाप से रहित ज्ञानानंद स्वभाव में



प्रवृत्ति ही मोक्षमार्ग है, दूसरा अन्य नहीं। आचार्य भगवान कहते हैं कि इस विषय में बहुत कहा जा चुका है; अतः अब विस्तार से बस हो।

**पूर्णशुद्ध दशा को प्राप्त सिद्धों तथा शुद्धदशारूप मोक्षमार्ग को नो-आगम-भाव-नमस्कार हो :** ह्म शुद्धात्मस्वभाव में वर्तते हुए सिद्ध भगवन्तों तथा आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग को मेरा नो-आगमभाव नमस्कार हो।

यहाँ शुद्ध आत्मा भाव्य है ह्म ध्येय है, ध्यान करने योग्य है और मेरी पर्याय ध्यान करने वाली है, भावक है ह्म ऐसे भाव्य-भावक का भेद अस्त हो जाता है। शुद्ध आत्मा वंद्य है और मैं वंदन करने वाला हूँ ह्म शुद्धआत्मा आराध्य है और मेरी पर्याय आराधना करने वाली है। ऐसा भेद अस्त हो गया है, इसप्रकार नोआगम भाव नमस्कार हो। आत्मा परिपूर्ण ज्ञायक स्वरूप है, उस ज्ञानरूप परिणमना ही भाव नमस्कार है, आत्मा के उस ज्ञान को आगम भाव नमस्कार कहते हैं तथा इस ज्ञान सहित एकाग्रता रूप परिणमना नो-आगम भाव नमस्कार है।

**पंचमकाल में आचार्य भगवान की मोक्षमार्ग में दृढ़ता और पुरुषार्थ :** ह्म अहो! स्वरूप की अन्तर रमणता करते हुए भावलिङ्गी संत अपने स्वसंवेदन ज्ञान अनुभव सहित बात कहते हैं ह्म हमारे आत्मा ने अब मोक्षमार्ग प्रगट किया है तथा अंतरंग में वीतरागदशा बढ़ती जा रही है। आनंदकंद स्वभाव में रमणता और बहिरंग में नग्न दिगम्बरदशा वर्त रही है। संयम के साधन पीछी और कमण्डल के सिवा और कुछ परिग्रह नहीं है। आचार्य भगवान को अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान न होने पर भी मोक्षमार्ग का निर्णय है। अब सिद्ध होना है ह्म ऐसी जाहेरात करना चाहिए।

कितनी दृढ़ता और पुरुषार्थ है। आत्मा की साक्षी है। भगवान से पूछने की जरूरत ही नहीं पड़ती। अज्ञानी जीवों को तो शंका होती है कि मैं जीव हूँ कि अजीव? भगवान से पूछने पर भगवान कहते हैं कि तू तो जीव है तब उन्हें अपनी खबर पड़ती है।

ऐसे स्थूल अज्ञानी जीव कभी मुक्ति प्राप्त नहीं करेंगे। जिन्हें जीव-अजीव का निर्णय ही नहीं है, वे अपने ज्ञान स्वभाव का निर्णय कैसे कर सकते हैं। यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि ये निर्दोष मोक्षमार्ग अवतरित हुआ है। जो जीव ज्ञानस्वभावी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करेंगे, वे सम्यग्दर्शन प्रगट कर मुक्ति को अवश्य प्राप्त करेंगे।

चरम शरीरी हो तो इसी भव में अथवा अचरम शरीरी हो तो एकाध भव बाद मुक्ति प्राप्त करेंगे। यह विशेष बात नहीं है। मुझे तो मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना चाहिए। यहाँ आचार्य भगवान अनुभव सहित मोक्षमार्ग बतला रहे हैं। ●

### सार और संसार

प्रतिकूल संयोगों को दूरकर एवं अनुकूल संयोगों को मिलाकर सुखी होने की दिशा में किये गये किसी के भी प्रयत्न न तो आजतक सफल हुए हैं और न कभी होंगे; अतः संयोगों पर से दृष्टि हटा लेने में ही सार है, शेष सब संसार है।

सुख की लालसा से संयोगों की ओर देखनेवाले जगत को इस बात का विचार करना, चिन्तन करना, मंथन करना अत्यन्त आवश्यक है कि जिन संयोगों के लिए तू इतना लालायित हो रहा है, जिन्हें जुटाने के लिए सबकुछ भूलकर जमीन-आसमान एक कर रहा है; उनमें सुख है भी या नहीं, उनके मिल जाने पर सुख प्राप्त होगा भी या नहीं?

कहीं ऐसा न हो कि सम्पूर्ण जीवन उनके जुटाने में ही बीत जावे और वे जुट ही न पावें; क्योंकि इन संयोगों का जुटाना मेंढकों के तोलने जैसा असाध्य है; तराजू पर एक रखो तो दो उछलकर नीचे कूद पड़ते हैं। जबतक एक संयोग जुटता है, तबतक दूसरा बिखर जाता है। **ह्म बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-४८-४९**

### प्रवचनसार गाथा २००

अब, 'साम्य को प्राप्त करता हूँ' ऐसी (पाँचवीं गाथा में की गई) पूर्व प्रतिज्ञा का निर्वहण करते हुए (आचार्यदेव) स्वयं भी मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति करते हैं :ह

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण ।

परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि ॥२००॥

( हरिगीत )

इसलिए इस विधि आत्मा ज्ञायकस्वभावी जानकर ।

निर्ममत्व में स्थित मैं सदा ही भाव ममता त्याग कर ॥२००॥

अन्वयार्थ :ह [ तस्मात् ] ऐसा होने से (अर्थात् शुद्धात्मा में प्रवृत्ति के द्वारा ही मोक्ष होता होने से) [ तथा ] इसप्रकार [ आत्मानं ] आत्मा को [ स्वभावेन ज्ञायकं ] स्वभाव से ज्ञायक [ ज्ञात्वा ] जानकर [ निर्ममत्वे उपस्थितः ] मैं निर्ममत्व में स्थित रहता हुआ [ ममतां परिवर्जयामि ] ममता का परित्याग करता हूँ ।

टीका :ह मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व की त्यागरूप और निर्ममत्व की ग्रहणरूप विधि के द्वारा सर्व आरम्भ (उद्यम) से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ; क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है । (अर्थात् दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है ।) वह इसप्रकार है (अर्थात् मैं इसप्रकार शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ) :ह प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व (समस्त पदार्थों) के साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है, किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं हैं; इसलिये मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है । अब, एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को ह मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गए

हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों, इसप्रकार ह एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है, ज्ञेयज्ञायकलक्षण<sup>१</sup> संबंध की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्तशक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता, जो अनादि संसार से इसी स्थिति में (ज्ञायक भावरूप ही) रहा है और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना ह माना जाता है उस शुद्धात्मा को यह मैं मोह को उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ यथास्थित (जैसा का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ ।

इसप्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता के कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत ऐसा यह निज आत्मा को तथा तथाभूत (सिद्धभूत) परमात्माओं को, उसी में एकपरायणता<sup>२</sup> जिसका लक्षण है ह ऐसा भावनमस्कार सदा ही स्वयमेव<sup>३</sup> हो ।

### गाथा २०० पर प्रवचन

देखो ! इस पंचमकाल में दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द और एक हजार वर्ष पूर्व अमृतचन्द्राचार्य हो चुके हैं । उनको अवधि और मनःपर्यय ज्ञान न होने पर भी वे कहते हैं कि 'यह मैं मोक्षाधिकारी हूँ' । अज्ञानी जीव रुपया पैसा इत्यादि का अधिकारी होता है और आचार्य भगवान कहते हैं कि 'मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ' । कितनी दृढ़ता! यद्यपि पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता; क्योंकि इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं होती । फिर भी मैं तो केवल ज्ञायकस्वभावी ही हूँ, आत्मा के सिवाय परपदार्थ

१. ज्ञेयज्ञायकस्वरूप सम्बन्ध टाला नहीं जा सकता, इसलिये यह अशक्य है कि ज्ञेय ज्ञायक में ज्ञात न हों, इसलिये आत्मा मानों समस्त द्रव्यरूपता को प्राप्त होता है ।
२. उसी में = नमस्कार करने योग्य पदार्थ में; भाव्य में । (मात्र भाव्य में ही परायण, एकाग्र, लीन होना भावनमस्कार का लक्षण है ।)
३. स्वयमेव = (आचार्यदेव शुद्धात्मा में लीन होते हैं इसलिये स्वयमेव भावनमस्कार हो जाता है ।)

तथा दयादान इत्यादि के भाव तो मेरे ज्ञेय हैं, उनका मैं ज्ञाता हूँ। वे मेरे दृश्य हैं, मैं उनका दृष्टा हूँ। जगत का साक्षी हूँ। जिसप्रकार मैं ज्ञायक हूँ; उसीप्रकार निगोद से लेकर केवली पर्यन्त जगत के सभी जीव ज्ञायक स्वभावी हैं। यह ज्ञायक स्वभाव कहीं बाहर से अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु से नहीं आता, अन्तर में ही है। अज्ञानी जीव की संयोगी बुद्धि होने के कारण वह मैं मनुष्य हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री, पण्डित, मूर्ख हूँ ह इसप्रकार मानता है, उसकी यह मान्यता मोह है, पर्यायदृष्टि है। आत्मा संयोग तथा राग को जाननेवाला ज्ञायक स्वभावी है, चैतन्यमूर्ति है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि मैं मोक्षाधिकारी, ज्ञायक स्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक, ममत्व के त्याग और निर्ममत्व के ग्रहणरूपी विधि से सर्व उद्यमपूर्वक शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ।

देखो! यहाँ तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक कहा है; क्योंकि तत्त्वों के सच्चे ज्ञान बिना ममत्व का त्याग और निर्ममत्वता की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञाता दृष्टास्वभावी जीवतत्त्व है, शरीर-मन-वाणी अजीव तत्त्व हैं। दया-दान आदि के परिणाम पुण्य तत्त्व हैं, हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि के परिणाम पाप तत्त्व हैं, पुण्य-पाप दोनों आश्रव-बंध के कारण हैं। इन नवतत्त्वों का सच्चा श्रद्धान करने से संवर-निर्जरा होती है, अन्तरस्थिरता बढ़ने में मुनिपना और क्रम-क्रम से मोक्षपर्याय प्रगट होती हैं। इस प्रकार सबका ज्ञान करके ममत्व के त्यागपूर्वक निर्ममत्वपने को ग्रहण करता हूँ।

देखो! यहाँ पर वस्तु के त्याग से शरीर का नग्नपना ग्रहण नहीं करना; क्योंकि वे तो परज्ञेय हैं। उनका ग्रहण-त्याग आत्मा नहीं कर सकता। ममता का त्याग करता हूँ, यह भी नास्ति का कथन है। ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव में लीन होने पर ममत्व का त्याग और निर्ममत्वता का ग्रहण स्वतः हो जाता है।

इसप्रकार सर्व उद्यमपूर्वक शुद्धात्मा के अनुभव में प्रवृत्त होता हूँ; क्योंकि अन्य कोई दूसरा कार्य करने योग्य नहीं है। आचार्य देव कहते हैं

कि कोई शुभभाव करने योग्य नहीं। विकल्पदशा में शुभभाव होते हैं यह जुदी बात है; पर वह शुभभाव कर्तव्य (करने योग्य) नहीं हैं।

मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। जगत के समस्त पदार्थों के साथ मेरा मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है।

मैं पर का या पर मेरा उपकार नहीं कर सकता है। अनन्तकाल से मेरे ऊपर किसी ने और मैंने किसी का उपकार किया ही नहीं; मैं मात्र ज्ञाता ही हूँ। मैं आचार्य हूँ इसलिए मैं अन्य दूसरे मुनियों, आर्यिका, श्रावक-श्राविका की रक्षा करता हूँ, शिष्यों को धर्म समझाता हूँ, यह मेरा स्वभाव नहीं है। निगोद से लेकर सिद्धपर्यन्त सभी जीवों के साथ मेरा मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है। यह संबंध भी व्यवहार से है। निश्चय से तो मैं अपने आत्मा को जानता हूँ। अपनी आत्मा को जानते हुए परज्ञेय जानने में आ जाते हैं। इतना ही व्यवहार संबंध हैं। इसके अलावा स्वस्वामी आदि दूसरा कोई संबंध नहीं है। देव-गुरु मेरे स्वामी नहीं, वे स्वयं के स्वामी हैं तथा स्त्री, कुटुंब इत्यादि का मैं स्वामी नहीं हूँ, वे अपने-अपने स्वामी हैं। पुण्य-पाप रूप जो विकार होता है। मैं उसका भी स्वामी नहीं हूँ, वे सब जानने योग्य पदार्थ (ज्ञेय) हैं और मैं उनका ज्ञायक हूँ।

ऐसे ज्ञायक स्वभाव को जानना धर्म-मोक्ष का कारण है।

आत्मा का परपदार्थों और राग के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध व्यवहार से है, निश्चय से नहीं।

इस गाथा में कुन्दकुन्द आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं शुद्धात्मा की प्राप्ति करता हूँ' सबके लिए यही एक मार्ग है। आत्मा ज्ञायक है, परपदार्थ ज्ञेय हैं ह यह संबंध भी व्यवहार से है। निश्चय से पर के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। निश्चय से आत्मा ही ज्ञेय है और आत्मा ही ज्ञायक है, परपदार्थ तथा रागद्वेष सभी पर हैं, आत्मा उनका व्यवहार से जाननहार है। पर के साथ और कोई संबंध वस्तुस्वरूप से ही नहीं। पहले ज्ञान में ऐसा निर्णय करने पर पश्चात् चारित्र में निर्मलता प्रगट होती है। इसप्रकार

यहाँ स्वज्ञेय द्रव्य की पूर्णता जाहिर करते हैं हूँ ऐसी परिपूर्णता सब जीवों को प्रगट हो सकती है।

इसप्रकार परपदार्थ तथा राग ज्ञेय और मैं ज्ञायक हूँ यह ज्ञेय ज्ञायक संबंध व्यवहार से है। निश्चय से तो पर के साथ कोई संबंध है ही नहीं। निश्चय से तो मैं स्वज्ञेय ही को जानता हूँ। इसप्रकार केवल ज्ञायक होने से मेरा परपदार्थों के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, स्वस्वामी लक्षणादिरूप अन्य संबंध नहीं है।

१. पर के साथ स्वस्वामी लक्षण संबंध नहीं है : हूँ पुत्र-पुत्रियाँ पर हैं, वे मेरे और मैं उनका स्वामी हूँ ऐसा स्वस्वामी लक्षण संबंध नहीं है। अज्ञानी जीव मानता है कि ये सब मेरे हैं; पर उसकी यह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि वे पर ज्ञेय हैं और परज्ञेय स्वज्ञेय की भाँति कभी नहीं हो सकते। मैं दूसरों की दया पाल सकता हूँ, पर की हिंसा कर सकता हूँ, धनादि रख सकता हूँ हूँ ऐसा मेरा स्वभाव नहीं। धनादि स्व और मैं उनका स्वामी ऐसा स्वस्वामी संबंध भी नहीं। मात्र मैं स्वयं ज्ञायक हूँ और अपनी ज्ञानपर्याय का स्वामी हूँ हूँ ऐसा स्व स्वामी संबंध है।

२. पर के साथ तादात्म्य लक्षण संबंध नहीं : हूँ शरीर-कर्म तथा राग-द्वेष आदि पर हैं, वे आत्मा के साथ कभी तन्मय नहीं हो सकते। परपदार्थ तो तन्मय नहीं होते पर आत्मा की पर्याय में होने वाले राग-द्वेष भी स्वभाव से तन्मय नहीं होते। कर्म का उदय आवे, सत्ता में रहे, बंध हो तो भी मेरी आत्मा में तन्मय नहीं होते; क्योंकि मेरा लक्षण ज्ञान है और उनका लक्षण भिन्न है। मेरा तो मेरे ज्ञान स्वभाव के साथ तादात्म्य है।

३. पर के साथ लक्ष्य लक्षण संबंध नहीं : हूँ परपदार्थ शरीर इत्यादि लक्षण हैं और आत्मा उन लक्षणों द्वारा लक्षित होता है हूँ ऐसा लक्ष्य-लक्षण संबंध भी नहीं है। उत्कृष्ट दयादान के शुभविकल्प लक्षण और आत्मा लक्ष्य ऐसा भी नहीं; ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य यह सच्चा लक्ष्य-लक्षण संबंध है।

४. पर जीव के साथ गुरु-शिष्य का संबंध नहीं : हूँ मैं गुरु हूँ और ये

सब मेरे शिष्य हैं। ऐसा गुरु शिष्य का संबंध मेरे में नहीं है। मैं आचार्य हूँ और साधु-आर्यिका-श्रावक-श्राविका ये चार संघ हैं। इन चार की मैं आचार्यपने रक्षा कर सकता हूँ हूँ ऐसा संबंध मेरे में नहीं है।

यहाँ स्वज्ञेय की परिपूर्णता बताई जा रही है। इसी प्रवचनसार में ज्ञान-प्रधान अधिकार में पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध बताया है। पर दृष्टिप्रधान कथनों में पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध भी स्वीकार नहीं किया है।

५. पर के साथ विशेषण विशेष्य संबंध नहीं है : हूँ देव-गुरु-शास्त्र तथा वाणी ये विशेषण और मैं इनका विशेष्य, पर के साथ मेरा ऐसा संबंध भी नहीं है। विशेषण = खास धर्म, विशेष्य = धर्मी पदार्थ, मैं धर्मी पदार्थ देव-गुरु-शास्त्र वगैरह से जानने में नहीं आता। कर्म विशेषण और आत्मा विशेष्य ऐसा विशेषण विशेष्य संबंध भी नहीं। ज्ञानदर्शन इत्यादि आत्मा के विशेषण हैं और आत्मा उन विशेषणों से जानने में आने वाला पदार्थ है, इसलिए गुण विशेषण और आत्मा विशेष्य। इसप्रकार स्वयं के गुणों के साथ आत्मा का विशेषण-विशेष्य संबंध है, पर के साथ नहीं है।

६. ज्ञेय ज्ञायक के आधीन और ज्ञायक ज्ञेयों के आधीन हूँ ऐसा पराधीन ज्ञेय-ज्ञायक संबंध नहीं : हूँ शरीर स्व और आत्मा उसका स्वामी, कर्म स्व और आत्मा उनका स्वामी ऐसा पर के साथ कोई संबंध नहीं। मैं तो उनका ज्ञायक हूँ, चूंकि मैं ज्ञायक हूँ, इसलिए ज्ञेय मेरे ज्ञान में आते हैं हूँ ऐसा नहीं। और ज्ञेय हैं, इसलिए मैं ज्ञायक हूँ हूँ ऐसा भी नहीं है। मैं हूँ तो शरीर-मन-वाणी धनादि हैं, ये पदार्थ हैं तो मैं हूँ हूँ ऐसा मानना तो अज्ञान है। ऐसी मान्यता से परपदार्थ के साथ स्वस्वामी संबंध हो जाता है। जीव पर की दया नहीं पाल सकता, लक्ष्मी नहीं रख सकता, भोग नहीं सकता हूँ ये स्पष्ट दिखने पर भी अज्ञानी जीव भ्रान्ति से मानता है कि यह शरीर मेरा है। मैं उसे चला सकता हूँ, मैं वचन बोल सकता हूँ, लक्ष्मी मेरी है, मैं उसका उपयोग कर सकता हूँ। मैं ज्ञायक हूँ और ये सब मेरे ज्ञेय हैं। मैं

प्रमाता हूँ ये सब मेरे प्रमेय, इसप्रकार से व्यवहार संबंध है। निश्चय से तो यह संबंध भी स्वभाव में नहीं है। व्यवहार से यह संबंध है इसका बहाना लेकर मैं हूँ तो शरीर है, पर हैं तो मैं हूँ हूँ ऐसा मानना मिथ्यात्व है। ज्ञायक और ज्ञेय दोनों स्वतंत्र हैं, कोई किसी के आधीन नहीं हैं हूँ ऐसी स्वतंत्रता का ज्ञान करना धर्म है।

७. पर के साथ गुण गुणी संबंध नहीं : हूँ अन्य वस्तुयें मेरी आत्मा में गुण (लाभ/हित) करती हैं, जिससे मैं गुणी होता हूँ हूँ ऐसा गुण-गुणी संबंध नहीं, सिद्ध भगवान अथवा साक्षात् केवली भगवान भी मुझे गुणी बना देवें ऐसा नहीं है, इसलिए मेरा उनके साथ भी गुण-गुणी संबंध नहीं है। अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य वगैरह मेरे गुण हैं और मैं उन गुणों का समूह गुणी हूँ हूँ ऐसा गुण-गुणी का संबंध है।

८. पर के साथ वाच्य-वाचक संबंध नहीं : हूँ परपदार्थ, वाणी जिह्वा वाचक और मैं आत्मा वाच्य ऐसा वाच्य-वाचक संबंध मेरे में नहीं; क्योंकि वाणी तो पर है और पर से आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। मेरा स्वरूप मेरे स्वयं के द्वारा वाच्य अर्थात् जानने में आये ऐसा है।

९. पर के साथ ग्राह्य-ग्राहक संबंध नहीं : हूँ यहाँ ग्राह्य का अर्थ पकड़ने योग्य और ग्राहक का अर्थ पकड़ने वाला है इतना लेना। आत्मा ग्राह्य = पकड़ में आने योग्य और परपदार्थ, राग इत्यादि वह ग्राहक = पकड़ने वाले। आत्मा पर तथा राग से पकड़ में आवे ऐसा नहीं है।

दूसरी प्रकार से आत्मा ग्राहक = पकड़ने वाला और परपदार्थ ग्राह्य = पकड़ में आने योग्य, इसप्रकार आत्मा पर पदार्थों का ग्रहण करने वाला है हूँ ऐसा भी संबंध नहीं, राग-ग्राह्य और आत्मा ग्राहक अर्थात् आत्मा राग को ग्रहण करता है हूँ ऐसा ग्राह्य-ग्राहक संबंध भी नहीं। आत्मा स्वयं-स्वयं की पर्याय को ही ग्रहण करता है।

१०. पर के साथ कर्ता कर्म संबंध नहीं : हूँ आत्मा कर्ता होकर शरीरादि को चलाता है। वाणी को परिणामाता है, इसतरह ये आत्मा के

कर्म और आत्मा कर्ता ऐसा कर्ता कर्म संबंध नहीं है। इसीप्रकार परजीव शरीरादि कर्ता तथा आत्मा में निर्मलपर्याय को प्रगटावें वह कर्म, आत्मा कर्ता और राग-द्वेषादि उसके कर्म, शुभराग कर्ता और सम्यग्दर्शनादि वीतराग-परिणाम कर्म हूँ ऐसा कर्ता कर्म संबंध नहीं है। आत्मा कर्ता और निर्मल पर्याय कर्म हूँ ऐसा स्वयं में ही कर्ता कर्म संबंध है, पर के साथ कर्ताकर्म संबंध नहीं है।

११. पर के साथ आधार-आधेय संबंध नहीं : हूँ आत्मा आधार शरीर मन वाणी आधेय हूँ ऐसा परपदार्थों को आत्मा के आधार से मानना भ्रम है। आत्मा आधार कुटुंब परिवार आधेय अर्थात् मेरे से परिवार चलता है, देवशास्त्र गुरु आधार-आत्मा आधेय, आत्मा आधार राग-द्वेष आधेय अर्थात् राग-द्वेष वस्तुस्वभाव के आधार से प्रगट होते हैं। शुभराग आधार और आत्मा का वीतरागी परिणाम आधेय अर्थात् शुभ राग के आश्रय से धर्म प्रगट होता है हूँ इसप्रकार के आधार आधेय संबंध आत्मा में नहीं हैं। आत्मा आधार और ज्ञान दर्शनादि गुण आधेय हूँ ऐसा आधार आधेय संबंध है।

१२. पर के साथ रक्ष्य रक्षक संबंध नहीं है : हूँ पिता रक्षक होकर पुत्र-पुत्रियों की रक्षा करे हूँ ऐसा रक्ष्य रक्षक संबंध नहीं। देव-गुरु रक्षक तथा शिष्य-शास्त्र-शासन रक्षा योग्य ऐसा भी नहीं है। आत्मा रक्षक और मेरी निर्मल पर्याय रक्ष्य ऐसा संबंध है।

तीर्थंकर धर्म पिता मुमुक्षु पुत्र को कहते हैं कि पर के साथ जानना मात्र ही तेरा संबंध है।

इस प्रकार पर पदार्थों के साथ स्वस्वामी लक्षणादि संबंध नहीं है। पर सहज ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है। पिता अपने पुत्र को कहता है कि जिसप्रकार विवाहादि के अवसर पर सगे-संबंधियों का तो भोजन से सत्कार किया जाता है; परन्तु पड़ौसी को तो सोंफ-सुपारी देना, इतना मात्र संबंध होता है। उनके साथ और कोई विशेष व्यवहार नहीं होता।

उसीप्रकार यहाँ त्रिलोक धर्म पिता अपने मुमुक्षु पुत्र को कहते हैं कि

हूँ हे भाई सुन! जिसप्रकार मैं जगत का साक्षी हूँ, सब पदार्थों का ज्ञायक हूँ हूँ उसीप्रकार तुम्हारा स्वभाव भी ज्ञायक है। तू मेरी जाति का है मेरा लघुनंदन है फिर पर के साथ कोई भी संबंध क्यों रखना? मैं तुझे कहता हूँ ज्ञानदर्शनादि गुण तथा उनकी पर्याय मात्र तेरी है। निश्चय से इन्हीं से तुम्हारा ज्ञेय ज्ञायक संबंध है। व्यवहार से पर ज्ञेय को जानना इतना संबंध है। देव गुरु शास्त्र, स्त्री, कुटुंब, परिवार, शरीर, मन, वाणी तुम्हारे पड़ोसी हैं इनके साथ मात्र जानने का संबंध है। ये जो शुभाशुभ भाव होते हैं ये भी तेरे ज्ञेय हैं, इनसे तेरा जानने मात्र का संबंध है। कुटुंब, शरीर आदि से कोई किसी प्रकार का संबंध नहीं है। देव-गुरु शास्त्र तुझे धर्म करा देंगे हूँ ऐसा भी सम्बन्ध नहीं है और दया-दानादि के विकल्प उठते हैं, उनसे भी तेरा संबंध नहीं। सबको जानना ही तेरा स्वभाव है।

आचार्य भगवान घोषणा करते हैं कि 'अब पर तथा पुण्य मेरे हैं हूँ ऐसी मिथ्या भ्रान्ति मिटाओ।'

यहाँ तीर्थंकर के समान धर्मपिता कुन्दकुन्द आचार्य देव कहते हैं कि पर के साथ संबंध जोड़ने वाले उपरोक्त सभी संबंध मिथ्या हैं, इन संबंधों के कारण चौरासी लाख योनि में भ्रमण रूपी दुकान चलती थी, अब इसे बंद करो। स्त्री-पुत्र परेशान करते हैं, कर्मों से लड़ाई करना, देव-शास्त्र-गुरु मेरा भला करते हैं, इन मान्यताओं को छोड़ो। मैं पुत्र को समझाता हूँ, पर वह समझता ही नहीं, यह मान्यता ही संसार है। तुम्हारा पुत्र ही कहाँ था, पिता का पुत्र नहीं, पुत्र का पिता नहीं, दोनों स्वतंत्र जीव हैं, मेरा पुत्र और मैं उसका पिता ऐसी मिथ्या मान्यता की शल्य बंद करो। जगत के समस्त पदार्थ मेरे जानने योग्य हैं, इससे अधिक और कोई संबंध नहीं। ऐसा ज्ञायक स्वभाव पर्याय में प्रगट होने पर धर्म होता है, चौरासी का चक्कर मिटता है, मेरा सबके साथ मात्र जानने-देखने मात्र का संबंध है।

आचार्य भगवान सब पदार्थों के प्रति निर्ममत्व वर्तते हैं :हूँ आचार्य भगवान कहते हैं कि विश्व के समस्त पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, इसलिए मुझे उनसे कोई ममत्व नहीं, निर्ममत्व है। कोई बिगड़े अथवा

सुधरे मेरा उनसे कोई संबंध नहीं। शिष्य के धर्म पालने से मेरा कुछ सुधरता नहीं और धर्म न पालने से मेरा कुछ बिगड़ता नहीं।

शिष्य कहता है कि हूँ हे भगवान! आप तो धर्म के स्तंभ हो। आपके स्वर्ग पधारने के बाद इस शासन को कौन चलायेगा। आचार्य भगवान उत्तर देते हैं कि हूँ मैंने तो पहले ही यह निर्णय कर लिया है कि शासन के साथ मेरा कोई संबंध नहीं, शासन पहले से ही हमारे आधार से नहीं है।

जीवों को स्वयं की योग्यता से धर्म की प्राप्ति होती है। शासन रक्ष्य मैं उसका रक्षक ऐसा संबंध ही नहीं है। ज्ञेय-ज्ञायक संबंध मात्र है। अन्तर में चैतन्य का ज्ञायक स्वभाव कभी भी पर रूप नहीं हुआ। घर के बाहर गड्डे के पानी में भैंस कीचड़ मचाती हो और कोई शिकायत करे कि भैंस कीचड़ मचा रही है तो घर का स्वामी कहता है कि न तो भैंस मेरी है न ही पानी। इसका ध्यान रखना मेरा काम नहीं। उसी प्रकार परपदार्थ स्वयं के कारण नष्ट होते हैं, इससे मेरा कोई संबंध नहीं, कोई आचार्य भगवान से शिकायत करे कि पुस्तक फट गयी, मकान टूट गया, कोई शिष्य मर गया, आचार्य कहते हैं कि पुस्तक मेरी कब थी? कौन शिष्य? मेरा कोई शिष्य नहीं, पर के साथ मेरा कोई संबंध नहीं, पर के कारण मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। यहाँ दृष्टिपूर्वक विशेष लीनता की बात है। आचार्य देव कहते हैं कि मेरा तो सर्वत्र निर्ममत्व ही वर्तता है।

भगवान आत्मा एक ज्ञायक भाव रूप से वर्तता है, उसका स्वभाव सभी ज्ञेयों को जानना है, वे ज्ञेय कैसे हैं?

वे क्रम रूप से प्रवर्तमान अनंत भूत-वर्तमान भावी विचित्र पर्याय समूह वाले हैं।

क्रम रूप से प्रवर्तमान हूँ देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुंब, परिवार, शरीर, मन, वाणी हूँ इन सब ज्ञेयों की पर्यायें क्रम से प्रवर्तती हैं। रोगी जीव विचार करता है कि यह दवा पहले न आकर अब मैंने इच्छा की इसलिये आयी। पर ऐसा नहीं है। यह ज्ञेय पर्याय तो क्षेत्र क्रम में प्रवर्तती हुयी आयी है। कोई जीव पहले समझता नहीं था, बाद में गुरु उपदेश के निमित्त

समझने लगा, यह समझपर्याय उपदेश के कारण आयी? ऐसा नहीं है। यह तो अपने क्रम के अनुसार प्रवर्तती हुयी आयी है।

अनंत हैं ह्य पर्यायें अनंत हैं, एक द्रव्य की जितनी भूतकाल की पर्यायें हो गई हैं, उनसे भविष्यकाल की पर्यायें अनंतगुणी हैं, इसप्रकार अनंत ज्ञेय अनंती पर्यायों वाले हैं।

पदार्थ भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूह वाला है। एक जीव अनादि से नित्य निगोद में है, व्यवहार राशि में कभी आया नहीं वह जीव शुभभाव करके दूसरे समय में पंचेन्द्रिय मनुष्य होकर मुनिपना अंगीकार कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। पिछले भव का निगोदिया, अब मनुष्य होकर सिद्ध हो गया यह क्या? यह उस-उस समय की ज्ञेय पर्याय की स्वतंत्रता है, विचित्रता है। एक आठ वर्ष का बालक मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पहिले समय चक्रवर्ती और दूसरे समय में सातवें नरक का नारकी। इतना बड़ा फेरफार? संध्या समय बादल में लालिमा होकर तुरंत गायब हो जावे यह क्या? 'यह क्या' इस प्रश्न को अवकाश ही नहीं है, वे ज्ञेय क्रम रूप से प्रवर्तते हुये विचित्र पर्याय समूह वाले हैं, कोई अकस्मात नहीं। ज्ञेयों की क्रमबद्ध पर्याय की हारमाला क्रम विचित्रता रूप से परिणम रही है। मेरे ज्ञायक स्वभाव में ऐसा ही जानना योग्य है।

ज्ञेय अगाध स्वभाव वाला गंभीर है ह्य ज्ञेय कब, कैसा होगा? यह छद्मस्थ के ज्ञान में नहीं आता। ज्ञेयों में अचानक ऐसा बदलाव आता है कि छद्मस्थ स्तब्ध रह जाता है। बीस वर्ष का हृष्टपुष्ट कल शाम तक अच्छा था। आज सुबह हार्ट फेल हो गया। यह क्या? किसी को एक साधारण फुंसी हुयी उसे निकलवाने गया एकदम आधा शरीर शून्य पड़ गया? एकायक शून्यता कहाँ से आयी? संयोग के कारण? ध्यान नहीं रखा इसलिए? भाई! परद्रव्य के कारण नहीं यह तो ज्ञेय अगाध, गंभीर स्वभाव वाला है। वह स्वयं के कारण से पलटता है और जिसप्रकार फोड़ा ऊपर हो और अन्दर से सड़ता हो उसकी बाहर से खबर नहीं पड़ती;

उसीप्रकार ज्ञेयों का स्वभाव गंभीर है। कब कैसे प्रगट होंगे अल्पज्ञ को इसकी खबर नहीं पड़ती। इसप्रकार ज्ञेय क्रमरूप से प्रवर्तते हुए अनेक प्रकार के अनंती पर्यायों वाले हैं। अगाध गंभीर स्वभाव वाले हैं। एक ज्ञायक भाव का सर्वज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमप्रवर्तता हुआ, अनंत भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूह वाला, अगाध स्वभाव और गंभीर ऐसे समस्त द्रव्य मात्र को जानता है। वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों।

ऐसे अनंत ज्ञेयों को शुद्धात्मा एक समय में प्रत्यक्ष जानता है।

इन ज्ञेय पदार्थ को छद्मस्थ जीव भले ही एक के बाद एक ऐसा क्रम से जानते हों; परन्तु यह ज्ञायक का मूल स्वभाव नहीं है। समस्त द्रव्यों के भूत-वर्तमान-भावी काल की होनेवाली अनेक प्रकार की अनंत पर्यायों सहित एक समय में ही प्रत्यक्ष जानने का आत्मा का स्वभाव है।

१. ज्ञेय उत्कीर्ण हो गये हों - जिसप्रकार चट्टानों पर अक्षर उकेरे होते हैं, वे मिटते नहीं हैं; उसीप्रकार ज्ञायक स्वभाव में भूत-वर्तमान-भावी अनंत पर्यायों वाले ज्ञेय उत्कीर्ण हो गये हैं, उन्हें भी वहाँ से मिटाया नहीं जा सकता।

२. ज्ञेय चित्रित हो गये हैं : ह्य जिसप्रकार दीवाल के ऊपर चित्र चित्रित होते हैं; उसीप्रकार ज्ञायक रूपी दीवार पर सभी ज्ञेय चित्रित होते हैं।

३. ज्ञेय समा गये हैं : ह्य जिसप्रकार दर्पण में सभी वस्तुयें एक के ऊपर एक समायी हुई दिखाई देती है, उसीप्रकार ज्ञायक स्वभाव में सभी ज्ञेय समा गये हैं। अनंत केवली, तीर्थङ्कर, सिद्ध मेरे ज्ञान में समा गये हैं, मैं अनंत केवलियों का जानकार हूँ।

४. ज्ञेय कीलित हो गये हों ह्य जिसप्रकार दीवाल में खूँटा ठोक दिया जाता है, उसीप्रकार चैतन्य शक्ति में अनंत ज्ञेय कीलित हो गये हैं।

५. ज्ञेय डूब गये हों : ह्व जिसप्रकार पानी में मनुष्य डूब जाता है, उसी प्रकार चैतन्य समुद्र में लोकालोक के ज्ञेय डूब गये हैं।

६. ज्ञेय समा गये हों : ह्व स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान स्व को जानता है और पर प्रकाशक ज्ञान में सभी ज्ञेय जानने में आ जाते हैं। इसप्रकार इतने ज्ञेय मेरे में समा गये हों ह्व ऐसा लगता है।

७. प्रतिबिम्बित हो गये हों : ह्व जिस प्रकार दर्पण में समस्त पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसीप्रकार ज्ञायक स्वभाव में समस्त ज्ञेयों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। इसप्रकार सब ज्ञेयों को शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है। वर्तमान में साधक दशा होने पर भी केवलज्ञान मेरा स्वभाव है। अनंत ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जाने ह्व ऐसा मेरा आत्मा है। मैं सिद्ध होने योग्य हूँ, ज्ञानी ऐसा मानता है।

ज्ञेय ज्ञायक संबंध के व्यवहार से अनेक कारण होने पर भी ज्ञायक स्वभाव एक ही है।

यह शुद्धात्मा कैसा है? आत्मा जाननहार है और समस्त पदार्थ जानने में आने योग्य हैं, इसलिए परपदार्थों को न जानने से आत्मा जानने में नहीं आयेगा ह्व ऐसा नहीं है।

१. ये ज्ञेय मेरे हैं ह्व ऐसी ममता नष्ट हो जाती है।

२. परज्ञेयों की पर्यायों मेरे ज्ञायक स्वभाव के कारण हैं ऐसा नहीं है।

३. मेरे ज्ञायक स्वभाव की पर्याय परज्ञेयों के कारण है ऐसा भी नहीं है।

४. मेरे में व्यवहारनय से जो विश्वरूपता (अनेकरूपता) दिखाई देती है वह अनेक ज्ञेयों के कारण नहीं है; बल्कि मेरे स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान की पर प्रकाशक शक्ति के कारण ही यह अनेक रूपता दिखाई देती है।

इसप्रकार व्यवहारनय से स्वयं के कारण अनेकरूप होता हुआ भी मेरा शुद्धात्मा एकरूपता को नहीं छोड़ता।

अनादिकाल से अनंतभवों में शुद्धात्मा ज्ञायकभाव रूप ही शुद्ध रहा है।

अनादिकाल से आत्मा ज्ञायक रूप से ही रहा है। जीव कीड़ी हो या मकड़ी, मोक्षमार्ग में हो या सर्वार्थसिद्धी में, अल्पज्ञ हो या सर्वज्ञ। रंक हो या राजा, सर्वत्र-सर्वदा शुद्धात्मा ज्ञायकस्वभावरूप से ही रहता है। लोग कहते हैं कि आदिनाथ भगवान ने संसार को ७२ कला सिखाई। भगवान कहते हैं कि मैं तो संसारदशा में भी ज्ञायक ही था। हमने किसी को कुछ सिखाया नहीं। मैंने कोई सुधार नहीं किया। मैं तो पहले भी ज्ञायक था और अब भी ज्ञायक ही हूँ।

मोह से अज्ञानी जीव ज्ञायक को अन्यथा मानते हैं; परन्तु वह अन्यथा होता नहीं।

अज्ञानी जीव मोह (अज्ञान) से ज्ञायकभाव को अन्यथा रूप मानते हैं। वे मानते हैं कि मैंने अपने बाहूबल से पैसा कमाया है, परन्तु यह तो भूलभरी मान्यता है। तू तो ज्ञायक है, पैसा क्रम रूप से प्रवर्तमान ज्ञेय है, वह अपने स्वयं के कारण से आता है और जाता है।

अज्ञानी जीव मानता है कि होशियार जीव हो तो बाह्य संयोगों में अन्तर पड़ता है; पर यह झूठी मान्यता है। मान्यता में फेर पड़ता है, वस्तु संयोगों में नहीं। अज्ञानी जीव मोह के कारण विपरीत मान्यता करता है। पुण्य से धर्म होता है, निमित्त से धर्म होता है, ऐसा मोह से मानता है। मोह की ऐसी मान्यता से स्वज्ञेय और परज्ञेय स्वतंत्र नहीं रहते। इसप्रकार जीव मोह से स्वज्ञेय को पराधीन भले माने; परन्तु ज्ञायक शुद्धात्मा के सिवाय पररूप कभी हुआ ही नहीं।

आचार्य देव कहते हैं कि शुद्धात्मा जैसा है वैसा ही मैं उसे प्राप्त करता हूँ। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान तथा अमृतचन्द्राचार्य छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी मुनिराज को छठवें-सातवें की भूमिका हजारों बार आती थी। अंतर में भावलिंगी मुनिपना एवं बाहर में नगदिगम्बर मुनिदशा, मात्र मोरपिच्छी और कमण्डल का परिग्रह, ऐसे महामुनिराज कहते हैं कि ऊपर जैसा शुद्धात्मा बताया है जो एक समय में सर्व-ज्ञेयों को प्रत्यक्ष करता हुआ भी एक रूपता नहीं छोड़ता है, जो अनादि से ज्ञायकभाव



रूप ही रहा है उसे जीव मोह से अन्यथा मानता है तो भी वह तो ज्ञायक ही है। अतीन्द्रिय जैसा है उसे मैं उसी रूप से प्राप्त करता हूँ।

आचार्यदेव के दर्शन मोह का नाश हो गया है; परन्तु अस्थिरता व चारित्रमोह का नाश करता हूँ हूँ ऐसा कहते हैं। मोह है इसलिए उसका नाश करते हैं हूँ ऐसा नहीं समझना; ऐसी कथन पद्धति है। स्वभाव में स्थिर होने पर मोह उत्पन्न ही नहीं होता। इस कथन से मोह का नाश कर दिया है हूँ ऐसा समझना चाहिए। स्वज्ञेय को परज्ञेय रूप नहीं करते। परपर्याय को स्वपर्याय नहीं करते, अति निष्क्रिय रहते हैं। जैसा शुद्धात्मा शान्तरूप से है वैसा आत्मा मैं प्राप्त करता हूँ अर्थात् पर्याय में अनुभवता हूँ।

**साक्षात् सिद्धभूत निजात्मा तथा सिद्ध भगवन्तों को भाव नमस्कार सदैव स्वयमेव हो।**

इसप्रकार सम्यग्ज्ञान का मूल दर्शन विशुद्धि है, दर्शन विशुद्धि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता है। इसप्रकार ज्ञान के साथ दर्शन विशुद्धि होने से सीधे ज्ञान-स्वभाव में अव्याबाध लीनता होती है। वर्तमान में मुनिदशा होने पर साक्षात् सिद्ध समान मेरे इस निजात्मा को तथा इसप्रकार सिद्धदशा को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों को भाव नमस्कार स्वसमय सदैव हो। स्वयं भाव्य रूप से जो वस्तु है उसमें एकाग्र होना हूँ यह भाव नमस्कार का लक्षण है। आचार्य भगवन्तों को भाव्य तो स्वयं का शुद्धात्मा है उसमें लीन होने से उन्हें भाव नमस्कार हो जाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि छठवें गुणस्थान में वर्तते मुनिराज स्वयं को सिद्ध सदृश कैसे देखते हैं?

**समाधान :** हूँ यहाँ सिद्धदशा के लिए उनका उग्र पुरुषार्थ दिखाते हैं। यदि बीच में एकाध भव स्वर्ग का आ जाये तो वे उसे केवलज्ञान या सिद्धदशा में विघ्न रूप मानकर गिनते नहीं हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि हमारी लीनता तो अव्याबाध है, वह तो विघ्न से पार है; अतः यहाँ उग्र पुरुषार्थ की अपेक्षा वर्तमान में सिद्धपने का आरोप किया है। यहाँ भाव नमस्कार सदैव हो ऐसा कहा है, सदैव शब्द मुनिपने की उग्रता बताता है।

सम्यग्दर्शन सहित चारित्र की अखंड परिणति है, इसलिए सदैव कहा। ये अद्भुत मुनिदशा है, जो स्वयं को साक्षात् सिद्धभूत गिनते हैं। उनका उग्र पुरुषार्थ है कि सिद्धपद तो मानों हाथ में है, यहाँ ऐसा बतलाया है। इसप्रकार आचार्य भगवान स्वयं के शुद्धात्मा और सिद्ध भगवन्तों को सदैव भाव नमस्कार करते हैं।

इसप्रकार स्वज्ञेय की परिपूर्ण शुद्धदशा का वर्णन किया। इसप्रकार स्वज्ञेय की परिपूर्ण शुद्धदशा को श्रद्धा-ज्ञान में लेना ही सम्यग्ज्ञान है।

अब श्लोक द्वारा जिनेन्द्रोक्त शब्दब्रह्म के सम्यक् अभ्यास का फल कहा जाता है।

( शालिनी छन्द )

**जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेत्,  
स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य ॥  
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या,  
नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ॥१०॥**

**अर्थ :** हूँ इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझानेवाले जैन ज्ञान में हूँ विशाल शब्द ब्रह्म में, सम्यक्तया अवगाहन करके (डुबकी लगाकर, गहराई में उतरकर, निमग्न होकर) हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक वृत्ति से (परिणति से) सदा युक्त रहते हैं।

**कलश १० पर प्रवचन**

इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझाने वाले सर्वज्ञ बिना और कोई नहीं है, वीतरागता प्रगट होने पर, सर्वज्ञता प्रगट हुई और दिव्यध्वनि में जो वस्तुतत्त्व का परिपूर्ण स्वरूप प्रगट हुआ, उसे शब्दब्रह्म कहते हैं। उस शब्दब्रह्म को समझाने के लिए कुन्दकुन्ददेव ने इस शास्त्र की रचना की है।

छहों द्रव्य स्वतंत्र हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण हैं। आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनंत गुणों का पिण्ड है। प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य की अवस्था बदलती है। वहाँ परद्रव्य के लक्ष से अशुद्धता उत्पन्न होती है;

किन्तु वह वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं है। शुद्धता के लक्ष से अशुद्धता टलती है।

कर्मादि परपदार्थ ज्ञेय हैं, उनकी भी अपनी स्वतंत्र योग्यता है। कोई भी स्वज्ञेय-परज्ञेय में कुछ भी नहीं कर सकता, इसप्रकार यह आत्मा प्रत्येक रजकण से और अन्य आत्मा से भिन्न ही है। ऐसी स्वतंत्रता की बात ज्ञेयाधिकार में की है। ऐसी सच्ची और सीधी बात जैन सर्वज्ञ के शास्त्र बिना अन्यत्र नहीं हो सकती।

भगवान की दिव्यध्वनि में जो स्वरूप आया उसकी गहराई में उतरकर अभ्यास करना चाहिये। हे जीवों ! आचार्य भगवान भी कहते हैं कि मुमुक्षु जीव स्वलक्ष से बराबर शास्त्र का अभ्यास करता है; किन्तु जिसप्रकार सिंहिनी का दूध सोने के पात्र में ही ठहरता है, उसीप्रकार द्रव्यानुयोग का ज्ञान पात्र वैराग्यवान जीव की भूमिका में ही ठहरता है। अनंतकाल से परलक्ष के कारण मैंने ८४ लाख योनियों में अवतार धारण किए, अब मुझे मेरा हित करना है हूँ ऐसे स्वलक्ष से सत्समागमपूर्वक शास्त्र का वाचन-मनन करके गहराई में उतरना चाहिये।

भगवान आत्मा परब्रह्म है और उसे बताने वाली वाणी शब्दब्रह्म है। जिसप्रकार तूने बहुत गंभीरता से व्रत, तप आदि किये, परलक्ष से शास्त्राभ्यास भी किया; किन्तु यहाँ सम्यक् शब्द का प्रयोग किया है। सम्यक् अर्थात् जैसा है वैसा यथार्थ अभ्यास करना। शास्त्र में डूबकी मारो? शास्त्र तो जड़ हैं, शास्त्र बोलते नहीं हैं, अतः सत्समागमपूर्वक सम्यक् अभ्यास करना चाहिए।

आचार्यदेव कहते हैं कि हमारे कहने का सार यह है कि परज्ञेय और विकार से दृष्टि हटाकर स्वज्ञेय में श्रद्धा-ज्ञान व लीनता करो। शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। स्वलक्ष पूर्वक शास्त्र के अभ्यास का फल वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान में रमणता है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि शब्दब्रह्म का सम्यक् अवगाहन करके

हम मात्र शुद्धात्मा में ही लीन रहते हैं। सम्यक्श्रद्धा, स्वसंवेदन ज्ञान और स्वरमणतारूप चारित्र से सदा युक्त रहकर हमने ही समस्त शास्त्रों का सार निकाला है। जो शास्त्र देह की क्रिया और पुण्य से धर्म कहते हैं वे शास्त्र नहीं हैं। धर्म तो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता से होता है और यही मुक्ति का कारण है। वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही ज्ञेयाधिकार के पठन का फल है। ऐसी अंतरदृष्टि करके पवित्रता धारण करें। कोई भी विकल्प मुझे शरणभूत नहीं है; स्व-ज्ञेय शुद्धात्मा ही एक शरणभूत है।

अब श्लोक द्वारा मुक्त आत्मा के ज्ञान की महिमा गाकर ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार की पूर्णाहूति की जा रही है।

( शालिनी छन्द )

ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं  
ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम्।  
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि  
स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः॥११॥

अर्थ :हूँ आत्मा ब्रह्म को (परमात्मत्व को, सिद्धत्व को) शीघ्र प्राप्त करके, असीम (अनन्त) विश्व को शीघ्रता से (एक समय में) ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ (अनेक प्रकार के ज्ञेयों को ज्ञान में जानता हुआ) और स्व-परप्रकाशक ज्ञान को आत्मारूप करता हुआ, प्रगट-दैदीप्यमान होता है।

कलश ११ पर प्रवचन

जो आत्मा का सच्चा ज्ञान करता है, वह केवलज्ञानदशा को प्राप्त करता है। आत्मा पर की क्रिया, पुण्य-पाप की क्रिया से रहित है हूँ ऐसी श्रद्धापूर्वक चारित्रदशा होती है और चारित्र पूर्ण होते ही केवलज्ञानदशा प्राप्त होती है।

तूने नरक-निगोद, कौआ, कबूतर, देव इत्यादि के अनंत भव धारण किए; किन्तु “मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ” ऐसी श्रद्धा नहीं की। शरीर की क्रिया और निमित्त से लाभ होता है ऐसा मानें तथा रोटी आदि नहीं खाने से

उपवास हो गया और मुझे धर्म हुआ माने तो वह अज्ञानी है।

राग रहित सहजानन्द स्वरूप में डूबकी लगाकर रोटी खाने की इच्छा ही उत्पन्न न हो, सो सच्चा उपवास है। जितना समय संसार भ्रमण में बीता है उतना समय मुक्ति प्राप्ति में नहीं लगेगा।

जो जीव स्वयं से ऐसी श्रद्धा करता है कि मैं आनन्द स्वरूप हूँ और अपने में परिपूर्णतः लीन होता है, वह परमात्मपने को शीघ्र प्राप्त करता है। तथा वही एक समय में समस्त जीवों का ज्ञान कर लेता है। लोकालोक को जान लेता है। अनेक प्रकार के ज्ञेयों को अपने ज्ञान में जान लेता है। वह प्रगट सम्पूर्ण ज्ञान स्वयं में ही एकाग्र होता है। अनंत दर्शन-ज्ञान-आनन्द-सुखवीर्य प्रगट करके आत्मा दैदीप्यमान होता है।

पर का ध्यान अनंतबार किया हूँ इसकारण संसार चलता रहा।

अज्ञानी जीव बाहर के समस्त पदार्थों का ध्यान रखता है। कुत्ता रोटी न खा जाये इसका ध्यान रखता है। बहीखाते में नाम लिखा जाये उसका ध्यान रखता है। पैसों का ध्यान रखता है। बोलने का ध्यान रखता है। नौकर का ध्यान रखता है। गाड़ी से जा रहा हो तो समय पर पहुँचने का ध्यान रखता है। कुटुंब-कबीले का ध्यान रखता है। इसप्रकार अनादि से अज्ञानी जीव परद्रव्य का ही ध्यान रख रहा है और उसमें ही एकत्व बुद्धि करता है, जिससे उसका संसार निरन्तर चालू है।

एक बार आत्मा का ध्यान कर! तो सम्यक्दशा प्रगट होकर केवलदशा पावे। यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि तूने सबका ध्यान रखा; किन्तु तेरा आत्मा कौन है? इसतरफ कभी ध्यान नहीं दिया? इसलिये अब तेरे शुद्धस्वरूप का ध्यान कर ! शरीर-मन-वाणी पर हैं, उनकी क्रिया तुझसे होती है हूँ ऐसी मिथ्या मान्यता मत रख, इससे तुझमें विकार की ही उत्पत्ति होगी। अंतर में ज्ञाता-दृष्टा भगवान विराजमान है, उसका ध्यान कर ! ज्ञाता-दृष्टापने से कभी चूकना नहीं। अरहन्त को जाने और समझे तो तू अरहन्त होयेगा, ऐसा ध्यान कर। समय-समय हो रहे परिणमन का

ध्यान कर! ऐसी सच्ची श्रद्धा होते ही सम्यग्दर्शनरूपी ध्यान प्रगट होकर शुक्ल ध्यान प्रगट होगा, केवलज्ञान प्रगट होगा। इसी से जीव प्रगट दैदीप्यमान होता है।

अब आगामी श्लोक द्वारा द्रव्य और चरण का संबंध बतलाकर ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन नामक द्वितीय अधिकार की और चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तृतीय अधिकार की संधि दर्शाते हैं हूँ

( वसन्ततिलका छन्द )

**द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि**

**द्रव्यं मितो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।**

**तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं**

**द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥१२॥**

अर्थ :हूँ चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है हूँ इसप्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षा सहित हैं; इसलिये या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

**कलश १२ पर प्रवचन**

चरण द्रव्यानुसार होता है। आत्मा स्ववस्तुज्ञायक ज्योति है। उसकी दृष्टि करके स्थिरता करना चरण अर्थात् चारित्र है, वह द्रव्यानुसार होता है। आत्मा के सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान करके अंतर आत्मा के आश्रय से रमणता (चारित्र) प्रगट होती है। आत्मा के भान बिना चारित्र नहीं हो सकता। निश्चय का भान होवे तो पाँच महाव्रत के विकल्प द्रव्य चारित्र नाम पाते हैं। मुनिपनेरूप चारित्र तो अंतर स्थिरता ही है। यदि वह पात्रता नहीं हो सके तो उसकी भावना कर; किन्तु मिथ्या मुनिपना धारण मत कर। अतः गृहस्थाश्रम में सच्ची श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिये; परन्तु द्रव्य के भान बिना क्रिया-कांडादि करें; सो चारित्र नहीं है। उसे तो संसार में रखड़ना बाकी है। एक साधारण से नौकर को काम पर रखना हो तो उसके

बारे में कितना जानते हैं? उसकी सारी जानकारी करके नौकरी पर रखते हैं; लेकिन यहाँ धर्म में द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर नहीं है, वस्तुस्वरूप की भी खबर नहीं है।

भाई! चरण द्रव्य के अनुसार होता है। द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान करके यथा शक्ति स्थिरता होते ही राग सहज ही निकल जाता है और द्रव्य के ज्ञान बिना राग यथार्थ रीति से मंद भी नहीं होता है।

आत्मा का ज्ञान चरण अनुसार होता है। जो जीव माँस भक्षण करता हो, शराब पीता हो, लंपट हो, काले-धंधे करता हो, हजारों लोगों के हानि का भाव रखता हो, अनीति करता हो, निंद्य कार्य करता हो उसे तो कभी भी आत्मा का भान नहीं हो सकता, वह मुमुक्षुपने के लायक ही नहीं है; परन्तु मैं अपना हित कर सकता हूँ हूँ ऐसे वैराग्य वाले जीव को जितने प्रमाण में राग घटा है, उतने प्रमाण में अन्तर स्वरूप स्थिरता हुई है।

जो जीव यथार्थ भानपूर्वक राग को कम करता है, उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानने का परिणाम नहीं रहता है। इसप्रकार उक्त दोनों भाव एक दूसरे की अपेक्षा सहित हैं। इसलिये आत्मा का सच्चा ज्ञान करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो अथवा आत्मा के भान सहित राग को कम करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो। जो जीव सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करता है वह राग को घटाकर धीरे-धीरे शुद्धता की ओर बढ़ेगा और पूर्ण वीतरागी दशा प्रगट करेगा। इसलिये हे मुमुक्षुओं ! मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

इसप्रकार श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य देव विरचित तत्त्वप्रदीपिका नाम की टीका में ज्ञेय तत्त्व प्रज्ञापन नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

